

॥ वेद ॥

वेद से बढ़कर दुनिया भर में कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक ^{अलिमिने} ग्रन्थ नहीं है, मनुष्यों के हितार्थ इस से बढ़कर किसी भी भाषा वा धर्म-सम्प्रदाय में ग्रन्थ नहीं। इस विषय में एक सुप्रसिद्ध विदेशी विधर्मी जर्मन विद्वान् * भद्र भैक्षमूलर साहय यों लिखते हैं कि वैदिक संहिता का भाव, भाषा, तात्पर्य रचना प्रणाली और व्याकरण चटित वैलक्षण्य की विवेचना कर देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा में—संसार के विभिन्न जाति और देश की किसी भाषा में वैदिक संहिता की बराबर कोई पुस्तक नहीं यह अति पुरातन संस्कृत साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' संहिता है। यही मनुष्य जाति के हितार्थ प्रथम पुस्तक, मानवीय सभ्यता का एक मात्र प्रथम निदर्शन मनुष्य जाति का प्राचीनतम इतिहास और धर्म विश्वास का प्रथम पथ प्रदर्शक है—अत एव यह मनुष्य मात्र ही को आदरणीय है। मनुष्य जाति करे जिस समय का इतिहास कहीं नहीं पाया जाता, जिस समय की चिन्ता, धर्म, विश्वास, सभ्यता, उपासना, पट्टति, देवोत्पापन, सामाजिक रीति नीति, प्राणा भरोसा और हृदय का भाव काल के अनन्त खोत के गर्भ में घिलीन हुए हैं, जिस समय के इतिहास के उद्धार के लिये अन्य-उपाय विद्यमान नहीं, उसी स्मरणातीत समय का इतिहास सुप्रणाली-बहु रूप ऋक् संहिता में सीने के अक्षरो में लिपिवद्ध हैं। इसी निमित्त सभ्य जगत ने सर्वत्र पवित्रत सपडली में ऋग्वेद संहिता का इतना सम्मान और आदर है।

* The Veda has a two fold interest it belongs to the history of the world, and to the history of India. In the history of the world, the Veda fills a gap which no literary work in any other language could fill. It carries us back to times of which we have no records any where, and gives us the very words of a generation of men, of whom otherwise we could form but the vaguest estimate by means of conjectures and inferences. As long as man continues to take an interest in the history of his race, and as long as we collect in libraries and museums the relics of former ages, the first place in that long row of books which contains the records of the Aryan branch of mankind, belong for ever to the Rig Veda, the most ancient of books in the library of mankind, which is more ancient than the Zendavesta and Homer (919 859 B C)

Prof Max muller's History of Ancient Sanskrit Literature P 63

वेद के अङ्ग ।

हमारे जिन वेद की प्रशंसा उक्त जर्मनदेश आदि के पण्डितगण निष्पत्त होकर करते, आज हम उस आलौकिक वेदज्ञान से शून्य हो रहे हैं। इस वेद के अति गम्भीर अर्थ को समझने के लिये 'शिक्षा' आदि (वेदाङ्ग) वेद के छः अङ्ग प्रवृत्त हुये हैं। इस शिक्षा प्रभृति को अर्धवेदीय भागद्विकोपनिषद् में अपरा विद्या' कहा है जैसे "ब्रह्मवादीगण कहते हैं कि विद्या दो प्रकार की है एक परा, दूसरी अपरा। इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, ये सब अपरा विद्या हैं। श्रीर जिस के द्वारा अन्तर ब्रह्म का ज्ञान हो उसी का नाम 'परा विद्या' है।

धर्मज्ञान ब्रह्मज्ञान का साधन है। साधन स्वरूप धर्मज्ञान का कारण कहकर षडङ्ग सहित कर्मकाण्ड (वेद का कर्मबोधक भाग) अपरा विद्या है। जो कि ब्रह्मज्ञान परमपुरुषार्थ है इसीकारण उपनिषद् को 'पराविद्या' कहते।

वर्ण, स्वर, प्रभृति उच्चारण प्रकार जिस में कहे गये हैं, वही शास्त्र "शिक्षा" है। तैत्तिरीय शाखाध्यायीगण उपनिषद् के आरम्भ ही में कहते हैं कि "शिक्षा का व्याख्यान करेंगे"। वर्ण-अकारादि। शिक्षा ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। शिक्षा ज्ञान विना-वेद मन्त्रों का उच्चारण, हम लोग ठीक २ नहीं कर सकते। अथ कल्प नामक दूसरे अङ्ग का वर्णन करेंगे।

कल्पसूत्र ।

आपस्तम्ब, वौधायन, आश्वलायन आदि सूत्रों का नाम "कल्पसूत्र" है। याग प्रयोग-इसी "कल्प" ग्रन्थ में कल्पित अर्थात् समर्पित हुए हैं इसी लिये इस का नाम "कल्प" है। इस पर यह शङ्का हो सकती है कि आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्र संहितानुसार कल्प सूत्र रचे, हैं या ब्राह्मण भागानुसार? यदि कहो कि मन्त्र संहितानुसार, तो यह उत्तर असङ्गत है; क्योंकि उन ने सब से पहिले "दर्शपूर्णमास याग" की व्याख्या आरम्भ कियी है। यदि मन्त्रकाण्ड अनुसार प्रवृत्ति होती, तो ऋग्वेद के सब से प्रथम मन्त्र "अग्नि मीले" इत्यादि जिस यज्ञ में, पहिले आवश्यकीय होता है, उसी यज्ञ की प्रथम व्याख्या करते। ऋग्वेद का "अग्नि मीले" इत्यादि मन्त्र दर्शपूर्णमास इष्टि में कही नहीं प्रयुक्त होता। यदि यह कहो कि ब्राह्मण भागानुसार कल्पसूत्र रचे गये हैं, तो यह भी कहना अनुचित है। "दीक्षणीया इष्टि में अग्नि विष्णु देवताक (अग्नि विष्णु देवता के उद्देश से जो दान किया जायेगा) एकादश कपाल, (११ मही के पात्रों में जिस का संस्कार किया है।

पुरोडाश (यज्ञपिटक) निर्व्याप करे (अर्थात् उस पुरोडाश द्वारा यज्ञ करे) इस प्रकार ब्राह्मण भाग में सब से पहिले दीक्षणीयेष्टि का वर्णन है । (यदि ब्राह्मण भागानुसार आश्वलायन कल्पसूत्र होता, तो दीक्षणीया इष्टि पहिले लिखना उचित था) यहां इन सब युक्तियों के उत्तर में यह कहा जाता है कि ब्रह्म यज्ञादि (अध्ययन वा अध्यापन) जप (मन्त्र जप) के अनुसार मन्त्रकाण्ड प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान प्रणाली से नहीं । (जो याग पहिले करना पड़ता, उन के मन्त्र पहिले लिपिवद्ध हैं, ऐसा नहीं । जो उ । से पहिले शिष्य को पढ़ाना पड़ता अर्थात् पढ़ने की प्रथा है एवं कितने मन्त्रों का जप करने से यादिक लोग शिस प्रणाली का अवलम्बन करते, तदनुसार मन्त्रों का आगे पीछे पाठ करना होता है) ब्रह्मयज्ञ का भी विधान देखा जाता है जैसे—एक भी ऋक्, साम, या यजुर्वेद का, जो पाठ करना पड़ता वही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ या वेदाध्ययन में (ऋक्संहिता पढ़ने से) सत्रसेपहिले अग्नि गीले” इत्यादि पढ़ने का नियम है। वाचसरोम में सब ऋक्, सब यजु; और सब, साम. उच्चारण करे, ऐसा विधि है । [यहां सम्प्रदाय सिद्ध अर्थात् गुरु परम्परा चलित क्रम अनुसार पाठ करना पड़ता] “आश्विन ग्रह” पर्यन्त जाने पर भी यदि सूर्योदय न हो, सब दाशतरी मन्त्र पाठ करे, ऐसा विधान है । और प्रतिग्रहकारी प्रभृति उपवासी को तीनवार वेदाध्ययन (प्रायश्चित्त) करनेका विधान दिखलाते हैं । [यहां भी सम्प्रदाय सिद्ध क्रम आदरणीय है] इन मध्य मन्त्रकाण्डों का विनियोग अर्थात् जहां जिन कई मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उस स्थान (यज्ञादि) में अध्यापक [वेदपाठक] सम्प्रदाय प्रचलित क्रम—[पूर्वापरभाव] को सादर ग्रहण करना पड़ता । जिसीएकमन्त्र को किसी एक कार्य में विनियुक्त करने में (गीमांसादर्शन प्रतिपादित) श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, प्रभृति प्रमाणानुसार आश्वलायनादि आचार्यों ने मन्त्रों का विनियोग किया है । (श्रुति, लिङ्ग, प्रभृति का विशेष विवरण गीमांसादर्शन में देखे) यदि ऐसा हुआ तो मन्त्रकाण्ड का क्रम न हीने पर भी कोई विरोध नहीं । “इषेत्वा” इत्यादि मन्त्र सब जिस प्रकार अवगम्यन कर यागादि कर्म करना होता, उसी क्रमानुयायी भाव से विधि बद्ध किया गया है । आश्वलायन, गोभिल आदि ने इसी नियमानुसार कल्पसूत्र निर्माण किया है । उसी नियम से ‘आम्नात हुआ है अतएव जपादि में वही नियम प्राच्य है ।

यद्यपि ब्राह्मणभाग में दीक्षणीया इष्टि सद्य से पहिले कही गयी है, तथापि दीक्षणीया इष्टि सद्य से पहिले दर्शपूर्णमास इष्टि की विकृति है इसी कारण दर्शपूर्णमास की अपेक्षा करती है। (दर्श पूर्णमास को पहिले न कहने ने दीक्षणीया इष्टि का कहना पूरा नहीं होता, क्योंकि दर्श पूर्णमास इष्टि की प्रक्रिया दीक्षणीया इष्टि में अतिदिष्टा हुयी है।) पस, आश्वलायनादि को पहिले दर्शपूर्णमास याग की व्याख्या करना उचित हुआ। इन से यह ज्ञात हुआ कि कल्पसूत्र मन्त्र विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान का उपदेश देकर उपकार करता है। यदि इस पर कोई ऐसी आपत्ति दे कि "प्रवोराज" इत्यादि मामधेनी ऋक् (एक जातीय ऋक्) मन्त्रों का विनियोग आश्वलायन कर सकते हैं क्योंकि उन को वे आम्नात (पठित) हैं। किन्तु "नम प्रवक्त्र" इत्यादि ऋचाओं का विनियोग क्योंकर करेंगे? क्योंकि उनने उन मन्त्रों को पढ़ा ही नहीं। जिस प्रकार जो मन्त्र आम्नात हुए तदनुगार ही विनियोग करना उचित है जो आम्नात हुए नहीं, उनका विनियोग कैसे होगा? आश्वलायन ने निज वेद शाखा में उसे न पाकर भी विनियोग क्योंकि या? इस का उत्तर यह कहा जा सकता है कि इस में कोई दोष नहीं, क्योंकि शाखान्तर में जो मन्त्र आम्नात हुए हैं, उन सद्य का भी ब्राह्मणान्तर में विनियोग सिद्ध है, यहां भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस कारण जिस शाखा में जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट क्यों नहो, कर्मके निर्वाह के लिये वे सद्य ही मन्त्र एकत्र किये जा सकते। (एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुण अपेक्षा करता, इन लिये शाखान्तर गत मन्त्र अन्यत्र विनियुक्त हो सकते हैं।) भीमांसा शास्त्र से जो अवगत, हैं उन का कथन है कि सद्य ही शाखाओं में यह कर्म प्रतिपादित हुआ है। इसी लिये वेद ज्ञान के लिये जिस प्रकार "शिक्षा" पढ़ना अत्यावश्यक है, उमीप्रकार कल्पशास्त्र भी वेदार्थ विचार में परमावश्यक है। कल्प सूत्र में मन्त्र विनियोग द्वारा यागों के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। इस शास्त्र को न जानने से यागादि विषय में जो सद्य सन्देह होता उन का निरास करना नहीं बन सकता। इसी प्रकार व्याकरण आदि ऋषिओं के भी भिन्न प्रयोजन है जिनके ज्ञान बिना वेद ज्ञान होना असम्भव है।

यह "कल्पसूत्र" दो भागों में विभक्त है, एक "श्रौतसूत्र" दूसरा "गृह्यसूत्र" जिसने साक्षात् श्रुति विहित अग्निष्टोम आदि अनुष्ठित होते, उस अग्नि को श्रौताग्नि कहते एवं उस अग्नि के सम्बन्ध में जो सब अनुष्ठेय कार्य है, उन सबको, और ये कार्य सब प्रणालिवद्दु जिस ग्रन्थ में उपदिष्ट

हुए हैं उसे भी "श्रौत" कहते हैं। इसी प्रकार जिस अग्नि को अघलम्बन कर विवाहादि गृह्य कार्यों का अनुष्ठान किया जावे, उस अग्नि को, उन सब सम्पूर्ण कार्यों को, एवं उन सब कार्यों के प्रणाली विधायक ग्रन्थ को "गृह्य" कहते हैं। यद्यपि "श्रौतसूत्र" प्रत्येक वेद के एक से अधिक हैं किन्तु अमुक शाखा का अमुक श्रौतसूत्र ग्राह्य है ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, अतएव सायनाचार्य्य कहते हैं कि "सर्वशाखा प्रत्येकमेकं कर्म" * ।

अथात्-सकल शाखायोपि कथ्यानुष्ठान एक ही है। मीमांसा-चार्य-जैमिनि ने भी ऐसी ही व्यवस्था कियी है (मीमांसा अ० ९ पा० २) और अधिकरण मालादि में भी यह बात कही गयी है। परन्तु गृह्यसूत्र आदि शाखा भेद से विभिन्न है, सुतरां जिस वेद की जितनी शाखा हैं, उस वेद के गृह्यसूत्र भी उतने ही मानने पड़ते। सामवेदीय श्रौतसूत्र प्रणेता लाट्यायन एवं तदीय कौथुमी शाखा के गृह्य-ग्रन्थ प्रणेता आचार्य का नाम गोभिल है। इन्हीं गोभिल प्रणीत सूत्र आदि की व्यवस्थानुसार उक्त शाखा ध्यायी ब्राह्मणों के विवाहादि सब कार्यों हुआ करते। एवं इसी सूत्र की प्रमाणता से महामहोपाध्याय भवदेव भट्ट ने विवाह आदि पट्टति का प्रचार वङ्गदेश में किया है। अन्यान्य देशों में भी और २ पट्टतियां हैं। इन्हीं गोभिलाचार्य्य के गृह्यसूत्र, संध्यामूत्र, स्नानसूत्र, और श्राद्धसूत्र, ये चार ग्रन्थ हैं। यदि ग्राहकों की रुचि हुयी, तो इन ग्रन्थों की भी हम सानुवाद प्रकाशित करेंगे ॥

यद्यपि इस गो० गृ० सू० पर नारायणोपाध्याय कृत वृत्ति पायी जाती है परन्तु इस में लेखक की अनवधानता मे इतनी अशुद्धियां हैं, जिन को सम्भार कर छपवाना एवं नूतन टीका करनी, दोनों में समान परिश्रम है। इस लिये इस से उच्येता कियी गयी। इस गृ० सू० पर दूसरी संस्कृत टीका पं० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार जी की है। यह टीका अन्यान्य शाखानुयायी गृ० सू० के मत के साथ एकता सम्पादन पूर्वक रची गयी है जिस कारण यह टीका अति वृहत् हुयी है। हमारी समझ में जिस शाखा के जो गृह्यसूत्र हों उस २ की टीका तद् २ शाखा के अनुकूल ही होनी चाहिये क्योंकि, अपनी २ शाखानुसार ही अपने २ गृह्यसूत्रादि में स्व २ शाखानुसार कर्तव्य लिखे गये हैं।

ऐसी संस्कृत टीका-इस गृह्यसूत्र पर पं० सत्यव्रत सामश्री जी ने कियी है, हमने इसी संस्कृत टीका के अनुयायी भाषानुवाद किया है।

इस गोभिलगृह्यसूत्र में ४ प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक में दश २ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एकाधिक सूत्र हैं। यों इस में ४ प्रपाठक, ३९ खण्ड एवं १००९ सूत्र हैं। और इस में सात मुख्य २ प्रकरण हैं। १ सर्वकर्मसाधारण विधि, २ ब्रह्मयज्ञ, ३ दर्शपौर्णमास, ४ विवाहादि संस्कार, ५ गृह्यिकर्तव्य ईकाम्यकर्म और ७ अर्हणीय प्रकरण हैं।

वेदों की शाखा।

चरणव्यूह नामक-महर्षि शौनक प्रणीत यजुर्वेदीय परिशिष्ट ग्रन्थ में अनेक प्रकार की वैदिक शाखाओं का उल्लेख देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'चरणव्यूह' ग्रन्थ बनने से बहुत काल पूर्व ही से विभिन्न वेदों की नाना प्रकार की शाखायें विद्यमान थीं। 'चरणव्यूह' बनने के पूर्व जो सद्य वैदिक 'चरण' और 'शाखा' विलुप्त, या शाखान्तर के साथ मिल गयी थीं, उन सद्य की नामावली उस में नहीं पायी जाती, वरण उस की रचना समय में जो २ शाखायें विद्यमान थीं, उन की नामावली निःसंशय उस में सम्मिलित है। ऋग्वेदीय शाकल, वास्कल, शांरुपायन, माण्डुकायन, एवं आप्रवलायन,—इन पांच, शाखाओं का नाममात्र उल्लेख है। परन्तु ऋग्वेद के ऐतरेयी, कौपितकी पैङ्गी, शैशिरीय, प्रभृति प्राचीन शाखाओं का कोई भी उल्लेख नहीं है। ऋग्वेदीय प्रातिशारुय में भी शाकल, शांरुपायन, आप्रवलायन, माण्डुकायन, और वास्कल शाखा प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख है। जैसे—

“ऋचां समूह ऋग्वेदस्त मभ्यस्य प्रयत्नतः।

पठितः शाकलोनादी, चतुर्भिस्तदनन्तरम्।

शांरुपाश्रवजायनी चैव, माण्डुकी वास्कलस्तथा।

ब्रह्मचां ऋपयः सर्वे, पञ्चैते एक वेदिनः” ॥—(शौनकीय प्रातिशारुये)

एक वेदीय विभिन्न शाखा में कोई शिष्य पाठ्य था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु किसी स्थान में किसी शब्द वा मन्त्र का ध्यतिक्रम, और परिवर्तन, किसी स्थान में दो चार मन्त्र नूतन संयोजन, किसी स्थान में मन्त्रों का परस्पर स्थान विपर्यय, किसी स्थान में मन्त्रों का उच्चारण घटित प्रभेद भिन्न २ शाखाओं में दीख पड़ते हैं। वेदाध्यापक प्रति आचार्यों के शिष्य परम्परा से, एक ही 'संहिता' (वेद) का शाखा भेद घटित यत्सामान्य अकिञ्चित् कर परिवर्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं दीखता, तात्पर्यतः सद्य शाखाओं की संहिता—एक सी हैं।

सामवेद की शाखा ॥

सामवेदीय शाखा प्रयत्नक आचाचार्यों की नामायली विष्णु पुराण में (अ० ३ । अंग ६) इस प्रकार दी है कि जैमिनि, सुमन्तु और सुकर्मा, उत्तरोत्तर सामवेदसंहिता अध्ययन और अध्यापन करते थे । जैमिनि के पीत्र सुकर्मा का हिरण्य नाम और पीप्पिलि नामक दो शिष्य थे, उन में से कौशल देश घासी हिरण्यनाम के १५ शिष्य प्राच्यसामग नाम से प्रसिद्ध थे । उन में से कृति नामक ऋषि के २४ शिष्य द्वारा सामवेद की बहुत सी शाखाएँ हुईं । सुकर्मा का अन्यतर शिष्य पीप्पिलि के लोकाक्षि, कुधुमि, कुषीदि और लाङ्गलि नाम से ४ प्रधान शिष्य थे * विष्णु पुराण के मत से सामवेद के १००० शाखाएँ थीं । निरुक्त के भाष्य कार दुर्गाचार्य के मत से भी सामवेद सहस्र शाखाओं में विभक्त था ।

इस प्रकार चरण द्यूह आदि के लिखानुसार ४ वेदों की ११३१ या ११३७ शाखाएँ हैं । और चरण द्यूह में राणायनीय, शाठ्य, सुय्य, कालाय, महाकालाय, शाद्दूल, लाङ्गुलायन और कौयुम; सामवेद की इन सात प्रधान शाखाओं का उल्लेख है । आसुरायन, वातायन, प्राङ्गलि, द्वैतभूत, प्राचीनयोप्य, और नैनेय, ये पांच कौयुम शाखा के अन्तर्भुक्त उपशाखा मात्र हैं । कौयुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा कर्णाट में और राणायनीय शाखा, महाराष्ट्र देश में प्रचलित हैं । बङ्ग देश में कौयुम शाखा की छोड़ सामवेद की अन्य शाखा के ब्राह्मण नहीं मिलते ।

“सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनिः ।

क्रमेण येन मैत्रेय विभेदं शृणु तन्मम ॥ १ ॥

सुमन्तुस्तस्य पुत्रोऽभूत्, सुकर्मास्याप्यभूत्सुतः ॥

अधीतवन्ता वैफेकां, संहितां तौ महामुनी ॥ २ ॥

सहस्रं संहिताभेदं, सुकर्मा तत्सुतस्ततः ।

षकार त च तच्छिष्यो, जगद्वाते महामती ॥ ३ ॥

हिरण्यनाभः कौशल्यः, पौष्यञ्जिश्च द्विजोत्तम ।

उदीच्य सामगाः शिष्यास्तेभ्यः पञ्चदशस्रताः ॥ ४ ॥

लोकाक्षिः कुधुमिश्चैव कुसीदीलाङ्गलिस्तथा ।

* पहिले पत्रभक्ति के कथनानुसार यजुर्वेद की १०१ शाखा, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की ६ शाखा हैं । * * एक शतमन्वर्थु शाखा सहस्र वर्तमान सामवेद । एकविरातिर्बहुवृच नवपाञ्चदशयोर्वेद, । महाभाष्ये ० ॥

पौष्पञ्जिशिष्यास्तद्भेदैः संहिता बहुली कृताः ॥ ५ ॥

हिरण्यनाभःशिष्यश्च, चतुर्विंशति संहिताः ।

प्रोवाच कृति नामासी शिष्येभ्यः सु महामतिः ॥ ६ ॥

तैद्यापि सामवेदोऽसौ शाखाभि बंधुली कृतः ॥ ७ ॥ - ॥^१ विष्णुपुराण ३।६।

क्या व्यासजी से वेदों की शाखायें प्रवृत्त हुईं?

बहुत से लोग कहते हैं कि भगवान् कृष्ण द्वैपायन (महर्षिं व्यास) वेदों के विभागकर्ता, मन्त्र द्रष्टा और शाखा प्रवर्तक थे। पुराणों में भी इसी प्रकार (विष्णुपुराण तथा भागवत पु०) लिखा है परन्तु यह बात ठीक नहीं है। महर्षिं व्यास वेद के अद्वितीय वेत्ता थे, इन्होंने ने इधर उधर से विकीर्ण वेद मन्त्रों का और भी उत्तम रीति से एकत्र कर, जिस वेद के जो मन्त्र थे उन्हें, यथा स्थान रक्ख भिन्न २ संहितानुसार अनेक शिष्यों को उपदेश दिया और उन के पूर्व की जो शाखायें थीं, जो काल वशतः लुप्त हो गयीं थीं, उन्हें भी जहां तहां से लेकर बड़े उद्योग से प्रकाशित किया और अपने चार शिष्यों को, पढ़ाया इन के समय में वेद की धरम उन्नति थी और ये ही, उस समय वेद के अद्वितीय उन्नायक थे, अपने बुद्धि तप, और अध्यवसाय से यथा साध्य इनने वेद की सब शाखाओं का पता लगा कर ठीक किया। इस बात को लेकर "वेद, व्यास" जी से वेद प्रवृत्त हुए कहलाया। "शाखाप्रणयनं चैव द्वापरे स्वमभूदिदम्" अर्थात् शाखाओं की रचना द्वापर में हो चुकी, यह लिखा है है, इसका अभिप्राय यह है कि द्वापर पर्यन्त वेदों की शाखा बढ़ती रही। क्योंकि द्वापर के पहिले त्रेता युग में भी शाखायें थीं, जैसा कि वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या काण्ड में लिखा है कि "आचार्यां स्तैत्तिरीयाणाम्" पुनः "एतेकठाः कलापाश्च" किन्तु पुराणों में इस के विरुद्ध कठ, कलाप आदि शाखा व्यास ही के शिष्योंमें प्रवृत्त हुईं लिखा है। इस का तात्पर्य पहिलेही लिखा गया।

सामवेद के आचार्यगण ।

सामवेद के सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्यों की नामावली * इस प्रकार लिखी है—ब्रह्मा ने बृहस्पति को उपदेश किया, उन ने नारद को, पुनः उन से विश्वक्सेन, उन ने पराशर के पुत्र व्यास को, व्यास ने जैमिनि को, उन ने

* अथास्य सामविधानस्य सम्प्रदायप्रवर्तकानाचार्यान्नुक्रमेण सकीर्तयति । सोऽयं प्राजापत्यो विधिः । तमिम प्रजापतिर्बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिर्नारदाय । नारदो विश्वक्सेनाय । विश्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय । व्यासः पाराशर्यो जैमिनये । जैमिनिः पौष्पिण्ड्याय, पौष्पिण्ड्यः पारारार्यायणाय । पारारार्यायणो वादरायणाय । वादरायणस्तार्किकः शास्त्रानिभ्यां । तार्किक—शास्त्रावनिनौ बहुभ्यः ॥ सामवेदीय सामविधान ऋक्षणे ।

पौरुषिपद को, उनने पराशर्यायण को उनने घादरायण को उनने तारिह और शाटघानको, इन दोनोंने बहुत ग्रन्थों को पढ़ाया "सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या * प्रसिद्ध भाष्यकार पं० कुमारिल भट्ट अपने तन्त्र वार्तिक नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लिखते हैं:-१ ताराहय (प्रीड, महा या पञ्चविंश), २ पङ्विंश ३ उपनिषद् (छान्दोग) ४ संहितोपनिषद् (जैमिनीय या तलयकार), ५ सामविधान, ६ देवताध्याय, ७ आप्य और ८ वंश ब्रह्मण । इन में से पङ्विंश ब्राह्मण जो ताराहय ब्राह्मण का परिशिष्ट मात्र है-इस के छठे का नाम अद्भुत ब्राह्मण है, दशाध्यायी छान्दोग के शेष ८ अध्याय छान्दोग उपनिषद् है, तलयकार ब्राह्मण का शेष अध्याय केन या तलयकार उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वोक्त ८ ब्राह्मणों में से शेषोक्त ४ ब्राह्मण साम-वेदीय-अनुक्रमणी भिन्न कुछ नहीं है ।

उपलब्ध सामवेदीय ग्रन्थों की सूची ।

१-सामवेदमन्त्रसंहिता । २-सामसूची । ३-आरण्यसंहिता । ४-ला-
टघायनश्रीतमूत्र । ५-अष्टविकृति । ६-विकृतिवल्ली । ७-अक्षर-तन्त्र । ८-सा-
मप्रातिशाख्य । ९-सामगायनरुद्री । १०-ताराहयमहाब्राह्मणं । ११-आरण्य
ब्राह्मण । १२-सामविधानब्राह्मण । १३-देवतब्राह्मण । १४-देवताध्याय
ब्राह्मण । १५-मन्त्रब्राह्मण । १६-वंशब्राह्मण । १७-पङ्विंशब्राह्मण ।
१८-गृह्यसंग्रह । १९-गोभिलगृह्यसूत्र । २०-यज्ञपरिभाषा । २१-निदानसूत्र ।
२२-उपग्रन्थसूत्र । २३-सामप्रकाश । २४-शान्तिपाठ । २५-स्वराडकुश । २६-ना-
रदीय शिक्षा । २७-सामपद संहिता । २८-सन्ध्यासूत्र । २९-स्नानसूत्र । *३०-श्राद्धसूत्र

यजमान और पुरोहित, या ऋत्विग्गण ।

यजमान उसे कहते हैं जो स्वयं अपने घर पञ्चानुष्ठान करते और ऋत्विक् उस को कहते हैं जो निर्दिष्ट समय में अपने या दूसरे के मङ्गल कार्य के निमित्त यज्ञ कार्य सम्पादन करे, 'पुरोहित' वा 'पुरोध' भी इसी का नामान्तर है । काल क्रम से यज्ञीय आडम्बर की वृद्धि के साथ २ ऋत्विक् लोगोंकी क्षमता और संख्या भी घटकर, सनातन आर्यसमाज वा वैदिक समाज में शीर्ष स्थानीय स्वतन्त्र एक श्रेणी में परिणत हुयी । पहिले सनातन

* ब्राह्मणानि द्वि यान्यथै सरहत्यान्यमीयते । छन्द्रागास्तु सर्वेषु न जरिन्नत्रियत् स्व ॥३॥

(कुमारिल भट्टप्रणीततन्त्रवार्तिके १ । ३)

* यद्यपि सामवेद की १००० शारदाओं के भिन्न २ अनेक ग्रंथ हैं परन्तु अत्रायपि यैही ग्रंथ मिले है ॥

आर्यमन्त्र में यज्ञमान स्वयं ही काष्ठ चिसकर अग्नि उत्पन्न कर प्रज्वलित अग्नि में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये पवित्र आन्वाहुति प्रदान करते । ऋत्विक् नियोग व्ययसाध्य व्यापार होने से केवल, धनी लोग ही पुरोहित द्वारा यज्ञ कराते। अर्थात् धनी लोगोंही में ऋत्विक् गया आद्यद्वये * । पीछेकाल क्रमसे उस के सम्पादन का भार मन्त्रज्ञ ऋत्विक् (पुरोहित) लोगों के हाथ समर्पित हो, उन का प्रभाव और माहात्म्य सविशेष बढ़ चला । होत (बह्वृच) पुरोहितों के लिये 'ऋग्वेदसंहिता' निर्दिष्ट हुयी । 'उद्गाता' (छन्दोग) और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये यथाक्रम माम और यजुर्वेदसंहिता नियत हुयी। इन भिन्न २ श्रेणी पुरोहितों के यथार्थ कर्तव्य ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये गये बह्वृच पुरोहितों के लिये ऋग्वेदीय एतरेय और कौष्ठिक की ब्राह्मण उद्गाताओं के लिये ताण्ड्य ब्राह्मण; और अध्वर्यु पुरोहितों के लिये तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मण और अथर्ववेदीय के लिये गोपथ ब्राह्मण नियत हुए । ब्राह्मण ग्रन्थोंकी रचना पश्चात् अपने २ वेदों की शारदानुसार कल्प या श्रौत और गृह्यसूत्र बनने लगे । और श्रौत ग्रन्थानुसार बड़े २ यज्ञ एवं गृह्यसूत्रानुसार स्मार्त्त कर्म होने लगे । जब वेदोंका पढ़ना पढ़ाना कम हुआ और वैदिककर्म में बाधार्थ होने लगीं, राजा लोग वेदविद्या से मूर्ख होने लगे, उस समय से पुरोहितों में परस्पर ईर्ष्या द्वेष की नेव पड़ी और लगे एक दूसरे के विरुद्ध निन्दा लिखने यहां तक कि जो होता (ऋग्वेदी) अध्वर्यु, (यजुर्वेदी) उद्गाता (सामवेदी) और ब्रह्मा (अथर्ववेदी वा चतुर्वेदवेत्ता) एकसाथ एक यज्ञ में परस्पर आनन्द के साथ अपना २ कर्तव्य पालन कर, यज्ञ कार्य सम्पादन करते वे स्वतन्त्र २ ग्रन्थ बना, उस में अपनी २ प्रशंसा और अन्यवेदी की निन्दा लिखने लगे, जिस का परिणाम यह हुआ के राजा तथा प्रजा एवं मनुष्यमान में साम्प्रदायिक * निदारुण विद्वेष फैलकर भारतवर्ष का सर्वनाश हुआ । इस के उदाहरण में हम "अथर्वपरिशिष्ट" नामक ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं ॥

पुरोहितों में साम्प्रदायिक निदारुणविद्वेष !!!

"अथर्वपरिशिष्ट" ग्रन्थ के ११२ में अध्याय में लिखा है कि ऋग्वेदी 'बह्वृच' पुरोहित यज्ञमान का राज्य, और यजुर्वेदीय अध्वर्यु (ऋत्विक्) यज्ञमान के पुत्र कलत्रादि का विनाश करते हैं; सामवेदी ब्रह्मा जिस यज्ञमान के पुरोहित होते उन का धन नष्ट हो जाता । अज्ञानता, या प्रमाद

* महर्षि आपन्तस्य ने (या परिभाषा, नामक ग्रन्थ में जो लिखा है कि —स (यज्ञ) त्रिभिर्वेदेषु विधीयते ॥१॥ ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदे ॥२॥ ऋग्वेदेन राजा तरोति ॥१६॥ सामवेदेनोद्गाता ॥१७ यजुर्वेदेनाध्वर्यु ॥११ सर्वमंता १६॥

से जो 'बह्वृच' ब्राह्मण को पुरोहित्य कर्म में वरण (नुकरर) करते, निःसन्देह उन के देश, राज्य, नगर, और मन्त्री विनष्ट हो जाते हैं । जो राजा, अध्वर्यु ब्राह्मण को शपना पुरोहित नियत करता, बट, धन, और यान (रथ) आदि से विहीन हो अस्त्राघात से शत्रु के हाथ शीघ्र ही मारा जाता । पङ्क व्यक्ति, जिस प्रकार गन्तव्य मार्ग में चलने से असमर्थ होता, अण्डे से मद्योजात पत्नी जिस प्रकार आकाश गामी ग्रीहवयस्त्र विहङ्गम की नाई आकाश मार्ग में परिचरणा करने में असमर्थ होता; सामवेदी छन्दोग पुरोहित द्वारा राजा भी उसीप्रकार उन्नति लाभ करनेमें असमर्थ होता है । और अथर्व वेदी * जलद और 'मौद्ग' शाखाध्यायी ब्राह्मण जिस राजा के पुरोहित होते, १० या १२ महीने में वह राजा, राज्यच्युत हो जाता है । अथर्ववेदी ब्रह्मा पुरोहित ही पुरोहितों में सब से श्रेष्ठ हैं, वे भयातक कार्य उत्पादन और उस की शान्ति कर सकते, यज्ञ की अनेक विघ्न एवं विपद से बचा सकते हैं ।

अङ्गिरा ही, यज्ञके एकरात्र नियामक अधिपति हैं । ब्रह्मवेदज्ञ अथर्ववेदी ब्राह्मण दिव्य, आन्तरीक्ष, और भौम, इन नाना विधि यज्ञोत्पात के उपशमन विधान करते हैं । अध्वर्यु, छन्दोग, क्या बह्वृच कोई भी यज्ञ कालीन अनेक प्रकार के उत्पात प्रशमन नहीं कर सकते इत्यादि । साम्प्रादायिक निदारुण विद्वेष द्वारा परिचालित हो, क्रोधान्ध ग्रन्थकारों ने अपर वेदी और स्ववेदीय भिन्न २ शाखाध्यायी पुरोहितों के प्रति नितान्त अथैष यह कटूक्ति वर्षण पुरः सर अपनी प्रधानता जतलाने के लिये कारुण्डाकारण विहीनता का परिचय दिया है ।

* बह्वृचो हन्ति वैराष्ट्रं अध्वर्युं नाशयेत् सुतान् ।

छन्दोगो नाशयेत् धन, तस्नादथर्व्वेणो गुरुः ॥

अज्ञानाद् वा प्रनादाद् वा, यस्य स्याद् बह्वृचो गुरुः ।

देशराष्ट्र-पुरामात्य, नाशस्तम्य न संशयः ॥

यदि वाध्वर्यवं राजा, नियुनक्ति पुरोहितम् ।

शस्त्रेण बधयते क्षिप्रं परिशीणार्थं वाहनः ॥

यथैव पङ्कगुरध्वानं, अपत्नी चाण्डजो नभ ।

एवं छन्दोगगुरुणा, राजा वृद्धिं न गच्छति ॥

पुरोधो जलदो यस्य, मौद्गो वा म्यात् कथञ्चन ।

अद्वाद् दशेभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रन्शं स गच्छति ॥
 अथर्वा सृजते चोरं, अद्भुतं शमयेत्तथा ।
 अथर्वा रक्षते यज्ञं, यज्ञस्य पतिरङ्गिराः ॥
 दिव्यान्तरीक्षभौमानामुत्पाताना मनेकधा ।
 शमयिता ब्रह्मवेदज्ञः, तस्माद्दक्षिणतो भृगुः ॥
 ब्रह्मा शमयेन्नाध्वर्युं न हन्दीगो न बह्वृषः ।
 रक्षांसि रक्षति ब्रह्मा, ब्रह्मा तस्मादध्वर्यवित् ॥-(अथर्वपरिशिष्टः)

॥ संस्कार ॥

आर्यऋषिगण ने दिव्य दृष्टि से देखा था कि उच्छृङ्खल मनुष्यजाति नियम-रहित होने से उत्तरोत्तर श्रवणति ही की ओर अग्रसर होगी, कभी मज्जल मय साधुमार्ग पर पैर न रक्खेगी, प्रत्युत अनुराग प्रणोदित हो निरन्तर असत् कर्म का अनुष्ठान करेगी । सुतरां ऐसी अवस्था में समाज का शरीर अक्षत नहीं रह सकता और मानव-हृदय में धर्मभाव भी प्रस्फुटित नहीं हो सकता । इस कारण प्रत्येक जीव एवं समस्त समाज का ऐहिक और पारलौकिकहित साधन उद्देश्य से महर्षियों ने विशेष नियम व्यवस्था विधिबद्ध किया हैं । नकान-मज्जवूत करनेसे पहिले उसकी नेव मज्जवूत देनी पड़ती है, इसकारण मानवशिशु भूमिष्ठ होनेके पहिले ही ऋषि ने सावधान किया है कि-

“निपेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितोविधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारःस्यान्नेतरस्य कदाचन ॥”, (मनुः।११)

अतएव गर्भाधान आदि संस्कार सब यथा समय सम्पादन करना आर्य-मात्र को कर्त्तव्य है । संस्कार-का अर्थ शोधन करना, दोषों को हटाकर गुराओं को निलाना । अर्थात् संस्कार द्वारा कहीं तो वस्तुगत दोष विनष्ट होते और कहीं वस्तुमें गुण विशेष संयोजित होते । जैसे आइना स्वभावतः स्वच्छ और प्रतिबिम्बग्राही होता है, किन्तु उनमें दोष विशेष से मालिन्य उपस्थित हो जाता एवं जिस समय तक उस का मैलापन दूर नहीं होता, उतने समय तक उस की प्रतिबिम्बग्राहिता, या स्वच्छता कुछ भी प्रकाश नहीं पाती, इस कारण उस में संस्कार का म्योजन पड़ता है । चर्पण आदि क्रिया द्वारा वह आगन्तुक मालिन्य, दूर होने पर पुनः चर्पण का चर्पणत्व प्रकाश पाता है ।

यही प्रथमोक्त संस्कार का फल है। इसी प्रकार किसी स्थिर में वस्तु का किसी प्रकार दोष दूर नहीं होता किन्तु उस में एक प्रकार गुण या उत्कर्ष मात्र उत्पादन करता है। उसी प्रकार जीव, या जैव अन्तःकरण भी स्वभाव से स्वच्छ है किन्तु कामादि संसर्ग फल से उस में मालिन्य, या अज्ञान उपस्थित होता, मालिन्य उपस्थित होने से उस में पुनः विवेक ज्ञान प्रकाश नहीं पाता, विवेक के अप्रकाश से जीव का अधः पतन अशयम्भायी, और अधः पतित जीवों को सर्वत्र ही अगान्ति होती, यह स्थिर सिद्धान्त है। सब अनर्थों का मूल स्वरूप उस मालिन्य को दूर कर स्व २ तेज उद्दीपित करना ही संस्कारों का प्रधान प्रयोजन है। शास्त्र कारों ने भी इस विषय में सुन्दररूप से समझाया है:-

चित्रं कर्म्मनिर्कैरङ्गै रुन्मील्यते यथाशनैः ।

ब्राह्मरायमपितद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

जिस प्रकार हृदि, चित्रकर और रचना की कुशलता से क्रमशः अङ्ग प्रत्यङ्ग द्वारा प्रकाशित, या सम्पूर्ण होती, ब्राह्मणयतेज भी उसी प्रकार विधिपूर्वक संस्कार कार्म्य के धार २ अनुष्ठान से पूर्णत्व लाभ करता है। उल्लिखित संस्कार किसी के मत से १६, किसी के मत से १७, किसी के मत से इससे भी न्यून या अधिक हैं जैसे-१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ चूहाकरण, ९ कर्णवेद, १० उपनयन, ११ वेदारम्भ, (ब्रह्मचर्य) १२ समावर्तन, १३ विवाह, १४ गृहाश्रम, १५ घानप्रस्थ, १६ सन्यास और १७ अन्त्येष्टि ॥

१ गर्भाधान ।

पूर्व ही कहा गया है कि "मनुष्यों के तेज" का संयुद्धन ही सब संस्कारों द्वारा साधारण और असाधारण का मुख्य उद्देश्य है। घर सुदृढ़ रखने के लिये उस की चेष्टा आरम्भ ही से करनी पड़ती है। सर्वलोक हितैषिणी जननीकल्पा यह श्रुति, उस निगूढ़ उच्चतम उद्देश्य सिद्धि के अभिप्राय से कहती है कि पितृ, मातृ शरीर में जो दोष रहता, वह सन्तान शरीर में संक्रामित होता है। यह बात विज्ञानशास्त्र भी मुक्तकण्ठ से कहता है। प्राचीन मात्र में ऐसे अनेक दृष्टान्त भी मिलते हैं, अधिक क्या पिता माता की मनोवृत्ति पर्यन्त भी सन्तान में संक्रामित हुआ करती है। मनु कहते हैं कि गर्भाधान, आदि संस्कार द्वारा द्विजाति शिशु के बीजदोष (पिता माता के असत्) संकल्पादि रूप बीज या उपादान गत दोष एवं गार्भिक (माता के शरीर जरायुसंक्रान्त, दोष सब दूर होते हैं)

“गर्भेर्होमैर्जातकर्मचौरमौञ्जीनियन्धनेः।

गर्भिकं वैजिकञ्चैव द्विजानामपमृज्यते” ॥ सूत्रः १२२७ ॥

तात्पर्य यह है कि सन्तान पिता माता के संस्कार को पाता है, सुतरां माता में किसी प्रकार अवैध कुत्सित भाव उपस्थित हो तो वह सन्तान के हृदय में भी अवश्य जम जाता है। महाभारत में लिखा है कि एक समय वीरवर अर्जुनने सुभद्रा को एक युद्ध वृत्तान्त सुनाया था, कथा का आधा अंग वाकी ही था कि सुभद्रा सो गयीं। उस समय सुभद्रा का गर्भस्थ अभिमन्यु भी पिता का कहा हुआ युद्ध वृत्तान्त के अर्द्धांश मात्र से अवगत हुआ। और माता के सो जाने के कारण अवशिष्ट अर्द्धांश नहीं जान सका। शास्त्रानुसार देखा जाता है कि उक्तप्रकार संस्कारों से संस्कृत द्विजातिगण धर्म धृत के यथार्थ अधिकारी एवं अध्यात्म शास्त्र ग्रहण में भी पूरे अधिकारी होते हैं।

२ पुंसवन ॥

प्रत्येक कार्यों का कुछ न कुछ उद्देश्य रहता ही है, सुतरां पुंसवन संस्कार का भी एक उद्देश्य रहना आवश्यक है, सो क्या है? गर्भरक्षा। तात्पर्य यह है कि साधारणतः तीसरे मास से चौथे मास पर्यन्त गर्भ गिर जाने का एक प्रधान समय है, इस प्रबल विपत्त पात से गर्भिणी को उद्धार करना ही इस संस्कार का प्रधान प्रयोजन है। द्वितीय कार्य, पुत्र सन्तानोत्पादन अर्थात् कुत्सिस्थ भ्रूण से लड़का होगा या लड़की? सो तीसरे मास तक स्थिर नहीं होता, कारण यह है कि तीसरे मास के पहिले गर्भस्थ सन्तान का 'स्त्री', या 'पुं', चिन्ह कुछ भी नहीं उत्पन्न होता (आयुर्वेद के अनुसार) सुतरां उस समय में पुत्रसन्तानोत्पादनार्थ पुंसवन क्रिया सम्पादन करना विशेष आनन्द कर होता, इस में सन्देह नहीं। पति, संस्कार आदि कार्य सब सम्पादन कर, जिस समय गर्भवती पत्नी को उद्देश्य कर कहता है कि “मित्रावरुणौ” ये दो देव पुरुष हैं—अस्मिन्नी कुमार भी पुरुष, एवं 'वरुणदेव भी' पुरुष हैं (इन के अनुग्रहसे) तुम्हारे उदर में भी पुरुष सन्तान प्रादुर्भूत हुआ है” इत्यादि। ऐसे समय गर्भिणी रमणी जो समधिक आनन्द से उत्फुल्ल और शान्ति शालिनी होती, यह निश्चित है। और उस समय शरीर की दुर्बलता, मूर्च्छा, अहचि, * प्रभृति दोषों से अवसन्न प्रायः देह में कुछ उत्साह और आनन्द न होने से गर्भ विशेष श्रेय का उपाय नहीं। * अत एव पुंसवन संस्कार भी तत्त्वान्त्रेपियों के पक्ष

* पुंसवन बाल में यव, और उडोद के साथ बड का दो फल लेकर गर्भिणी को मूषाना होता है। आयुर्वेद में लिखा है कि स्त्री के भ्रूणों के दोष क दूर करने की यह एक उत्तम औषधि है ॥

में उपेक्षणीय नहीं। प्रत्यक्ष फल के प्रतिरिक्त अदृष्ट फल भी है।

३ सीमन्तोन्नयन।

तीसरे मास से चौथे मास तक जिस प्रकार गर्भच्युति का समय है, उसी प्रकार छठे मास से ८ मास पर्यन्त गर्भभ्रंग का दूसरा एक समय है। गर्भिणी का पित्त जितना ही सिद्ध होगा एवं शरीर भी जितना ही दुर्बल, या आलस्य ग्रस्त होगा, गर्भ-भ्रंग की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। उसी अवसाद और देहिक दुर्बलता दूर करने के लिये यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है।

सीमन्त-का अर्थ "केशवीधी" (सर, मांग) उन्नयन-उठाना अर्थात् स्त्री के वालों को विधिपूर्वक सम्भारना। स्वामी स्वयं एक घृन्तगत दो उदुम्बर की शलाका और स्वस्तिका आदि और भी कई एक माङ्गलिक द्रव्य एकत्रित कर, मूत्र द्वारा गर्भिणी के जूरे को धांधे। अनन्तर स्वामी कुश, गुच्छ और सरकाष्ठिका प्रभृति द्वारा गर्भिणी के जूरे को उत्तोलन करने में जिन मन्त्रों का पाठ करना पड़ता, उन सब मन्त्रों का भाव भी अति मधुर और गम्भीरता से स्त्री को समझावे ॥

४ जातकर्म।

यह चतुर्थ संस्कार है। बालक के भूमिष्ठ होने के पीछे एवं नाभि काटने के पूर्व यह कार्य सम्पन्न करना पड़ता एवं उसी समय मन्त्रोच्चारण पूर्वक, सद्योजात शिशु का घृत, मधु, को मिला कर सोने की शलाका से जिह्वा में "ओ३म्" ऐसा लिखना पड़ता। इससे शिशु कटेके बल धीर्य, और तेज की वृद्धि होती है। यह धर्म शास्त्र की बात हुयी, अब सुनिये वैद्यक और विज्ञान शास्त्र की बात:-

योगिक प्रक्रियानुसार जाना जाता है कि विभिन्न गुण सम्पन्न दी या इस्से अधिक पदार्थ मिलने पर एक अभिनव गुणान्तर उत्पादन करता, जिस प्रकार श्वेत चूना, और पीत हरिद्रा मिलाने पर एक नूतन लाल रंग की सृष्टि करता उसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। अतएव कथित संस्कार समय परस्पर संमिश्रित घृत, मधु, कुवर्ण आदि वस्तु भी जो उसी प्रकार एक अभिनव दूसरा गुण उत्पादन करेगा इसमें आपत्ति या अनुपपत्ति कुछ नहीं। यह वस्तु-गक्ति जो सद्योजात शिशु का विशेष उपकार साधन करती यह भी आश्चर्य का विषय नहीं, वरं पदार्थतत्त्व विचारानुसार यह नवजात सन्तान के शरीर में बल और पुष्टि, धायु और पित्तहर एक परम रसायन कहकर

ग्रहणकरता है। हमारे वैद्यकशास्त्र में उक्त घृत आदि के गुण यों लिखा है कि—

१ गध्यघृत—आंस का विशेष उपकारक, शीतल और वात, पीत, कफ का दूर करने वाला शुक्र और अग्निवर्द्धक, बल और आयुष्कर एवं बुद्धि और स्मृति के पुष्टि कारक ।

[विशेषेण चक्षुर्हितत्वं शीतलत्वं वातपित्तकफनाशित्वं शुक्राग्निस्वादुपाकमेधालावणयकान्त्योजस्तेजोयुद्धिवयःस्थिरबलायुर्हितकारित्वं , रसायनत्वं रोचनात्वं बुद्धिस्मृतिपुष्टिवपुः स्थैर्यकारित्वं श्रमोपशमनत्वं बहुगुणात्वञ्च । (एतेगध्यघृतगुणाः) इति भावप्रकाशः] ।

२ मधु—शीतल, अनुग्र, जिह्वा का रुचिवर्द्धक तीनों दोष का नाशक एवं स्वाश, काशादि निवर्त्तक है । *

सुवर्ण—मधुर, कपाय, हृद्य, स्वरूप, बल कारक, नेत्रोपकारी, शारीर तेज और बल वर्द्धक एवं आयुः मेधा और वाक्य शुद्धिकर, क्षय, उन्माद आदिकठिन २ रोग सब भी इसे प्रशमित होते हैं । * *

यव—कपाय, मधुर, बल वर्द्धक, रुक्ष, गुरु, शीतल, एवं सूत्र, मेद, और दोष निवारक है । इसी प्रकार अन्यान्य चूड़ाकरण आदि संस्कार के अनेक प्रयोजन हैं जिन को हम विस्तार भय से यहां नहीं लिखते ।

विवाहसमयमांसा ॥

प्रथम हम इस अंश में इसी गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरवेऽनुज्ञातोदारान्

कुर्वीतासगोत्रान् । १-४ । मातुरसपिण्डा ॥ ५ ॥ प्र० ३ खं० ४

अर्थात्—ब्रह्मचारी वेद को आद्योपान्त पढ़ कर उपनयन की दक्षिणा गुरुदेव को देकर उन की आज्ञा से अपना विवाह ऐसी कन्या से करे, जो अपने गोत्र की न हो और माता की सपिण्डा न हो । पुनः

अनग्निकातु श्रेष्ठा ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

तत्र 'तु' अपि 'अनग्निका' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत् यावच्छ नम्रा उलङ्गापि विवरिन्नु शम्नुपात्, सानग्निका तद्भिन्ना अनग्निका ऋतुमती प्राप्त-यौवना सैव "श्रेष्ठा" प्रशस्थाः कन्याया ऋतौ सञ्जाते ह्येवाग्निभोग्यत्वमुपयु-ज्यते तदैव च 'सोमोऽददद् गन्धर्वाय'—इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते; नान्यथेत्येव दार

* शीतलत्व मृदुत्व स्वादुत्व निदोष जणनाशित्व रुक्षत्व चक्षुष्य स्वामवारानाशित्व (पतेमधुगुणा)

* सुवर्णं नितम्बपुर कपाय गुण्णेलन हृद्य रसायन बल्य । चक्षुष्य कान्तिद शुचि ॥ आयुर्मेधावल स्थैर्यवान् विरादिप्रदन्त्या । अयोन्मादरगन्तानां रामन परमुच्यते ॥ इति राजवल्लभ ॥

कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएव अनुरपि “देवदासां पतिर्भायं विन्दते
नेच्छयात्मनः (९, ९५)”—इति । तदेवं प्राप्तायां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नयौ-
वनापि नोद्वाह्येति फलितम् ।

भा०:—जो कन्या उलङ्घ्य भाव से खेल करने में लज्जित न होवे, उसे नयिका
कहते इस के विरुद्ध अर्थात् जिस कन्या का ऋतु प्रकाश पागया है, ऐसी
प्राप्त यौवना कन्या को ‘अनयिका’ कहते । अनयिका कन्या ही विवाह के
लिये श्रेष्ठा है; ऐसी कन्या समयानुसार न मिल सके तो जिस की यौवन
अवस्था आरम्भ हो गई हो वह भी विवाहने योग्य है । यदि इस पर कोई
नीचे लिखे वचन के आश्रय से यह आपत्ति देवे कि—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत् कन्या तत उर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठोभ्राता तथैव च ।

त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

अर्थात् आठ वर्ष की (कन्या) गौरी, नववर्ष की रोहिणी, दश वर्ष की
कन्या कहलाती है और इस के उपरान्त रजस्वला होती, एवं रजस्वला
कन्या को देखकर माता, पिता, और बड़े भाई, ये नरक को जाते हैं ॥ तो
इस के विरुद्ध अधिक पुष्ट प्रामाणिक वचन गौरी, रोहिणी आदि कन्या के
विषय में “अनग्नि का” शब्द की निरुक्ति करते हुए ये हैं कि—

“नग्निका तु वदेत् कन्यां यावन्नक्षुंमती भवेत् ।

ऋतुमती त्वनग्निका तां प्रयच्छेत्वनयिकाम् ॥ १७ ॥

अप्राप्ता रजसो गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी ।

अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना तु नग्निका ॥ १८ ॥

व्यञ्जनेस्तु समुत्पन्नैः सोमो भुञ्जीत कन्यकाम् ।

पयोधरेस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्तितः ॥ १९ ॥

तस्मादव्यञ्जनोपेता, अरजा अपयोधरा ।

अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥ २० ॥

अर्थात्:—जब तक कन्या को मासिक धर्म न हो, तब तक उसे ‘नयिका’
कहते अतएव अनयिका ही कन्या को विवाह ॥ १७ ॥ जिस कन्या को रजो
धर्म न हो, उसे “गौरी” और जिस के शरीर में ‘रज’ प्राप्त हो गया हो, उसे
‘रोहिणी’ और जिस कन्या को युवा अवस्था के कोई चिह्न न हुआ
हो, उसे ‘कन्या’ और ‘कुचहीना’ (स्तन रहित) को नयिका कहते हैं ॥१८॥

युवा अवस्था के चिह्न वाती कन्या को सोम भोगते पयोधरवाली को गन्धर्व और रजस्वला को ऋग्नि भोगते ॥ १८ ॥ इस लिये त्रिन यौवनावस्था के चिह्न हुए रजो धर्म हीन, पयोधर रहिता और सोमादि से अभुक्ता कन्या विवाह के लिये प्रशस्त नहीं । गृह्यसंग्रह २ । १७-२० ॥ (ग्रन्थ) के वचन है अब्र इधर वैद्यक का प्रधान ग्रन्थ सुश्रुत कहता है कि-

“रसादेव स्त्रिया रक्त रज सद्यः प्रवर्त्तते ॥

तद्वर्षाद् द्वादशाद्दूर्ध्वं याति पञ्चाशत् क्षयम् ॥ सुश्रुते० अ० १४

अर्थात्-चारह वर्ष के पीछे कन्या का रजो धर्म आरम्भ होकर ५० वर्ष के बाद घटने लगता है । पुन

पिता ऋतून् स्व पुत्र्याश्च गणये दाहित सुधी ।

दिनावधि गृहे यत्नात् पालयेच्च रजस्वलाम् ॥ १ ॥

संस्कारकौस्तुभ पृ० २१ मुम्बई मुद्रित (शाके १८०४ ई०)

अर्थात्-पिता अपनी कन्या के ऋतु को आदि से ही गिने जितने ऋतु पर्यन्त कन्या को घर में पालन करने का विधान है, उतनीवार जब कन्या ऋतुमती हो जावे, तो उस कन्या का विवाह सम्बन्ध होना चाहिये, इससे न्यून कदापि नहीं प्रत्युत अधिक होतो-और भी अच्छा है ।

कन्या वर का विवाह शास्त्र एवं युक्ति अनुसार किस समय होना चाहिये इस अथ में बनारस के सुप्रसिद्ध पण्डित श्रीमान् महामहोपाध्याय प० रामनिश्च शास्त्री (स्वर्गदासी) जी अपनी “वृद्धाहसमयमीमांसा नामक” पुस्तक की भूमिका में यो लिखते हैं कि-

PREFACE

At the present time in various parts of India among those who profess to be followers of the Vaidik religion and practices, the custom of marrying girls in mere infancy is a common one, and people think that if they do not conform to this custom they incur sin. But the truth is that the rule about the infant marriage of girls enjoined in the Dharmasastras is not what is called *nitya* (a fixed and obligatory duty the non-performance of which is a sin) but *kamya* (optional and to be performed only through the desire of obtaining some particular benefit) and the principal age for marriage is that of twelve and upwards as clearly declared by Manu, only it is necessary that the marriage ceremony should take place before the age of puberty is

attained, (that is before the commencement of menstruation). Although, owing to desfering climatic conditions, the age of puberty is not the same in all parts of India, and therefore no fixed age is stated in the Dharmasastras, nevertheless they enjoin that the rite of marriage should be performed at some time prior to that age as indicated above. Hence the infant marriage of females is a useless and needless practice, and one that ought to be abandoned as often entailing the evil of child-widowhood.

The next point for consideration is, at what age the marriage of males should take place. This, too, in accordance with the Dharmasastras, should never be in infancy; nor, to speak generally, before the age of eighteen, which is the essential meaning of the injunctions contained in those Sastras. But the present Practice of marrying boys in mere infancy results from ignorance both of what is physically right and of what is religiously enjoined, and is a fruitful cause of rendering those who are thus married puny, sickly, diseased, and miserable throughout their lives, to say nothing of the condition of their offspring.

Lastly, as regards cohabitation, the Dharmasastras (e.g. Asvalayana, Manu, and Yama) with one voice declare that it should commence only after puberty, (i. e. after the appearance of the catamenia). Among the upper classes, people of all the four castes observe this rule, and with them cohabitation is never allowed beforehand, not only out of regard for the injunctions of the Dharmasastras, but also because to act otherwise would be opposed to their traditional customs. In the warmer parts of India, such as Bengal, Madras, and Bombay, females reach this state of maturity usually about the twelfth year, and in the colder regions of Rajputana and the Panjab about the thirteenth, and among the poorer classes still later. On this account the great physicians and rishis of this country, Charaka & Sushruta, have laid down the general rule that the wife should not join her husband before she has reached the age of twelve at least. (In those places in the Mahabharata & Brahma Purana where the age for the marriage in the case of females is declared to be sixteen, eighteen, or twenty, this applies to former times--in former times women attained maturity later, & retained their vigour longer).

I entertain the hope that by means of this book-people will come to know that marriage at the age of twelve or thirteen is not prohibited by the Sastras, so long as it takes place before the period above indicated. Hence the marriage of mere infants is wrong. In any case, as appears from what I have stated above, males should not marry before eighteen, & in no rank of life should the wife join her husband till she is past the age of eleven.

My earnest prayer is that the princes & wealthy nobles of this country will exert themselves in this matter, and freely provide means for the circulation of this work throughout India. Then, if they follow the course therein advocated, will the inhabitants of Bharatavarsha become wiser, more powerful, energetic, and courageous, & better qualified to understand and take part in abstruse and difficult political concerns.

A true friend of the India People.

PANDIT RAMA MISRA SASTRI

Banaras.

7th December, 1890.

क्या कोई संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो अपने कुल गोत्रकी वृद्धि और समृद्धि न चाहें ? और स्वाभाविक बल, पुष्टि, शरीरतेज और अङ्गसौष्ठव की वृद्धि न करते हों ? मुझे तो दृढ़ निश्चय है कि समस्त ही संसार के मनुष्य एक स्वर से स्वीकार करेंगे कि इन सब पूर्वोक्त फल की कामना स्वभावसिद्ध समस्त ही विचारशक्तिवाले जन्तुमात्र को है, इतना ही प्रभेद है कि बुद्धिमान लोग फल की कामना होते ही उपाय की चिन्ता करते हैं और उसे किसी न किसी प्रकार से पाप भी जाते हैं और सिद्धि कर लेते हैं, और बुद्धिहीन आलसी देवहत लोग सर्वदा फलकी इच्छा ही करते & प्राणान्त पाप जाते हैं उपाय की तो नाम मात्र भी भावना कभी नहीं जानते, और यह भी समस्त जन स्वीकार करेंगे कि जो बात पूर्वही बिगड़ जाती है उसे फिर बनाना कठिन है और विशेष करके पुरुषार्थ चतुष्टय के साधन का महोपाय-स्वरूप शरीर का, जिस की रक्षा करने से चारो ही पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं, और जिसकी उपेक्षा से चारो ही पुरुषार्थ रसातल में लीन हो जाते हैं।

* If people cannot all at once conform, as I think they should conform to the directions of Manu and Susruta, and make the age of twelve the earliest.

तो, यहां पर विचारना उचित है कि शरीर कौन वस्तु है ? । इसके उत्तर में आस्तिक, नास्तिक, वैद्य, हकीम, डाक्टर, मन्त्री फिरके के और समस्त ही मत के लोग ऐकमत्य से कहेंगे कि, माता पिता के शुक्र और शोणित से बना, और विविध खाद्य पेय से पोषित, पाञ्चभौतिक हासवृद्धियुक्त एक विचित्र मांस-पिण्ड है जिसके दृष्टान्त देने के अर्थ भूपृष्ठ पर कौन कहै नाकपृष्ठ पर भी कोई वस्तु नहीं देख पड़ती । जिस पिण्ड के भीतर शुक्र, वामदेव ऐसे विरक्त महानुभाव लोगों के वैराग्यमय चित्त का चित्र बना है; प्रलहाद, परागर ऐसे हरिभक्तजनों के भक्तिभाजन अन्तःकरण का चित्र खचित है । और जिस के भीतर भीम जैसे वीर, अर्जुन ऐसे कीर्त्तिमान और विविध विद्याविशारद, कर्ण ऐसे दानशील, दधीचि ऐसे परोपकारी लोगों के समस्त व्यवहार और सदाचार का मूलभूत कोई विलक्षण तत्त्व बैठा है; इसका वर्णन कहां तक हो सकता है, यही संसारस्वरूप महावटवृक्ष का परमनिदान बीज है इसी से आप लोग सन्तोष करिये और यह भी जान लीजिये कि इस शरीर की तुलना में समस्त संसार की समृद्धि अति तुच्छ है । यादशाहों की यादशाही, राजों का राजत्व, विद्वानों की विद्वत्ता, पराक्रमी लोगों का पराक्रम, सबही इस का छोटासा विलास है । वस यही निश्चय करके आज मैं इस बात में तत्पर हुआ हूँ कि आप लोगों को इसका कुछ परिचय देसकूँ कि शरीर किस चाल से उत्तम होता है । प्रिय भारतवर्षीय जनसमूह ! ध्यान रखना, जबतक बीज अच्छा नहीं होता, तब तक भूमि कभी उत्तम फल नहीं देती, क्या कभी कच्चे बीजसे भी उत्तम फल उत्पन्न हुआ है ? आप लोग अपने छोटे २ बच्चों का विवाह कर देते हैं और कच्ची अवस्था ही में बालक स्त्रीप्रसङ्ग के घोर अनर्थ में पड़ जाते हैं । यह सब जानते हैं कि समस्त ही वस्तुकी एक पूर्वावस्था और दूसरी उत्तरावस्था, इसीप्रकार एक आगमावस्था और दूसरी अप्रयावस्था होती है । इन में से बाल्यावस्था मनुष्य की पूर्वावस्था होती है और यही अवस्था—

बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, शरीरकी लावण्य, पुष्टि, इन सबकी आगमावस्था होती है । और आगमावस्था ही में यदि कोई व्यय करने लग जाय तो कैसी उस की दुरवस्था होगी ? यह विचार आप स्वयं कर सकते हैं । यदि तालाब में पानी के आगमन ही के समय से प्रवाह होना आरम्भ हो जाय तो कदापि वह तालाब नहीं भर सकता, चाहे कैसे ही वेग से उस में जल का आगमन

क्यों न हो। यही एक दृष्टान्त, वाल्यविवाह की कुरीति से आप लोगों की कैसी हानि होती है, इसे दिखाने को भरपूर है ॥

इस अवसर पर कितने देग के शत्रु निज कुलनाशक यह कह बैठेंगे कि "विवाह वाल्य में होता है तो क्या हुआ, स्त्री का प्रसङ्ग तो योग्य समय पर ही होता है," तो यहां पर हम यहां कहेंगे कि यह महा ही अनर्थ की बात है कि वृथा किसी की कन्या को बहू बनाय वालवैधव्य के घोर दुःखाग्नि-ज्वाला के सामने हाथ पैर काट के विवाहरूप महाकठोर अनिवायं लोहे के सांकल से बांध देना, जिस सांकल से बहू बालिका को मातृकुल, पितृकुल और भ्रातृ मित्रवर्ग कोई भी नहीं छुड़ा सकते, हां नये समाजी, पुराने ब्रह्मवादी इत्यादि लोग ऐश्वरीशक्ति के बल से भले ही छुड़ाकर घोर अपवाद का सामान जुटा सकें, पर जब यही घोर अनर्थ इस वाल्यविवाह के संनिहित रहत है तो इसे बुद्धिमान भी कभी करें यहा बड़ा अनर्थ है। कितने लोग इस पर आंख मीचकर यह भी कहेंगे कि "संसार में सब ही अवस्था में मृत्यु अनि-वार्य है, यदि तरुण पुरुषका विवाह होय तो क्या वैधव्य भय नहीं है? सुर दुःख तो केवल ईश्वर के अधीन है, हगने अनेक बालकों को देखा है कि जिन का विवाह अत्यन्त वाल्य में हुआ है और वे सब ही प्रकार जन्म भर अच्छे रहे हैं और कितने तरुण भी विवाह के मास ही के भीतर अपनी नवीन तरुणी को छोड़कर यम मन्दिर की यात्रा कर गये हैं, इस हेतु वाल्यविवाह पर दोष देना केवल निरीश्वर जगत् की मानने वाले लोगों ही का शोभा देता है"। इस पर हम बहुत शास्त्रार्थ और विचार न करके इतना ही कहते हैं कि रणजीतसिंह, शिवाजी, और हैदर अली इन तीनों महाशयों ने अपना नाम लिखना भी नहीं सीखा था, और बहुत बड़े पुरुष हो गुजरे, यह ऐति-हासिक बात है, इसे सब ही को स्वीकार करना होगा, तो आप अब अपने कुल में किसी को भी लिखना पढ़ना मत सिखलाइये, वरन जुआ और डकैती की शिक्षा दीजिये क्योंकि, इन सब कार्यों में भी अनेक लोग बड़े धनी और नामी हो चुके हैं, विशेष करके हैदर ने इतना नाम और देशसम्पत्ति को जो पाया था सो प्रायः बेईमानी के बल से और शिवाजी ने डकैती से; तो अब आप बेईमानी और डकैती ही के भरोसे से बड़े होने की चेष्टा कीजिये। यदि कहीं इस पर आप भूल कर यह कह बैठेंगे कि, "होना न होना तो केवल ईश्वर के हाथ है, परन्तु मनुष्य की चेष्टा तो अच्छी ही करनी उचित है" तो अब

आप हमारे पथ पर आगये, यही मेरा भी यत्न है कि मनुष्य को चेष्टा अच्छी करनी उचित है; यों तो "यने की यात है" यह ममल मगहूर है। एक समय दड़े गिकन्दर ने किसी डाकू को पकड़ा और उस से पूछा कि तुम ऐसा काम क्यों करते हो? तब उस ने इस के उत्तर में यही कहा कि "तू बड़ी फौज, बहुत जहाज और दड़े २ सामान लेकर देशों को लूटता है और मैं छोड़े सामान और छोड़े आदमी के साथ उम्मी काम को करता हूँ परन्तु "यने की यात है" तू तो धड़ा हकैत है पर तुम्हें तो लोग बड़ा बादशाह करके जानते मानते हैं और मुझे हकैत कहते हैं," तो इस दृष्टान्त से माना कि 'यने की यात है' परन्तु चोरी हकैती बुरी है और भले काम तो भले ही है यह मय ही को मानना होगा। तो फिर यह भी आप विचार कर ली जिये कि कदाचित किसी को बाल्यविवाह करने पर भी किसी घटनांतर से शरीर अच्छा रहा यह बात कदाचित हो सकती है। परन्तु बाल्य विवाह अनर्थ का हेतु, और तारुण्य का विवाह मर्यादा उचित और शरीर सुख बरा का हेतु है, यह तो अवश्य ही मानना होगा। तो अब आप निश्चय कीजिये कि संसार सबही के देशों में बालकों की मृत्यु की अपेक्षा अधिक बय वाले लोगों का मरण अल्प होता है, जैसे २ अधिक बय होता है तैसे २ शरीर चिरस्थायी होता जाता है। इस में आम मृत के पुष्प आने के समय से फल की पुष्टि पर्यन्त अवस्था ठीक दृष्टान्त है; जितने संख्या में पुष्प गिरते, है उतने टिकोरे नहीं गिरते और जितने टिकोरे गिरते हैं, उतने पुष्ट आम नहीं गिरते और यही मनुष्य की संतति की भी दशा है तो, आप ध्यर्थ पौत्र और दौहित्र के मुखनिरीक्षण की इच्छा से बालिका कन्या को एक बालक (जिसे धोती कहा है यह भी ज्ञान नहीं है) के साथ काहे नष्ट करते हैं, उसे तो आप ब्रह्मचर्य में रख कर विद्या सिखानाइये कि जिम में वह लोक द्वय का अभिन्न बन जाय और आप का कुलभूषण हो जाय और जगत का भार भूत न होय। यहां पर कितने अल्पबुद्धि, बाल्य विवाह के हठी यह भी कह बैठते हैं कि "यह ब्रह्मचर्य का समय नहीं है, अब तो कलिकाल में बालक अवस्था ही में लड़के जोरु रोजने लगते हैं इस हेतु इन का बाल्यदशा ही में विवाह करना उचित है, नहीं तो विगड़ जाते हैं"। पत्थर पड़े, इन बुद्धि पर, एक बालक के ब्रह्मचर्य के निर्वाह कराने में तो पिता माता असमर्थ हैं और विवाह के अनन्तर जब वे दो भये और प्रतिवर्ष तीन, चार, पांच होने लगे

तो उनका पालन पोषण से निर्वाह वे कैसे कर सकेंगे ! बड़ी अंधेर की बात है जो बालक का ब्रह्मचर्य निर्वाह नहीं कराव सकें, वे तब पौत्र दल का भरण पोषण कैसे कर सकेंगे, इसका विचार नहीं करते । यहां पर एक यह भी बात ध्यान देने की है कि मैं तीस और पचीस वर्ष की अवस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य के उपदेश करने में उद्योग नहीं करता, मेरा केवल यही वक्तव्य है कि निज देश के जल वायु क अनुकूल और भोजनाच्छादन के योग्य निज वित्त के अनुसार जिस देश में जितने वय पर जीवन शरीर में दृढ़वद्द होजाय और अस्थि मोड़ हो जाय, तब आप अपने बालकों की शादी कीजिये जिम में वैधव्य भय भी आपेक्षिक अत्यल्प होजाय, बालकों के अङ्ग भी दृढ़ हो जाय और आगे उनकी संतति भी निरोग दृढाङ्ग * उत्पन्न होय। परन्तु सब देश में पुरुष की स्त्री का प्रसङ्ग अठारह वर्ष की अवस्था के पूर्व कदापि न होना चाहिये, यह सब देश और सब काल का नियम है इसे तो कदाचित् भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये "तिरिया तेरह सरद अठारह" यह प्राचीन काल से पामर पर्यन्त की कहावत प्रसिद्ध है इसे याद रखिये और स्त्रियों को भी विना जीवन आये पुरुष संपर्क अहितहेतु है और सर्वथा धर्मशास्त्र और वैद्यकशास्त्र के विरुद्ध है । यह समस्त वृत्त संस्कृत में हमने विशदरूप से लिखा है उसे देखने से ही यथार्थ परिचय हो जायगा । आज कलह के अतिवलिका विवाह के कारण संसार का अस्वास्थ्य होता है और प्रजा अल्पायुष, स्मृतिशक्तिहीन, दीन, विपत्तिग्रस्त होती जाती है इत्यादि सब बात हम ने संस्कृत में वर्णन की है, दैज में धन ठहरा कर बालकों का विवाह करना अथवा धन लेकर कन्या को देना वा वृद्धावस्था में विवाह करना तथा वर की अपेक्षा बड़े वय की कन्या से विवाह करना इत्यादि भी शास्त्र में निषिद्ध है, यह सब निरूपण किया गया है ॥

अब इस अवसर पर अनेक जन (जिन की समाज में प्रतिपत्ति अल्प है) असावधानता से बालविवाह के विरुद्ध कानून के शरण लेने का मनोरथ करते हैं और वैदिक पवित्र विवाह विधि को कलङ्कित करके आप भी अपना हृदय-दौर्बल्य दिखाते हैं परन्तु सरकार ऐसी नहीं है कि वह भी अपना दौर्बल्य * दिखावे, वह तो एक बहुत ही उत्तम नीतिपरिपूर्ण विश्वसनीय न्याय से विशाल निरालस और दयावान है, इस हेतु हमें हमारे धर्म के विरोधी अथवा न जानने वाले मिथ्या घमडी और हमारे पवित्र सनातन वैदिक-

* धर्मशास्त्र में वृद्धाऽऽसन्तति उपनयन करना लिखा है फिर यह बात बालसंपर्क से क्योंकर होसकती है ॥

* सरकार निज पर कानून बनाता है उन्हें विना पूछे उस का प्रसार कभी नहीं करता ॥

धर्मपर आघात पहुँचाने की इच्छा करने वाले देशी और विदेशियों का अकुमात्र भी भय नहीं है कि वे हमारा इङ्ग्लैण्ड में मित्या वकायत नामा लेकर कुछ धर्माघात कर सकें तथापि हमें अपनी तरफ से प्रकाशरूप से अपने विवाह इत्यादिक सामाजिक कार्यों का प्रबन्ध करना चाहिये । यद्यपि हमारे यहां सामाजिक उपदेश देनेवाले नगर के निवासी परमविद्वान् पण्डितों से लेकर ग्रामनिवासी साधारण पाषाणपुरोहित पर्यन्त हैं, और वे प्रायः संसभ ही कार्य कहते हैं, परन्तु अधिक बक २ नहीं करते और न इंग्लैण्ड में जाते और न तो इधर उधर अपना पत्र व्यवहार करके अपने नापे में देश हितों का कलगी खोंबते हैं, केवल उन में इतनी त्रुटि है कि न तो वे कोई दिशाज्ञ बत करतें और न तो समाज के अगुवा होने का धमंड दिखाते तथापि कार्य करते ही हैं । वस्तुतः उन में और कोई त्रुटि नहीं है । प्रतिदिन सर्व बुद्धिमान् ब्राह्मण बालविवाह; अति बालिकाविवाह, और बृहद्विवाह को अपने घर से और वेदानुयायी चातुर्वर्ष्य समाज से उठाते जाते हैं, और भी जो कुछ समाज में दोष पाये जाते हैं उन्हें भी शनैः २ सुधारते हैं । अति बालिका से संपर्क करना, यह तो वेदानुयायी उच्चजातीय चातुर्वर्ष्यमें संभव ही नहीं है, क्योंकि गरीब से गरीब और अपठितके घर भी स्त्रियों के नवीन ऋतु होने पर पुष्पोत्सव होता है जिसे "कूनचीक" कहते हैं । और पुष्प तो स्त्रियों को धाल्य से उत्तीर्ण होने ही से होता है । यह बात सर्वथा सुपराहित है और ऋतु होने के अनन्तर किसी शुभहूर्त से स्त्री की त्रुटि के पश्चात् गर्भाधान संस्कार होता है, फिर क्योंकर हम लोगों में बालिका संपर्क की संभावना हो सकती है ? यह संभावना तो उन लोगों में हो सकती है जिन के यहां स्त्री संभोग पशुसंप्रदाय और केवल इन्द्रियपरायकता ही से ही होगा, हमारे वेदिक मार्ग तो यह परमप्रवित्र संपर्क बड़े २ विधि विधान से वेदिक नन्त्रपर्यन्त होता है ॥

रहा अब बालविवाह तो उस की यह दशा है कि कितनी तो हमारे देश में ऐसा संप्रदाय है कि जिनमें पुष्पावस्था ही में विवाह पुरुषों का होता है । जैसे कि मिथिलादेश में मेथिल मात्र का विवाह २० बीस वर्ष की अवस्था के पहिले नहीं होता (यलिक ३० और ३५ तथा बालीस तक होता है जिसे कि सप्तपानुमार हम उत्तम नहीं समझ सकते) और यह तो स्वाभाविक बातों है कि जब जिस देश में बड़ी अवस्था के पुरुष का विवाह होगा तब उस देश में अतिबालिका के संग नहीं हो सकता, एक बड़े विद्याप्रधान मिथिला देश को तो बातों ही चुकी रहा कान्पकुडज देश, सो वहा तो बालिकाविवाह की कौन कथा, बृदुकुमायी का भी विवाह होता है, जिन के रोकने का

उपाय कान्यकुब्ज भी करते हैं और अन्य लोग भी करते हैं और आशा है कि श्रीमं ही हम लोग इस अनर्थ को निवृत्त कर सकेंगे। यह तो ईश्वर का नियम है कि जहां बड़ी अवस्था में कन्याओं का विवाह होता है वहां प्रायः घर छोटे नहीं हो सकते तो कान्यकुब्ज देश में भी विवाह समय प्रायः ठीक ही है।

रहा राजपूताना तो, वहां पचास वर्ष के पूर्व, सर्व ही वर्षों में अधिक वय के घर के संग अधिक वय की कन्या का विवाह होता था, परन्तु जब से सरकार अंगरेज की असलदारी में वहां के वैश्य कलकत्ता, बंबई, मद्रास, चीन, ब्रह्मा, इत्यादि मुलकों में जाकर तिजारत के कारण धनी होने लगे, तब से उन्हें उन छे आभाग्यवश (१) द्यात्यविवाह ने घेरा है बल्कि वृद्धविवाह (२) और बड़ी उमर की कन्या के संग छोटी वय के लड़के के व्याह रूप घोर अन्धकार ने भी उन्हें दबाया है और उन के संग उस देश के अपठित ब्राह्मणादिक भी इसदुराचार से दूर नहीं हैं, परन्तु परमेश्वर की दया से राजपूत जाति में तो यह दुराचार नहीं है और आशा है कि यह जाति इस दुराचार से दूर भी रहेगी। और राजपूताना के निकटस्थ होने ही के कारण दिल्ली के प्रान्त और ब्रज के निकटस्थ देशों में भी यह द्यात्यविवाह की आग फैली थी, परन्तु धन्यवाद है भारत की ब्राह्मणमण्डली को, कि उस ने इन के रोकने के उत्तम २ उपाय किये हैं और सुफल भी होते जाते हैं। पञ्जाब में भी युवावस्था ही के घरवधू का विवाह होता था और अभी अतिबाध्यावस्था में नहीं होता, परन्तु कुछ रीति विग्रह, गई है तो अब पठित ब्राह्मण मण्डली ने अपनी उपदेश वीरता से उसे भी सुधार देने का यत्न किया है और नित्य २ सामाजिक संशोधन होते जायेंगे क्योंकि वहां के रईस लोगों की भी इस तरफ विशेष दृष्टि है ॥

यह देश के विषय में हम यही ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि यह देश धर्मशास्त्र की मर्यादा रखकर अपना सामाजिक संशोधन कर लेये, और आशा है कि वही भी बहानुयायी होवे। और यही वक्तव्य मद्रास और बम्बई के उन प्रान्तों के विषय में है जहां संस्कृत विद्या गीर्ण गीर्ण है और उस के स्वान परं नई २ विद्या और उपाल तें सरगम है ॥

अब रहा नर्मदा पार और गुजरात तो, यहां की इन दिनों यह दंगा है कि एक ओर तो धर्मशास्त्र के नाम ही पर घृणा करते हैं और एक ओर ये लोग हैं जो जानते हैं कि मात जाठ घण की कन्या के विवाह न करने में न तो कोई धर्म की दानि है और न गणान की सति ही है, परन्तु हट यश अनिज निका के गिगा में उधशदोष अतिक्रम देगने है तो भी जानघक

कर आंग में गिरते हैं। यद्यपि नर्मदा पार में बालकों का विवाह प्रायः उचित समय पर होता है न कि अठारह वीस वर्ष के भीतर, परन्तु उधर कुछ कन्याओं के वय में अधिक करने ही से ठीक हो जाता है उस पर ध्यान देना अत्यावश्यक है ॥

यहाँ पर मुझे उन दोनों दलों का (जो केवल जनमाना आड़नी विवाह चाहते हैं, और वे जो शास्त्र का तात्पर्य के ज्ञान पुरानी लकीर के फकीर हो वृषा प्रतिबालिका के विवाह में आग्रह किये हैं) हठ देख यड़ा कष्ट होता है, और यही कहना पड़ता है कि ये दोनों दल मिल के काम करें तो सोना और सुगन्ध हो जाय इम के अर्थ प्रतिनगर ग्राम देशों में पञ्चायत होकर धर्मशास्त्र के अतिरुद्ध तत्त्वदेश के जल वायु के अनुसार विवाहकाल (३) निर्णय होजाय तो, जो आज बालविवाह के कारण हमारे देश में बल, वीर्य, पराक्रम, तीव्र बुद्धि, और नैवीन शास्त्रीय तथा लौकिक कल्पना शक्ति का अभाव हो गया है और नाना प्रकार के अज्ञातनाम रोग उत्पन्न होते हैं वे एकान्ततः मिट जायें ॥

आशा है कि हमारे देशभाई और पुरानी पण्डितमण्डली (जिसे आज भी लोग भारतवर्ष में बहुत मानते हैं) इसे गौरव से विचार करेंगे और हठ न करके ईर्ष्या और अन्धकार को त्याग यथार्थ कार्य का अनुष्ठान करेंगे ॥

ब्रह्मामृतत्रयिणी ममा
बनारस । } आप लोगों का वही शुभचिन्तक
राममिश्र शास्त्री

गुरुमन्त्र-मीमांसा ॥

गुरु मन्त्र-कीमीमांसाके पहिले, गुरुकिसे कहते हैं इम का विचार करतेकरना चाहिये इम "गुरु" शब्द की परिभाषा हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने यों कियी है कि:-

निर्मेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥

मम्भाषयति चान्धेन स विप्रो गुरु रुचयते ॥ १४२ ॥

पुनः-पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषम् ! ॥

प्रज्ञां ददाति * चाचार्यस्त्वस्मात्स गुरुरुचयते ॥३॥ बालमी०अ०म०११२

(१) इम के आदिगिक इन में मर्व ही वेद्य गूण ह परन्तु "जडा गुणव नडा कोडे" ।

(२) होनी के दिनों में जडा मारवाटी वैश्य, और भाषणों को जग घटा हंशो है बडा (बांवा ने परगाय जे वनों खाय है) इमे उरु मे गते है ॥

(३) जेमा कि अतु के पूर्व इम पुस्तक में काल निर्णय किया है उमे देशानुसार कर लेना ही अवसिष्ट है ॥

(४) आदिनीति हि शास्त्रार्थ मानारं स्थापयति ॥ स्वयमाचरते अम्म दाचार्यः परितोर्न सते ॥१॥ ऐतरेयारख्यके अ० २ के० सायणभाष्यः । दन्माधर्मनानिनीति स आचार्यः ॥१३॥ स हि विद्यापते जनयति ॥१५॥ सन्धे, प्र. जगम ॥१६॥ आयवन्म. य धर्मवत् प्र० १ १० ६ २० ६

पुन-त्रय पुरुषाभ्याति गुरुयो भवन्ति, माता पिता आचार्यश्च ॥ ३१ ॥ विष्णु स्मृतिः
पुन-कस्मादाचार्यं आचारं ग्राहत्याचिनोत्यर्थो नाचिनोति बुद्धिमिति वा
निरुक्त प० प्र० १ पा० ३ खं० २

अर्थात्-गर्भाधानादि सस्कार करके पुत्र की पालना करने में पिता की भी गुरु कहते हैं। यद्यपि माता पिता आदि भी बालक के गुरु हैं। परन्तु अर्थात् विद्याओं के पढाने से आचार्य ही मुख्य गुरु हैं ॥ १४२ ॥ पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और आचार्य बुद्धि को देता है जिस से ज्ञिष्य को सत्प्राप्त्ये का विवेक होता है-इस से आचार्य ही को गुरु कहते हैं ॥ ३ ॥ मनुष्य के तीन गुरु होते-माता, पिता, आचार्य ॥ ३४ ॥ अथ निरुक्तकार का मत सुनी। आचार्य्य उस को कहते हैं जो आप सर्व विद्यार्थ सम्पन्न हो के मनुष्यो को अमुत्तम आचार सिखाकर सर्वार्थ सम्पन्न करता है ॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से आचार्य्य ही का गुरु होना सिद्ध होता है और प्राचीन इतिहास के देखने से भी यह बात सिद्ध होती है कि पूर्वकालमें भारतवर्ष में ब्राह्मण पुरोहित आचार्य्य हुआ करते और वैदिक गुरु मन्त्र गायत्री का उपदेश करते थे। जैसा कि नीचे लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है।

सद्यस्त्वेव गायत्रीम् ब्राह्मणायानु ब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुते ॥ १ ॥
त्रिष्टुभश्चराजन्यस्य ॥ ८ ॥ जगती वैश्यस्य ॥ ९ ॥ सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥ १० ॥ ३।

हरिहरभाष्यम्-सद्य एव गायत्री ब्राह्मणायानु ब्रूयात् कथयेत् कुत आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुते। आग्नेयो अग्निदैवत्य ब्राह्मण इति वेद वचनात्। त्रिष्टुभश्चराजन्यस्य जगती वैश्यस्य सर्वेषां वा गायत्रीम्। तत्रियस्य त्रिष्टुभ त्रिष्टुप् छन्दोयस्या सा त्रिष्टुप् ता त्रिष्टुभ सावित्रीम्। जगती छन्दोयस्या अथ सा जगती ता जगती सावित्री वैश्यस्य त्रिष्टुभ सावित्री मनु ब्रूयादित्यनुपपद्यते। सर्वेषां वा गायत्रीं यद्वा सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशा गायत्री मेव गायत्री छन्दसका मेघ सावित्रीं सवितृदेवताका तत्सवितुरिति सकल वेदशास्त्राभ्यानां अथमनु ब्रूयात् ॥ पारस्करगृह्यसूत्रे।

अर्थात्-गायत्री ब्राह्मण को त्रिष्टुप् क्षत्रिय को और 'जगती' वैश्यको उपदेश देवे। या ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों को गायत्री ही का उपदेश करे। यह पक्ष (१० सूत्रोक्त) वेद की सद्य शाखाओं के अनुकूल है। इसी प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र में भी सद्य के लिये गायत्री मन्त्र का विधान है।

“अथोपमीदत्यधीहि भो सावित्रीं मे भयानन्त्रयीत्विति ॥ ३८ ॥ तस्मा

अन्वाह षष्ठोर्होत्रेण अकश इति महाद्याहतीष विद्वताञ्जकारान्ताः ॥३८४॥
गौ० प्र० २ खं० १०

भा०—(उपेनधन समय) अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़कर मन्त्रों से प्रार्थना करे कि हे गुरो! मुझे वेद पढ़ावें, गायत्री उपदेश करे ॥३८॥ इस प्रकार बालक कर्त्तक वेदाध्ययन और उस का प्रारम्भ सूचक सावित्री मन्त्र का, आचार्य एक २ चरण कर उपदेश करे ॥ ३८ ॥ ४० ॥

—यहां—यह नहीं लिखा गया है कि—ब्राह्मण आदि भिन्न २ वर्णों की गायत्री, त्रिष्टुप् आदि भिन्न २ मन्त्रों का उपदेश करे, किन्तु सब के लिये एक ही गायत्री गायत्री के उपदेश का विधान है।

बया स्त्री को भी पुरुष के समान गुरु से—शिष्य होना चाहिये ?

गोभिलगृह्यसूत्र में लिखा है कि स्त्रियों का केवल एक पति ही गुरु है, अन्य नहीं, उनके इस बात की अन्यान्य प्राचीन एवं नवीन सब ही शास्त्रों में निषेध है कि "पतिरको कुलस्त्रीणां" अर्थात् स्त्रियों का गुरु, केवल पति ही है, जो कुछ सांसारिक या पारमार्थिक कार्य हो, सब ही पति के उपदेशानुसार करे। स्त्री को तीर्थ यमन, अतीपवास, सब ही का निषेध है, केवल पति ही की सेवा करना उस का प्रधान कर्त्तव्य है।

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥ गौ० प्र० २ खं० ३८ ॥
'अनुमन्त्रिता' सा षष्ठी, 'गोत्रेण' प्राप्तेर्गोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरुं' पतिम् 'अभिवादयते' ॥ १२ ॥

पत्नी इस प्रकार वाक्य बोलती हुयी अमुक गोत्रा, अमुक नामवाली आप को (पति को) अभिवादन करती हूँ" चरण झूकर प्रणाम करे। अंगरेजी बाल के अनुसार "गुहसीनिंग" (। केवल नमस्ते न करे) इसी प्रकार अन्यान्य गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रों में प्रमाण है।

॥ मधुपर्क में गौ का बया होता था ? ॥

आचार्य या ऋत्विक् आदि बड़े पुरुष के आने से उन की पूजा मधुपर्क-विधि से करनी चाहिये, यह हमारे शास्त्रों का लेख है। और प्राचीन समय जब आर्य धर्म यथावत् उत्थति शर बढ़ा हुआ था, उस समय वैनी ही विधि से पूजन भी हुआ करता था, यह बात भी इतिहासों में प्रसिद्ध है। अथ वह बात अत्यन्त ही अपरिचित हो गयी अतएव उस विषय में कई प्रकार के संग्रह, भी उत्पन्न होने लगे हैं। १ आसन, (विष्टर) २ पाद्य, ३ अर्घ्य, ४

आचमन ५ मधुपर्क एवं गौ, ये छ-वस्तु आगत महात्माओं के मत्कारार्थ दिया-जाती थी। (१) बैठने के लिये आसन, पैर धोने के लिये "पाद्य," हाथ धोने को 'अर्घ्य', मुख शुद्धि के लिये "आचमन," भक्षण-के लिये दधि, घृत, मधु आदि से बना 'मधुपर्क' और भेट के लिये 'गौ'; ये छ आँ बात होने से वह पूजन साङ्गोपाङ्ग होता। अब यहा यह प्रश्न है कि मधुपर्क में जो भी दिया जाती थी उस का क्या होता था? क्या यह गौ आये हुये महात्मा को भेट दिया जाती थी या उस गौ का बध करके आये हुये प्रतियि को उस उस का मास खिलाया जाता? वेद-के वाक्य ऋषियो के धर्मशास्त्र, और कल्पसूत्रो की जो रीति और प्रसिद्ध पण्डितो के उदाहरण देखते हैं तो उक्त दोनों ही बातें होती थीं यही प्रतीत होता है; क्योंकि "प्रातिघ्येष्टि" प्रकरण की, ब्राह्मण श्रुति में (२) यह लिखा है कि-जब किसी मनुष्य का राजा आवे या श्री कोई पूज्य पुरुष अपने घर पर आवें तो, कई लोग क्या तो- किसी उदा (बेल-) को, या बन्ध्या गौ को छेदन कर उस का सम्मान क्रिया करते, इत्यादि। स्मृति में लिखा है कि (३) क्या तो किसी बड़े वृषभ, को या कोई बड़े बकरे को आये हुए श्रोत्रिय के लिये बलि देवे, कल्पसूत्रकार आश्वलायन भी लिखते हैं कि आगत श्रोत्रिय यदि गोबध कराया चाहे तो "नष्ट हुषा मेरा पाप, पाप मेरा नष्ट हुआ"-(४) इस मन्त्रकी जपके हा, करो' इसप्रकार बधकी आज्ञादे। तथा सान्धेदीय लाट्यायनमन्त्र में लिखा है, कि जब गौ सम्मुख लाके खड़ी कर दिया जावे, तब उसके बधार्थ अतिथि यह वाक्य बोले कि 'हा, करो' इत्योदि विविध वाक्यो से प्रतीत होता है कि मधुपर्क के समय अवश्य गौ का बध होता था, यदि कल्पसूत्रोक्त "कुरुते" कारयिष्यन्(५) इत्यादि पदो का और ही कुछे अर्थ है बध अर्थ नहीं, ऐसा कहो तो, आश्वलायन आगे लिखते हैं कि (६) बिना मानसे मधुपर्क ही नहीं होता और किसी पशु के मास का वहा कहीं विधान है नहीं सिवाय गौ के। सुतरां उभी का वहा विधान समझना होगा इत्यादि प्रमाण से प्रतीत होता है कि मधुपर्क में गौबध होता था। परन्तु उन्हीं

(१) विश्व पाठमन्त्रान्तो मधुपर्कौ गौनिप्रत्येक विवेदयते । आश्वलायन गृ० १ । १०४ । ७

(२) सधैवाय मनुष्यराज आगतेऽन्यमिन् वारतन्मुषाण वेदन वाचदने ॥ आ० शिल्पय मात्स्य

(३) यदाथ वा महाज वा श्रोत्रियोपरपवन् वा० स्मृ० आ० श्लो० १८

(४) हनोमे पावमा पावमा मे हनन्ति जपिनो कुरुतेति तवासा वागयिष्यन् आ० गृ० सू० १ । १० । २६

(५) कुरुतेति मन्त्रिवापनाया तपान ॥ ला० श्लो० सू०

(६) तामाम मधुपर्क आश्वलायन गृ० १ । १६ । २८

श्रुति स्मृति और कल्पसूत्रों की सम्मति से यह भी सिद्ध होना है कि मधु-
पर्क में गोबध नहीं भी होता था ? श्रुति में लिखा है (१) कि "पहं गौ रुद्र-
देवताओं की माता है; वसु देवताओं की पुत्री है, आदित्य देवताओं की
बहिन है और असृत स्वरूप दुग्ध के उत्पत्ति का स्थान है। इसलिये मैं ने
त्रिज्ञासमान जनो के प्रति वार २ कहा-है कि इस अखण्डनीय निरपराध गौ
का बध मत करो 'इत्यादि"। तथा स्मृति में लिखा है कि (२) जो शरणा-
गत को मारे, या लोक जननी गौका बध करे वे महा पापी होते हैं। तथा
कल्पसूत्रकार ने जैसा बध पक्ष लिखा है (३) यथा 'माता रुद्राणा' इत्यादि मन्त्र
को, जप के कहे कि "हा, इस को छोड़ दो यह घाम चरे" लाटघायन ने भी
ऐसा ही कहा है (४) इत्यादि। दोनों पक्ष के वाक्य देख के यही सिद्धान्त होता
है कि गौ का बध और उत्सर्जन दोनों ही वर्तित होती थीं। यद्यपि स्थान २ में
गौका नाम "अचन्या" और अदिति" आते हैं जिन में वेदोक्त मत में गौ की
अबध्यता और अखण्डनीयता निश्चिन है परन्तु "तद्यथैवान्ये" इत्यादि उक्त
ब्राह्मणोक्त वाक्य में कब स्पष्ट गोबध का विधान लिख दिया है तो उक्त
नाम लिखने ही से जो गोबध न किया जावे, यह एक मात्र सामान्य बात
है जैसे "न हि स्यात् सर्वभूतानि, यह श्रुति कहती है कि किसी जीव को भी
हिंसा मत करो, किन्तु "अग्नीसोमोयं पशु मालाभेत" यहा "अग्निषामपागी"
में श्रुति, पशुहिंसा का विधान करती है।

मीमांसक लोग जैसे यहा पूर्व श्रुति को सामान्य विधि और अग्नि को
प्रयत्न और यथार्थ समझते हैं। इसी विशेष विधि मान के पूर्व श्रुतिकी उपेक्षा
कर, यागीय हिंसा विधि ही को प्रकार यहा भी हिंसा पक्षवादी लोग (तद्
यथैव) श्रुति के बल से हिंसापक्ष ही को यथार्थ समझते है सुतरा उन के मत
से जो मधुपर्क में श्रौत गौहिंसा होती थी वह कुछ अयोग्य नहीं समझी जाती
थी। यद्यपि श्रुति में उत्सर्जन पक्ष भी लिखा है किन्तु जो लोग मासभक्षी
थे वे इस (त्याग पक्ष) को पसन्द नहीं करते। मास ही का देना और खाना
अतिथि का सत्कार समझते थे। सुतरा मास भक्षियों के लिये जहा पूज्य और
पूजक दोनों मास भक्षी होते थे, मधुपर्क में गोबध होना अच्छा समझते और

(१) माता रुद्राणा दुहिना वसना वसुणा रुद्राणा मासृतस्य मासि असृतघात नि वपत्रजनाय मगमप्रागमदिनि वधिष॥

(२) शरणागतं वद्वयादगा का मरुस्य मानसम् ।

(३) गना रुद्राणा दुहिना वसनामिम त्रिपिनव नुमना ना मुन ग मउन्

(४) मधुपर्क मा पूज्य २ मदि न ना

जो लोग मांसभक्षण से निवृत्त, ये, वे, उत्सर्जन अर्थात् मधुपर्क के समय गो का बध न करके त्याग ही की उत्तम समझते। इन्हीं बात का आभास महा कवि, भवभूति ने अपने उत्तररामचरित नाटक में दिखाया है (१) अस्तु। यदि ऐसा कहो कि मांसभक्षी सभी लोग मधुपर्क में गोबध करते थे यह भी ठीक नहीं, बहुत लोग "अह्न्या" नाम की लाज करते, किन्तु "अमांसी मधुपर्कं न भवति" इस बात के पालनाथ बकरे का मांस अवश्य भक्षण करते थे, इसलिये, "महोक्ष वा महाजं वा" यहां स्मृति में व्याज्वलक्य ने गोबध से निवृत्ति लोगों के लिये "महाजं" इस पद से बकरे का बध भी लिखा है। और याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याता मिताक्षराकार ने तो इस का अभिप्राय ही दूररा लिखा है (२)। वह लिखते हैं कि श्रोत्रिय के आगमन समय में न तो कुछ खेल, या बकरा, उन के भेंट करे और न उस का बध ही करे। जब श्रोत्रिय पूजन, गृहस्थमात्र का धर्म है, तो प्रत्येक श्रोत्रिय के लिये वेचारे गृहस्थ कहा से खेल और बकरे ला सकते हैं, क्योंकि कोई श्रोत्रिय तो गृहस्थ के घर में नित्यप्रति आया ही करेगा। यदि बधपक्ष की बात की बात कहे, तो भी उचित नहीं, क्योंकि जिस बात से स्वर्ग की हानि और लोक निन्दालड़ी हो जाये, वह बात चाहे धर्म कह कर सिद्धि भी हो, तो भी करनी उचित नहीं, (३) इत्यादि धर्मशास्त्र के वाक्य हैं।

यद्यपि उक्त दोनों ही पक्ष सदा से चले आते हैं, किन्तु उन में सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का निर्णय करना मीमांसा शास्त्र का काम है, अतएव हम मीमांसा शास्त्रके अनुसार ही उक्त बातका विचार करते हैं। केवल यही बात मान लें कि ये दोनों बात सदा से ही होती हैं, तो दोनों ही प्रमाण या यथार्थ हैं। यह नहीं हो सकता, क्योंकि भली बुरी दो प्रकार की बातें सदा ही होती रही हैं जिस में सदा की बात मान के चोरी या व्यभिचार आदि बुरी बातें कभी अच्छी या प्रमाण नहीं हो सकती। यदि कदाचित वेद प्रमाण से गोबध प्रमाण कहो तो वेदप्रामाण्य का विचार तो मीमांसा के

(१) माण्डवनि । समासीमधुपर्क इत्याग्नेय बहुमय माना श्रोत्रियाणांमभयत् । ननुसर्वा महोष वा निर्वृतं गृहमेधिन तं हि भवत्प्रवृत्तः । समागता न—अनिवृत्तमात्मानमेव । सर्वगृहो मयने निवृत्तमास्तु । तत्र भगवन् जनतः । पशुं इति ॥

(२) महान्त मुहूर्त्तं धैर्येय महाजं वा श्रोत्रियाय उत्तमक्षणाय उपरम्येत् । अक्षर्यं ययमराभि परि-
बन्धित इति मन् प्रन्धये न तु दायाय व्यापदनाय वा । यथा गवमनदु भावर्द्ध धर्मिन । प्रश्रियय मुचाऽऽमवान् ।
६६ अथवा मन् विद्वेध धम गान्वावोऽस्तु । इति निरुपायः ।

(३) ६६० ४३३६ मेदव, मनुमर्ग ॥

अधीन है ! कौनसा वेदवाक्य किसी रीति से प्रमाण हो सकता है, इस का निर्णय बिना भीमांसा के नहीं हो सकता, यदि सब ही वेदवाक्य प्रमाण हो जावें तो "वनस्पतयः सत्रमासत" "सर्पाः सत्रमासत" अर्थात् वृक्षों ने यज्ञ किया, इत्यादि वाक्यों का भी प्रमाण होना चाहिये, परन्तु इन का प्रमाण नहीं माना गया है, क्योंकि अचेतन वृक्ष आदि यज्ञ नहीं कर सकते। उक्त वाक्य का प्रामाण्य रखने के लिये भगवान् जैमिनि-कहते हैं (१) कि "समस्त वेद का तात्पर्य कर्म कराने में है, जिन वेद वाक्यों में कर्म की विधि नहीं पायी जाती वे सब अनर्थक वचन हैं, किन्तु विधि वाक्य के साथ जहां उन की एकता हो जाती है, तो वे भी वाक्य प्रमाण हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। यद्यपि अचेतन वृक्ष यज्ञ नहीं कर सकते तथापि इन वाक्य से यज्ञ विधि की प्रशंसा है, जैसे कोई कहे कि देखो ! "फलवान् होने से वृक्ष भी अपना सिर झुका लेते हैं" तो इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि ऐश्वर्यवान् की सदा नम्र ही रहना चाहिये इत्यादि, इस प्रकार यहां भी यही तात्पर्य है कि अचेतन वृक्ष भी जय यज्ञ करते हैं, तो चैतन्य मनुष्य को तो वह अवश्य ही करना चाहिये। इसी अभिप्राय से जैसे "वनस्पतयः सत्रमासत" इस वाक्य को सार्थक किया है, वैसे यहां भी विचारना चाहिये।

"तदयथैवान्ये०" इत्यादि वाक्यों में जो गोघ्न से आगत महत् पुरुषोंके पूजन करने का लेख आता है, इस का भी तात्पर्य कुछ गोघ्न करने पर नहीं है। किन्तु उस का तर्क यह है कि वह "आतिथ्येष्टि" प्रकरण का वाक्य है, वह प्रकरण अतिथि पूजन का है, यहां जितने का जितने वाक्य है, उन का तात्पर्य अतिथि के उत्कृष्ट पूजन एवं उस की स्तुति में है, अतएव उक्त वाक्य का भी यह अभिप्राय है कि जय गौ की हिंसा करके भी लोग अतिथि का पूजन करते करते हैं, तो अन्यान्य रीति से तो सभी प्रकार उसे (अतिथिपू०) करना ही चाहिये यथे ! यही बात उक्त श्रुति में है, कुछ गोघ्न का विधान नहीं है, यह उक्त वाक्य को गोघ्न का विधान मानें तो "मागा मनागामदितिम्बधिष्ट" इस हिंसा निषेधक श्रुति वाक्य का विरोध होवेगा, अतएव यहां यह व्यवस्था समझनी चाहिये कि हिंसा बंधन करने वाला उक्त वाक्य केवल अर्थवाद वाक्य है। और हिंसा विधान की घोषक कोई युक्ति उस में लिखी नहीं किन्तु "मगामता गाम्" इत्यादि वाक्य विधि है। और उस में "अनागाम्" अर्थात् "निरपराधिनीम्" यह हिंसा निषेध की

पोषक युक्ति भी लिखी है अतएव पहिला वचन निर्बल एवं “हिंसा निषेधक वचन प्रबल है। तथा यह भी एक मीमांसाशास्त्र का मत है कि जिस वाक्य में “यत्” “तत्” “अन्य” “इव” और “अदः” इत्यादि शब्द आते हैं, वह वाक्य विधि वाक्य के आगे निर्बल पड़ जाता है। अत एव यहां भी “तद्” “यथा” “अन्य” इत्यादि पद घटित “तद् यथै वान्ये०” इत्यादि गोवध-सूचक ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा “मागा मनागा मदितिं वधिष्ट” इस संहि-तोक्त विधि वाक्य का विशेष प्रायत्न्य है, सुतरां जो लोग हिंसा एवं मांस के लोलुप थे और इस मीमांसाशास्त्र के गहन आशय को न समझते, वे ही लोग पहिले अतिविधि पूजन में गोहिंसा या किसी अन्य जीव की हिंसा करते, परन्तु शास्त्रानुसार मुख्य बात तो हिंसा का निषेध पक्ष या उत्सर्जन पक्ष ही प्रमाण है, वध पक्ष प्रमाण नहीं * ।

** श्री रामचन्द्रायनमः ।

स्वस्ति श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मणो शुभ माशीः ।

तामसपूजापेक्षया सात्त्विकपूजा देवताया अधिक सन्तोषाय पूजयितु-
श्चाधिककल्याणाय भवतीति ममापि सम्मतम् । परं मूल्यद्रव्ये न्यूनता न
करणीया वासनावैचित्र्येण तामसप्रवृत्तावेव विश्वासभाजान्तु सात्त्विके दृढश्रद्धा
सम्पादनं विना प्रवृत्तिपरिवर्तनं न कार्यम् । इति शिवम् भाद्र शुक्ल ७ रविः ॥

श्री पण्डित शिवकुमार शर्मा ।

भाषार्थः—तामस पूजा की अपेक्षा सात्त्विक पूजा देवता के सन्तोष एवं पू-
जा करने वाले का कल्याण का निमित्त होता है। इस में मेरी भी सम्मति
है। परन्तु पूजा के मूल्य द्रव्य में कमी न करनी वासना की विचित्रता से ता-
मस प्रवृत्ति में विश्वास करने वालों की, सात्त्विक में दृढश्रद्धा के विना
प्रवृत्ति का परिवर्तन न करे ॥

पशुसंज्ञपन वा यज्ञ में हिंसा ॥

श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी की सम्मति ॥ (आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र
भूमिका पृ० ४-५)

* यह यज्ञ में हिंसा विषय पर सम्मति सुप्रसिद्ध सम्पादक “धर्म दिवाकर (भाग ४ मयूख ४ सम्मत १६४३
पृष्ठ १३२—३७)” की है ॥ यह पत्र कलकत्ते से निकलता था, अब बन्द हो गया ॥

** मध्य हिन्द में एक मुठालिया—छोटी सी रियासत है, यहा के माननीय श्रीमान् राजा मुठालियाधीरा
ने श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी से नवरात्रि के समय इस पूजा में बन्दे आदि के बलि की प्रथा रोकने में
शास्त्रीय व्यवस्था मांगी थी जिस पर उक्त पण्डित जी ने इस धरा में सम्मति लेने के लिये बनारस के सुप्रसिद्ध
श्रीमान् पं० रिवल्भार शारदा जी से पत्र द्वारा पूजा था इमी पत्र का उत्तर ऊपर दिया है ॥

हमारे पाठक महाशय इस बात का भी विशेष ध्यान रखें कि इन सूत्र ग्रन्थों को जब हम ठीक प्रासांगिक मान लेते हैं तब यह सिद्ध है कि जिस देश काल में और जिस रीति से जो काम, शास्त्र में, जिस के लिये कर्त्तव्य कहा है, वह उभी देश काल में, उभी रीति से किया हुआ, उसी मनुष्य के लिये उचित धर्म है। अन्यथा किया हुआ, वही अधर्म हो जाता है। जैसे अपने शयन स्थान में ऋतु काल में रात के समय विवाहित स्त्री से गमन करना गृहस्थ के लिये धर्म और गृहस्थ वैसा न करे, तो अधर्म है। ब्रह्मचारी संन्यासी को वैसा करनेसे अधर्म है, तीर्थ यात्रादि देश में, वन में प्रातःकालादि दिन में गृहस्थ को स्वभार्या गमन में भी अधर्म है। यदि शास्त्र की आज्ञा न मानें, तो धर्म अधर्म, कुछ नहीं बनता। रोना सर्वत्र बुरा समझा जाता है, परन्तु (अन्यत्र त्वद्गुरुदत्तयाः संविशन्तु) वेद प्रमाणानुसार पिता के घर से पति-गृह को जाती हुयी कन्या का रोना अच्छा माना जाता है। गाली देना सर्वत्र बुरा काम है, पर विवाह में स्त्रियां तथा पुरुष गालियों को शुभ मानते हैं। इसी के अनुसार यज्ञादि में पशुओं का आलम्बन भी पूर्वकाल में बुरा नहीं माना जाता था। परन्तु लोक रीति से अपना मांस बढ़ाने के लिये शास्त्र विरुद्ध पशु-हिंसा अत्यन्त बुरी मानी जाती थी। अब कुछ ऐसा समय आगया है कि शास्त्र में लिखी बातों से तो लोग अधिक चौकते हैं, परन्तु मांसहारी लोगों के लिये नित्य २ हज़ारों गौ आदि पशु मारे जाते हैं, जिस को सभी जानते हैं, उन से इतने नहीं घबराते, पर जब ऋषि आचार्यों ने ऐसा विकराल समय आते देखा तब पहिले से ही (लोकविक्रुष्ट मेघघ) लिख गये कि जो धर्म जिस समय लोक में बुरा समझा जाये, उस समय वह कर्त्तव्य नहीं है, इस लिये "पश्वालम्ब" कर्म इस समय कर्त्तव्य नहीं है। इस कारण ऐसे विचार इन ग्रन्थोंमें देखकर उद्वेग वा संकोच नहीं करना चाहिये। देखिये विवाह यज्ञोपवीत की सभी पट्टतियों में (ममव्रतेते हृदयं) मन्त्र से कन्या के हृदय का स्पर्श कर कर ऐसा लिखा है। सो पहिले लोगों का सिद्धान्त तो (अर्थ कामेष्ट्य सक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते) के अनुसार था कि धर्म के सामने लोभ और कामासक्ति उन के विचार से पृथक् मूर्ख के सामने अन्धकार के तुल्य समूल गूट हो जाती थी, तब विवाह के समय कन्या के हृदय का स्पर्श करने में कुछ भी संकोच नहीं होता था, पर अब ऐसा करने में सभी को संकोच जान पड़ता है। जो इसका कारण अन्तःकरण का काम लोभादि से दूय जाना है। ऐसे पश्वालम्ब में अन्तःकरण में शुद्ध धर्मभाव न रहने से लज्जा भय वा संकोच होता है। इसीलिये हम लोग इन दामों के अधिकारी नहीं रहे।

सारांश यह है कि हमारे पाठक महाशय (पशुसंज्ञपन) कर्म को अपने विचारानुसार सर्वथा अनुचित ही समझें तो भी यह समझलें कि हमसे ऐसे कर्म करने करानेका कोई आग्रह भी तो नहीं, करता, प्रत्युत धर्मशास्त्र मना करता है इनलिये हमको ग्रन्थोंमें लिखेहोने मात्रसे दोष करना व्यर्थ निष्प्रयोजन है। हमको अपनी दृष्टिसिद्धि के लिये समयानुसार जो २ यातें इन ग्रन्थोंमें उपकारी प्रतीत हों, उनसे लाभ उठाना चाहिये। सब काम सब देशकालों में सब के लिये, जब कदापि हो ही नहीं सकते तो, इन्हों ग्रन्थों का सब खेर हमारे अनुकूल कैसे हो जावेगा ? जैसे, शीतकाल में खसखस की टट्टी व्यर्थ होने पर भी फिर गर्मी आने पर स्वयं सायक हो जाती है, वा जैसे गर्मी के दिनों में वा गर्मदेश में शीतके यख घोषामात्र व्यर्थ प्रतीत होने पर भी फिर शीत का देश वा काल आने पर सायक उपकारी हो जाते हैं। तथा जैसे पंसारी की दूकान में रक्खाहुआ विष कभी किसी अधिकारी के लिये श्रमृतवत् उपकारी हो जाता है इसलिये उस से द्वेष घृणा वा अरुधि करने वाले की भूल है, वैसे ही इन ग्रन्थोंके पशु संज्ञापनादि विषयों से द्वेष घृणा कुछ नहीं करे

ह० भीमसेन शर्मा, सम्पादक ब्राह्मणसर्वस्व—इटावा

उपसंहार ।

अन्त में निवेदन यह है कि इस गोभिलगृह्यसूत्र को अनुवाद में हमें पं० सत्यव्रत सामश्री जी की संस्कृत टीका से बड़ी सहायता मिली इस लिये इन महात्मा को हम अन्तःकरण से कोटिश; धन्यवाद देते हैं; पुनः इस के मुद्रण कार्य में श्री १०८ पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रक संशोधनादि कार्य में हमें सहायता दी है। इस कारण हम इन पण्डित जी के भी कृतज्ञ हैं।

यह पुस्तक पं० सत्यव्रत सामश्री जी मुद्रापित ५) रुपये की मिलती है, परन्तु इस में एक भारी त्रुटि यह है कि गृह्यसूत्रोक्त संस्कारों के साथ संस्कृत टीकामें मन्त्रों की प्रतीकें दीयीं तो हैं परन्तु मन्त्र नहीं दिये हैं और मन्त्र ब्राह्मण अलग लेने से ५) और देने पड़ते हैं इस प्रकार यदि सर्वाङ्ग सम्पन्न गोभिलगृह्यसूत्र कोई लेना चाहे तो उसे १०) रुपये खर्चने पड़ेंगे। हमने मन्त्र ब्राह्मणोक्त सब मन्त्रों को यथास्थान (जहां २ जरूरत हुई) छपवा दिये हैं और ४० पृष्ठ पर भूमिका एवं भाषानुवाद होने पर भी मूल्य केवल २॥) ही रक्खा है। द्वितीय निवेदन यह है कि गृह्यसूत्रोक्त कई एक विषयों पर हमने भूमिका में—इस लिये विशेष विचार नहीं किया है—अब ही वेदों के भिन्न २ शाखा के भिन्न सब गृह्यसूत्र हैं मिले नहीं है जिन का अन्वेषण होरहा है, आशा है कि हम आश्वलायन और पारस्करगृह्यसूत्र की भूमिका में गृह्यसूत्रोक्त प्रत्येक विषयों पर पूर्ण विचार लिखेंगे।

भवदीय—

शास्त्रप्रकाश कार्यालय—मधरापुर

डाक—बिड़रूप (मुजफ्फापूर)

} क्षत्रियकु० उदयनारायणसिंह

गोभिलगृह्यसूत्रस्य विषयसूचीपत्रम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

विषयाः पृष्ठानि

(सर्वकर्ममाधारणविधयः) १

१ ख० अधिकार्यादिनिर्णयः २

अग्न्याधानम् ३

नित्यहोमकालः ७

२ ख० उपयीतविधिः ८

आचमनविधिः ११

(अथ ब्रह्मयज्ञप्रकरणम्)

३ ख० वैश्वदेवविधिः १६

४ ख० घलिहरणम् २०

(अथ दर्शपौर्णमासप्रकरणम्)

५ ख० कालनिर्णयः २९

उपवासदिनकर्त्तव्यता ३२

६ ख० उपवामदिनाकर्त्तव्यता ३५

वृषानिरसनम् ३९

ब्रह्मस्थापनम् ६८

७ ख० तण्डुलविधिः ३९

स्थालीपाकविधिः ४०

आज्यविधिः ४३

८ ख० उपघातहोमविधिः ४५

उपस्तीर्णाभिचारितविधिः ४५

स्विष्टकृद्होमविधिः ४७

महाव्याहृतिहोमः ४८

आवापकालनिर्णयः ४८

परिसमूहनादीनां तन्त्रविधिः ४८

मेतशाद्यनुप्रहरणम् ४९

मन्त्रभेदकथनम् ४९

यज्ञवास्तुकर्म ५०

९ ख० यागान्त्यकर्माणि ५१

महावामदेव्यमास ५७

अथ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

(विवाहादिसंस्कारप्रकरणम्)

१ ख० कन्यापरीक्षणम् ५७

ज्ञातिकर्म ५९

कुशकण्डिकाकृत्यम् ६०

२ ख० परिणयविधिः ६३

पाणिग्रहणम् ६५

३ ख० उत्तरविवाहः ६८

४ ख० यज्वानयनम् ७२

५ ख० चतुर्थीकर्म ७५

गर्भाधानम् ७६

६ ख० पुंसवनम् ७८

७ ख० मीमन्तकरणम् ८२

सोप्यन्तीहोमः ८४

जातकर्म ८५

मेधाजननम् ८५

८ ख० निष्क्रामणम् ८७

नामधेयकरणम् ८८

पौष्टिकं कर्म (जन्मतिथिः) ९०

मूर्द्धाभिधानम् ९१

९ ख० चूडाकरणम् ९२

१० ख० उपनयनम् ९७

॥ अथ तृतीयः प्रपाठकः ॥

१ ख० समावर्त्तनंगोदानं वा १०६

ब्रह्मचारिकृत्यम् ११२

महानाक्षीसाम १२२

३ ख० उपाकर्म १२५

अनध्यायविधिः १२८

अद्भुतविधिः (दुःस्वप्नं) १३०

४ ख० स्नातकविधिः १३२

५ ख० समावृत्तविधिः १३९

६ ख० गोपालनविधिः	१४४	दारिद्र्यनाशकामकर्म	१८४
गोपालनविधिः	१४४	यशस्कामकर्म	१८५
गोयज्ञः	१४६	स्वस्त्यनकामकर्म	१८६
ऋषभपूजा	१४७	आचितशतकामकर्म	१८६
अश्वयज्ञः	१४७	७ ख० वास्तुनिर्माणकर्म	१८८
७ ख० अथणाकर्म	१४८	वास्तुपागः	२०१
८ ख० आश्वयुजीकर्म	१५२	८ ख० अथणाग्रहायणीशेषाक्षतैः	} २०
नवयज्ञः	१५४	काम्यकर्म	
९ ख० आग्रहायणीकर्म	१५७	(२) प्रसादकामकर्म	२०४
१० ख० अष्टकाविधिः	१६१	शङ्कुशतहोमः	२०४
(१) अपूपष्टका	१६२	(यधकामकर्म)	२०४
(२) मांसाष्टकापूर्वकृत्यानि	१६४	स्थिष्ठलहोमः	२०५
॥ अथ चतुर्थः प्रपाठकः ॥		(पण्यकामकर्म)	२०६
१ ख० मांसाष्टकाहोमः	१६७	यशस्कामकर्म सहायकामकर्म	२०७
२ ख० अन्वष्टक्यम्	१६९	९ ख० पुरुषापिपत्यका०	२०७
३ ख० अन्वष्टक्यश्राद्धम्	१७६	आचितसहस्रकामकर्म	२०९
४ ख० पिण्डपितृयज्ञः	१८३	पशुकामकर्म	२०९
(३) शाकाष्टका	१८४	क्षुद्रपशुकामकर्म	२०९
यथाहोमः	१८४	वृष्यविच्छिन्निकामकर्म	२०९
ऋणहोमः	१८५	विषदोषनाशकामकर्म	२०९
हलाभियोगः	१८५	स्नातकस्वस्त्यनकर्म	२०९
(अथ काम्यकर्मप्रकरणम्)		क्रिन्मिनाशकामकर्म	२१०
५ ख० होमपूर्वकृत्यानि	१८७	(अथ अर्हणीयप्रकरणम्)	
भोजननियमः	१८९	१० ख० उपस्थानविधिः	२११
ब्रह्मवर्षसकामकर्म	१९०	विष्टरग्रहणविधिः	२१२
पुत्रपशुकामकर्म	१९०	पाद्यग्रहणविधिः	२१२
उभयकामकर्म	१९०	अघ्न्यग्रहणविधिः	२१३
पशुस्वस्त्यनकामकर्म	१९०	आचमनीयग्रहणविधिः	२१३
(१) प्रसादकामकर्म	१९१	मधुपर्कग्रहणविधिः	२१३
पार्थिवं कर्म	१९१	बहुगोमुक्तिप्रकारः	२१४
भोगादिकामकर्माणि	१९२	गवालम्भनालम्भनयोर्ध्ववस्था	२१५
६ ख० अकालमृत्युपापरोगाभ्यां	} १९४	अर्हणीयपरिगणनम्	२१५
शात्मदेहरक्षाकामकर्म		गोभिलीयटीकापरिशिष्टम्	२१७

सामवेदीयम् ॥

अथ गोभिल-गृह्यसूत्रम् ॥

—○:‡:‡:○—

अथातो गृह्याकर्म्मण्युपदेक्ष्यामः ॥ १ ॥

‘अथ’ ग्रन्थारम्भद्योतकोऽयं निपातः । ‘अतः’ तदानीन्तनाचार्याणां वचोभङ्गीप्रयुक्तमिदम् । ‘गृह्याकर्म्माणि’ गृह्याय हितो गृह्यः, योगरूढ्या अग्निरिति बुध्यते ; वह्यत्पनुपदमेव ‘स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति (२१ सू०)’ इति ; तत्र , कर्त्तव्यानि ‘कर्म्माणि’ नित्याग्निहोत्रहोमादीनि , तदङ्गभूतान्यग्न्याधानादीनि च ‘उपदेक्ष्यामः’ तत्तदितिकर्त्तव्यतां बोधयिष्यामः । गृह्येतिदीर्घशब्दान्दसः ॥ १ ॥ अथ तत्र सर्वकर्मसाधारणविधीनाह—

भा०:—इस के अनन्तर “ *गृह्य” अग्नि में कर्त्तव्य नित्य अग्निहोत्र आदिक और उस के उपयोगी “अग्न्याधान” प्रभृति कर्मों का उपदेश करेंगे ॥१॥

यज्ञोपवीतिनाऽऽचान्तोदकेन कृत्यम् ॥ २ ॥

‘यज्ञोपवीतिना’ किञ्च ‘आचान्तोदकेन’ उदाकाचमनं कृतवर्तव्य पुरुषेण ‘कृत्यम्’ कार्यम् , वह्यमास-कार्यजातमिति ॥ २ ॥

*अग्नि सामान्यतः तीन प्रकार का होता है, १ श्रौताग्नि, २ गृह्याग्नि, और ३ लौकिकाग्नि । अर्थात् ब्राह्मण भाग में जिस का व्यवहार व्यवस्था आदि सुनी गयी है, उसी को “ श्रौताग्नि ” कहते हैं, जैसे गार्हपत्य (अग्नि) प्रभृति । इस के अतिरिक्त और वेदोक्त अर्थात् वेद में गृही के उपयोगी एवं कर्त्तव्य कह कर जानने पर भी जिस की व्यवहारप्रणाली सुनी नहीं जाती अतएव गोभिल आदिक की स्मृति द्वारा उपदिष्ट अग्नि को भी ‘गृह्याग्नि वा स्मार्त्ताग्नि’ कहते हैं । और वेद में जिस के लिये न तो विधि है और निषेध ही है, पर अन्न पाकादि कार्य के लिये जिस अग्नि का लोक में व्यवहार होता है उसे ‘लौकिकाग्नि’ कहते हैं ।

भा०:—आगे कहे जाने वाले कर्मों को यज्ञोपवीत † धारण कर और आचमन करके करना चाहिये ॥ २ ॥

उदगयने पूर्वपक्षे पुण्येऽहनि प्रागावर्त्तनादन्हः कालं विद्यात् ॥३॥

‘ उदगयने ’ उत्तरायणे ‘ पूर्वपक्षे ’ शुक्लपक्षे ‘ पुण्येऽहनि ’ मेघाच्छन्नादि-
दोषशून्यदिने ‘ अन्हः ’ दिवसस्य ‘ आवर्त्तनात् ’ परिवर्त्तनात् ‘ प्राक् ’ पूर्वं
पूर्वाह्णमेव ‘ क्षालम् ’ समयं ‘ विद्यात् ’ जानीयात् , यद्यभ्याशकर्मणां सर्व-
यामेवेति ॥ ३ ॥

भा०:—जहां २ (इस ग्रन्थ में) समय की कोई व्यवस्था नहीं कियी गई हो
कि ‘ अमुक समय अमुक कार्य करना;’ ऐसे स्थानों में समस्त कार्य उत्तरायण
शुक्लपक्ष , निर्दोष (घादल रहित) दिन में दोपहर के पहिले करना
चाहिये ॥ ३ ॥

यथादेशञ्च ॥ ४ ॥

‘ यथादेशमपि कालं विद्यात् । यत्र यत्र च विशेषतः कालमादेद्यामस्तत्रतत्र
स सप्त्य काल आदरणीयो न नु सामान्यतः उक्त उदगयनादिकइति ॥ ४ ॥

भा०:—जहां २ जिस २ कालादिक की व्यवस्था करेंगे, वहां २ वही २
काल माननीय होगा, सामान्यतः ३ सूत्रोक्त काल नहीं ॥ ४ ॥

सर्वाण्येवान्वा हार्यन्ति ॥ ५ ॥

‘ सर्वाणि ’ गृह्यकर्माणि ‘ आहार्यन्ति एवं ’ आहरणीयानि कुशाद्य-
पकरणानि तद्विशिष्टान्येवेति ॥ ५ ॥

भा०:—सब ही गृह्य कर्मों में कुशा प्रभृति अनेक “ उपकरण ” (सा-

† उपवीत—जो वामस्कन्ध से दहिने पार्श्व में लटकता हो उसे ‘ यज्ञोप-
वीत ’ और जो दहिने स्कन्ध से वामपार्श्व में लटकता हो उसे “ प्राचीनावीत ”
और जो माला की नाईं गले में पहना जाता उसे “ निवीत ” कहते हैं ॥
पितृ कार्यों में “ प्राचीनावीती, ” दैव कार्यों में “ यज्ञोपवीती ” और
जिस समय देव या पितृ कार्य कुछ न हो, ऐसे समय एवं मल मूत्रत्याग, या
भ्रमणादि शारीरिक कार्य करते समय “ निवीती ” होना चाहिये । यह
एक प्रकार का संकेत है । पूर्वकाल में प्रायः सब ही लोग अधिक समय दैव
कार्य में व्यतीत किया करते थे इतरां वे ही लोग प्रायः “ यज्ञोपवीती ”
रहते थे । इस समय के कर्मभ्रष्ट द्विजों को “ निवीती ” होना ही उचित
है, इन के प्रमाण क्रमशः इसी ग्रन्थ में आगे मिलेंगे ।

सामग्री) आवश्यक होते हैं ॥ ५ ॥

अपवर्गोऽभिरूपभोजनं यथाशक्ति ॥ ६ ॥

‘अपवर्ग’ कर्मसमाप्तौ ‘अभिरूपभोजनम्’ अभिरूपः शास्त्रबोधिततया यद्योपयुक्तः; तस्य तयोः तेषां वा भोजनं ‘यथाशक्ति’ स्वकीयायाद्यनुगतं कार्यमिति ॥ ६ ॥ इति सर्वकर्मसाधारणविधयः ।

भा०:—सब ही कर्मों की समाप्ति में यथाशक्ति यथाशास्त्र उपयुक्त एक, दो, या अधिक व्यक्ति को भोजन कराना चाहिये ॥ ६ ॥



अथाग्न्याधानविधीनाह—

ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्याथ्समिधमभ्याधास्यन् ॥७॥

सकं ‘गृह्याकर्माणि’ इति, तत्र कौऽसौ गृह्योऽग्निः? प्रथमन्तावत् स एव उपदिश्यते ‘ब्रह्मचारी’ इत्यारभ्य ‘गृह्योऽग्निर्भवति’ इत्यन्तेन घञसन्दर्भेण । ‘ब्रह्मचारी’, ‘वेदम् अधीत्य’ गुरुकुले स्थित्वा वेदाध्ययनं समाप्य ‘अन्त्यां’ ब्रह्मर्ष्यसमापिकां ‘समिधमाधास्यन्’ समिधमाधातुं प्रवृत्तः “अग्निस्माधानं कुर्वीत (१४ सू०)” इत्यनेन सम्बन्धः । प्रतिदिनं यथाऽऽचार्याप्रावेव समिधमाधत्ते तदानीं न तथा आदधीत अपितु अपश्नाहरजादिपूर्वकं अग्निप्रणयनं कृत्वैव तत्र स्वकीयेऽग्नीं तामन्त्यां समिधमादधीतेति ॥ ७ ॥

भा०:—ब्रह्मचारी (गुरुकुल में रह कर) वेदाध्ययन के अन्त में शेष ‘समित्’, (होमीय काष्ठ) हवन करने में प्रवृत्त होकर ॥७॥

जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मर्ष्यसमापिकान्त्यसमिदाधानकालेऽग्निग्रहणं न कृतं भवेत्, तदा पूर्वपूर्वदिनवत् गुरोरप्रावेव ता मन्त्यां समिधमादधीत । पुनः कौऽग्निग्रहणकालः? इत्याह—‘वा’ अथवा ‘जायायाः’ ‘पाणिं’ ‘जिघृक्षन्’ ग्रहीतुमिच्छन्, पाणिग्रहणात् पूर्वमेव ‘अग्निस्माधानं कुर्वीत (१४ सू०)’ इति ॥८॥

भा०:—या जाया के पाणिग्रहणार्थ (विवाह के लिये) समुद्यत होकर ॥८॥

अनुगुप्ता अप आहृत्य प्रागुदक्प्रवणं देशेऽथ्समं वा परिसमुह्योपलिप्य मध्यतः प्राचीं लेखामुल्लिख्योदीचीञ्च सथ्सहतां पश्चात् मध्ये प्राचीस्तिष्ठ उलिडख्याभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥

तदग्निप्रणयनाय कीदृशः स्थानसंस्कारइष्टः ? इत्युच्यते—‘अनुगुप्ताः’ वि-
यमूत्रप्रक्षेपतेलाभ्यङ्गादिवारणेन सुरक्षिताः ‘अप’ उदकानि ‘आहृत्य’ ‘प्रा-
गुदकप्रवण’ प्राक् उदक् या क्रमनिम्नं यस्य ईदृशं, ‘समं’ समतलं ‘या’ ‘देशं’
स्थानं तैरुदकैः ‘परिसमूह्य’ ‘मध्यतः’ तत्स्थानस्यान्तरे ‘प्राचीं’ प्रागग्रां,
‘च’ अपिच ‘पश्चात्’ तस्यैव पाददेशे ‘उदीचीं’ उदगग्रां ‘संलग्नां’ प्रा-
चीरेखया संहता अपरां, ‘लेखां’ रेखां, ‘मध्ये’ मध्यस्थले ‘तिस्रः प्राचीः’
एव अपराः रेखाश्च ‘उल्लिख्य’ तत् स्थानम् ‘अभ्युक्षेत्’ कुशाद्यप्रजलविन्दुभिः
सिञ्चेत् । तदेतत् स्थानं “स्थण्डिल” मुच्यते । ८

भा०:—*(जिस तालावादिक में जल,मैला फेके जाने, या भूत्र त्याग, या
तेलाभ्यङ्गन, या सेवार आदि द्वारा दूषित नहीं होता, किन्तु राज आह्ला
आदि शासन में विशेष सावधानी से रक्षित हो, ऐसा जल-स्थान से) दोष
शून्य जल लाकर उस से स्थान को लीपे । यह स्थान पूर्व या उत्तर दिशा में
क्रम-निम्न समतल (बराबर) होना आवश्यक है । इस लीपे हुए स्थान के
धीचे में पूर्वाग्र एक रेखा अङ्कित करे और उसी के नीचे एक रेखा उत्तराग्र
करके उसी में मिलावे, मध्य में और भी तीन रेखा खींचे, पीछे उक्त-साये
हुए जल को उस पर छिड़क देवे इसी को “स्थण्डिल” कहते हैं ॥ ८ ॥

लक्षणावृत्तेषा सर्वत्र ॥ १० ॥

‘एषा’ अपआहरणादिका क्रिया ‘लक्षणावृत्’ उच्यते; ‘सर्वत्र’ एव अग्नि-
प्रणयने व्यवहर्त्तव्येति । १०

भा०:—इस क्रिया का नाम “लक्षणावृत्” है । यह अग्निप्रणयन मात्र में
सब जगह व्यवहार के योग्य है ॥ १० ॥

भूर्भुवःस्वरित्यभिमुखमग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥

‘भूर्भुवःस्वः’ इति मन्त्रेण ‘अभिमुखं’ यथास्यात् तथा कृत्वा ‘अग्निं’ ‘प्रण-
यन्ति’ । ‘लिङ्गर्थे लोट् (पाणिनीये ३।४।७)’-इति लोटि, रूपम्; प्रणयेयुः । सर्वकर्मसु
सर्वैः कर्मिभिरैवैव नग्निप्रणयनं कार्यमिति सामान्यविधित्वस्यापनायैव बहुवच-
नम्, सर्वे प्रणयेयुरिति । ११

गृहस्वामी पितादिर्जीवितइति ब्रह्मधर्यावसानसमये पाणिग्रहणकालेऽप्य-
ग्निग्रहणं न भवेत्चेत्,—गृहस्वामिनि स्मृते, यदैव गृहस्वामी म्रियेत तदैव अग्नि-
ग्रहणं कर्त्तव्यमित्याह—

*अग्नि प्रणयन करने के लिये कैसा स्थान प्रस्तुत करना चाहिये इस का
उपदेश किया जाता है ।

भा०:—उस के बाद उस अभ्युक्ति स्थान में “भूर्भुवः स्वः”—इस मंत्र को पढ़कर अपने सम्मुख अग्नि स्थापन करे ॥ ११ ॥

प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ॥ १२ ॥

‘वा’ अथवा ‘गृहपतौ’ पित्रादौ ‘प्रेते’ मृते तदैव परमेष्ठीकरणम्’ कृतचित्र-प्रत्ययस्यैतद्रूपम्, क्रियाविशेषणम्; परमेष्ठितया अग्नेः स्वीकरणं यथास्यात्तथा ‘अग्निसमाधानं कुर्वीत (१४ सू०)’ इति । परमेष्ठिकरणमिति ह्रस्वेकारयुक्तपा-स्तु कापि पुस्तकेऽनुपलब्धत्वात् युक्तः । १२

भा०:—यदि ब्रह्मचर्य की समाप्ति या विवाह समय तक पिता आदि घर । मालिक जीते हों, तो ब्रह्मचारी को अग्नि ग्रहण कब करना चाहिये इस र कहते हैं कि घर के मालिक के मरने ही पर वह अग्नि ग्रहण करे ॥ १२ ॥

अग्निग्रहणस्य सामान्यतः कालत्रयमुक्तम्, तत्रैव विशेषमाह—

तथा तिथिनक्षत्रपर्वसमवाये ॥ १३ ॥

‘तथा’ अग्न्याधाने यथा अन्त्यसन्निदाधानादिः कालोऽपेक्षितस्तद्ददिति । तिथिनक्षत्रपर्वणां त्रयाणामेवैषां शुभानां समवाये—(उत्तरेण सम्बन्धः) ॥ १३ ॥

तादृशसमवायः शीघ्रो न घटेत् चेदाह—

भा०:—अन्त्य सन्निदाधान के लिये जिस प्रकार काल अपेक्षित होता है उसी प्रकार अग्नि स्थापन में भी तिथि, नक्षत्र, पर्व का एकत्र होना आवश्यक है * ॥ १३ ॥

*गुरु गृह में वास पूर्वक वेदाध्ययन समय में प्रतिदिन ही गुरु के गृह्याग्नि में ब्रह्मचारी गण सन्निदाहुति दिया करते, किन्तु पाठ समाप्त होने पर शेष आहुति पूर्ववत् न होकर ब्रह्मचारी के स्व सम्पादित अग्नि में आहुति होनी उचित है, यदि किसी प्रकार की रुकावट से इस समय अग्नि ग्रहण न हो, तो विवाह के पूर्व उसे ग्रहण कर (उषी) अपने ही अग्नि में लाजा होमादि पूर्वक पाणिग्रहण कर्त्तव्य है । परन्तु उस समय यदि पिता वा अपर गृहस्वामी जीवित रहें, तो एकान्त स्थल में, उस समय भी अग्नि ग्रहण करना अनावश्यक है, अतएव गृहस्वामी के मरने ही पर अग्नि ग्रहण करना चाहिये॥

सामान्यतः अग्नि ग्रहण के ये तीन काल कहे गये हैं । १ ब्रह्मचर्य समाप्ति का सन्निदाहुति समय, २ विवाह के समय और ३ गृहस्वामी के मरने पर । अथ इस सूत्र एवं अगले सूत्र द्वारा और भी विशेष रूप से काल यतलाया जाता है ॥

दर्शं वा पौर्णमासे वाऽग्निस्माधानं कुर्वीत ॥१४॥

'वा' अथवा 'दर्शं' अमावास्यायां, 'वा' अथवा 'पौर्णमासे' पौर्ण
स्याम्, 'अग्निस्माधानम्' अग्नेः सम्यक् आधानं धारणं पोषणञ्च 'कुर्वीत' ॥
अग्निश्च सः कुतो ग्राह्य ? इति विधत्ते—

भा०—तिथि, नक्षत्र, पर्व इत के यदि एकत्र मिलने में विसम्भ्र जान
लो किसी अमावास्या या पूर्णिमा तिथि को अग्नि ग्रहण करे ॥ १४ ॥

अग्निकहां से लाकर स्थापन करे—सो कहते हैं कि—

वैश्यकुलाद्वाऽम्बरीपाद्वाऽग्निमाहृत्याभ्यादध्यात् ॥ १५ ॥

'वैश्यकुलाद् वा' वैश्यजातिगृहस्थग्रहात्, अथवा 'अम्बरीपाद्वा' भ्राष्ट्र
वा 'अग्निम्' 'आहृत्य' 'अभ्यादध्यात्' अभ्याधानं ग्रहणं कुर्वीतिति ॥ १५ ॥

भा०—वैश्य जाति के गृहस्थ के घर से, या भ्राष्ट्र (भार) से अग्नि लाकर
स्थापन करे ॥ १५ ॥

अपिवा बहुयाजिनएवागाराद्ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा
वैश्यस्य वा ॥ १६ ॥

'अपिवा' अथवा 'ब्राह्मणस्य वा' 'राजन्यस्य वा' 'वैश्यस्य वा' 'बहुय
जिनः एव' 'आगारात्' अग्नि माहृत्येत्यादि पूर्वेषां सम्यन्धः । बहुयाजिनो
न्याहरणं विधेयम्, स च बहुयाजी, त्रयाणामन्यतमो यः कश्चन भवेन्नामेति
अत्र वैश्यस्यानुष्ठेखे ब्राह्मणक्षत्रिययोरन्यतरबहुयाजिनोऽग्निः ग्रहणीयः स्यात्
तु वैश्यस्य बहुयाजिनः, पूर्वत्रानुक्ते तु बहुयाजिन एव वैश्यस्य स्यात्, तदति
रिक्तस्यापि वैश्वमनोऽग्निग्रहणानिष्टं तत्र भवेदित्युभयत्रैव वैश्यस्योऽक्षेखः ॥ १६ ॥

भा०—या बहुयाजी (जिस के यहां प्रायः यज्ञ होते हों) के घर
अग्नि लाकर स्थापित करे । उक्त बहुयाजी चाहे ब्राह्मण हो, या क्षत्रिय, या
वैश्य, इस में कोई हानि नहीं ॥ १६ ॥

अपिवाऽन्यमथित्वाऽभ्यादध्यात् ॥ १७ ॥

'अपिवा' अथवा 'अथित्वा' अरणिद्वयमन्यनं प्रकृत्यैव 'अभ्यादध्यात्'
'अन्यम्' अपरं नूतनम् अग्निमिति ॥ १७ ॥

भा०—या 'अरणि' (एक प्रकार की लकड़ी होती है जिस के दो लकड़ी
को परस्पर रगड़ने से आग स्वयमेव निकलप्राती है) मथकर दूसरा अग्नि
ग्रहण करे ॥ १७ ॥

पुण्यस्त्वेवा नर्द्धको भवतीति ॥ १८ ॥

यथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ १९ ॥

‘अनर्द्धकः’ ऋद्धिशून्यः ‘पुण्यः तु एव’ पुण्यमात्रजनकएव भवति, अयमा-
रक्षेयोऽग्निरिति शेषः । ‘इति’ अतो हेतोः ‘यथा कामयेत तथा कुर्यात्’ स यदि
आमुष्मिकफल मृदुधादिकं कामयेत वैश्यकुलादेरग्निं गृह्णीयात्, यदि तु तत्र न
प्रवृत्तिः परं पुण्यमात्रं कामयेत तर्हि अरणिं निर्नश्यैव गृह्णीयादिति ॥ १८-१९ ॥

भा०:-इस ‘अरणि’ से नवोत्पन्न अग्नि में वक्ष्यमाण अनुष्ठानों के करने
पर पुण्य तो होता है परन्तु* सम्पत्ति नहीं होती ॥ १८

भा०:-इस लिये जैसी कामना ही वैसा करे १५-१७ (सू० पक्षों में से कोई) ॥ १९ ॥

स यदेवान्त्याथ्समिधमभ्यादधाति जायाया वा पाणिं
जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् ॥ २० ॥

‘सः’ पुरुषः ‘यत् एव’ यस्मिन्नेवाग्नी ‘अन्त्यां समिधम् आदधाति’, ‘घा’
अथवा ‘जायायाः पाणिं जिघृक्षन् जुहोति’ लाजादिकान्, ‘तम्’ अग्निम् ‘अ-
भिसंयच्छेत्’ यत्नेन रक्षेत् । २०

भा०:-इस प्रकार अग्नि आहरण पूर्वक जिस में शेष “समित्” की आहुति देवे,
या विवाह कार्प्य के लाजा, होम आदि जिस में सम्पन्न करे उस अग्नि को
बड़े यत्न से रक्षे ॥ २० ॥

स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवति ॥ २१ ॥

‘सः एव अग्निः’ ‘अस्य’ ग्रहीतुः ‘गृह्यः’ गृहाय हितः गृहकर्मापयोगी अत-
एव ‘गृह्यः’-इत्येतन्नाम्ना प्रसिद्धो भवति । २१

भा०:-यही उस का ‘गृह्य’ अग्नि है अर्थात् इसी अग्नि में उसे बहुत
दिनों तक अपने सब गृह्य कार्य सम्पन्न करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

तेन चैवास्य प्रातराहुतिर्हुता भवतीति ॥ २२ ॥

‘च’ अपिच, ‘तेन एव’ अन्त्यसमिधाधानेन लाजादिहोमेन वा एव ‘प्रा-
तराहुतिः’ ‘हुता’ हुतैवेति सिद्धा ‘भवति’; तद्दिने अपरा प्रातराहुतिर्नापेक्ष्य-
तइति भावः । ‘इति’ अग्न्याधानप्रकरणसमाप्तिसूचकोऽयमिति शब्दः । २२ ।

अपनित्यहोमकालादिः—

भा०:-और यही ‘अन्त्याहुति’, या ‘लाजाहुति’ ही उस की प्रातः कालिक

* यह अर्घ्याद है।

आहुति सिद्ध होगी, उस दिन दूसरी प्रातःकालिक आहुति की आवश्यकता नहीं ॥ २२ ॥

सायमाहुत्युपक्रम एवात ऊर्द्धं गृह्येऽग्नौ होमो विधीयते ॥२३

तद्दिनस्य प्रातराहुतिस्तेनैव सिद्धा परन्तु तद्दिने एव सायमाहुति रूपदेष्टव्यैवेति 'सायमाहुत्युपक्रमे एव' वदामि—'अत ऊर्द्धं' अग्न्याधानोपदेशात् परं 'गृह्येऽग्नौ' तस्मिन्, 'होमो विधीयते' सायं प्रातश्च होमप्रकार उपदिश्यते इति ॥ २३ ॥

भा०—उस दिन की प्रातः कालिक आहुति उस प्रकार सिद्ध होने पर भी उस दिन भी सायं आहुति की विधि उपदेष्टव्य है; इसलिये इस के पश्चात् सामान्यतः सब दिन के लिये ही इस गृह्य अग्नि में सायं और प्रातःकाल क होम कहा जाता है ॥ २३ ॥

पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायंप्रातरनुगुप्ता अपआहरेत्

परिचरणीयाः ॥ २४ ॥

अपि वा सायम् ॥ २५ ॥

अपि वा कुम्भाद्वा मणिकाद्वा गृह्णीयात् ॥ २६ ॥

पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् ॥२७

पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिं

जुहुयात् ॥ २८ ॥ १ ॥

बोधसीकर्याय प्रथमन्तयात् सप्तविंशत्विंशसूत्रयोर्व्याख्यानं प्रकृत्यैव चतुर्विंशादीनि सूत्राणि व्याख्यायन्ते—

'अस्तमयात् पुरा' यावत् सूर्यांस्तो न भवति तावदेव 'अग्निं' 'प्रादुष्कृत्य' सन्दीप्य, 'अस्तमिते' सूर्ये 'सायमाहुतिं जुहुयात्'—इत्युक्तः सायमाहुतिकालमात्रः (२७) । 'उदयात् पुरा' यावत् सूर्यो नोदेति तावदेव 'प्रादुष्कृत्य' अग्निम्, 'उदिते' सूर्ये 'अनुदिते' उदयसमये वा 'प्रातराहुतिं जुहुयात्',—इत्युक्तः प्रातःआहुतिकालमात्रः (२८) । 'सायं' 'प्रातः' च द्विवारमेव 'प्रादुष्करणवेलायाः पुरा' अग्निसन्दीपनफालात् प्रागेव काले 'अनुगुप्ताः' सुरक्षिता निर्मलाः 'परिचरणीयाः' आधमनादिपरिचर्यापयुक्ताः 'अपः' उदयानि 'आहरेत्' (२४) । 'अपि वा' अथवा 'सायम्' प्रतिदिनि मेकवारं सायङ्काले अग्निसन्दीपनफालात् पृथं मेव अप आहरेत्, तेनैव

प्रातश्चाचमनादिकाः क्रियाः कर्त्तव्याः; न तु पुनः प्रातराहरेदिति (२५) ।
 'अपिवा' अथवा एकदैव सायं प्रातर्वा अग्निसन्दीपनात् प्राक्काले अनुगुप्ता
 अप आहृत्य कुम्भे मणिके वा स्थापयेत्; प्रतिदिनं ततएव 'कुम्भाद्वा' 'म-
 णिकाद्वा' ताः सायं प्रातश्च 'गृह्णीयात्' । २६ ।

इति गोभिलगृह्यसूत्रीय-प्रथमप्रपाठके प्रथमखण्डस्य

व्याख्यानम् ॥ १, १ ॥

भा०:-सायंकाल में-सूर्यास्त होने के पहिले ही उसी रक्षित अग्नि की
 खूब जलाकर सूर्यास्त होने पर उस में आहुति प्रदान करे ॥ २७ ॥ प्रातः
 काल में-सूर्योदय के पहिले उसी रक्षित अग्नि को सन्दीपित कर सूर्योदय
 के पीछे या उदय हो रहा, हो ऐसे समय उस में आहुति प्रदान करे ॥ २८ ॥ सायं
 और प्रातःकाल में, (दोनों काल में) अग्नि प्रज्वलित काल के पहिले आचम-
 नादि के उपयुक्त छुरक्षित जल लावे ॥ २४ ॥ या सायंकाल में एकवार इस जल
 को लाने ही से दोनों समय का काम हो सकता है ॥ २५ ॥ अथवा एक दिन
 सायंकाल में, या प्रातःकाल में अग्नि प्रज्वलित करने के पूर्व ही इस जल को
 लाकर कलसे या मणिके (पानी रखने का बड़ा वर्त्तन) में रख देना चाहिये,
 पीछे प्रतिसायं और प्रातः समय आवस्यकताजुसार उस से जल लिया करे
 (२६) *२४-२८ ॥

गोभिल गृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के प्रथमखण्ड का अनुवादपूरा हुआ । १।१॥



अथ उपवीतविधिः-

यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं वाऽपि वा कुशरज्जुमेव ॥ १ ॥

पूर्वमुक्तं 'यज्ञोपवीतिना कृत्यम्'-इति, इदानीं तद्यज्ञोपवीतमेवोपदि-
 श्यते-

'सूत्रं' 'वा' अथवा 'वस्त्रं' 'अपिवा' अथवा 'कुशरज्जुमेव', यदा
 यत्र यत् सुलभं, तदा तत्र तदेव 'यज्ञोपवीतं', 'कुरुते', लिटोरूपनिदम्, कु-
 र्वीतिट्पर्यं । १

* सुगमता से समझने के लिये पहिले २७ और २८ सूत्र का अनुवाद
 करके इस के बाद २४, २५, २६, सूत्रों का अनुवाद किया गया है ।

भा०:—सूत, या दक्ष, या कुशरज्जु, जिस समय जो आसानी से मिल सके, उस समय उसी के यज्ञोपवीत से काम करना चाहिये + ॥ १ ॥

दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सर्व्येऽसे प्रतिष्ठापयति

दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति ॥२॥

तत्र 'दक्षिणं बाहुम्', 'उद्धृत्य', उत्क्षिप्य, 'शिरः', 'अवधाय', वेद्यित्वा 'सर्व्येऽसे', वामस्कन्धोपरि 'प्रतिष्ठापयति', तत्र 'दक्षिणं कक्षमन्ववलम्बं', दक्षिणकक्षान्तलम्बमानम् 'भवति', भवेत् । 'एवम्', प्रकारेण सूत्रोऽन्यतमस्य धारणेन 'यज्ञोपवीती', भवति । प्रसङ्गात् प्राचीनावीतिनोऽपि लक्षणमुच्यते—

भा०:—उस (जनेक) को दाहिने कांधे पर रखकर, शिर में लपेट कर श्रीः वामस्कंध से दक्षिण कक्ष (वगल) के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार से जनेक पहनने वाले को "यज्ञोपवीती" कहते हैं ॥ २ ॥ *

सर्व्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेऽसे प्रतिष्ठापयति सर्व्यं कक्षमन्ववलम्बं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति ॥ ३ ॥

'सर्व्यं', वामम् । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् । ३

भा०:—इसीप्रकार बायें कांधे के ऊपर जनेक को रख कर, शिर में लपेट कर पहना और दाहिने कांधे से वामे कक्ष के नीचे तक लटकते पहनना, इन तीन प्रकारों में से किसी एक प्रकार जनेक पहनने वाले को "प्राचीनावीती" कहते हैं ॥ ३ ॥

पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति ॥ ४ ॥

'पितृयज्ञे' आहुतादी 'तु' 'प्राचीनावीती' एव 'भवति' भवेत् । एवञ्च देवपितृकार्याभ्यागमन्यत्र निवीत्येव तिष्ठेदिति सुतरां लभ्यते ॥ ४ ॥ अथ आचमनविधिपस्पृशंनविधिषां—

+ 'जनेक नौ गुण का होना चाहिये, तीन तागे का और दो जनेक, या तीन जनेक पहनना चाहिये,' इत्यादि यहां कुछ नहीं लिखा है । जैसे २ संस्कार की वृद्धि होती गई है वैसे २ आहम्यर भी बढ़ता गया है ॥

*—यह यज्ञोपवीत की लम्बाई का प्रमाण हुआ । इस के विरुद्ध जो गिणी अन्य शास्त्रों में जनेक की लम्बाई का विधान है, वह साम्प्रदायिक श्रौतमीय शास्त्राध्यायी द्विगों के ग्रहण योग्य नहीं ॥ २ ॥

भा०—केवल पितृयज्ञ में “प्राचीनावीती” होना चाहिये । इन्से यह सिद्ध होता है कि देवकार्य एवं पितृकार्य को छोड़ कर अन्य समय में “निवीती” होना चाहिये ॥ ४ ॥ +

उदङ्गनेरुत्सृप्य प्रक्षाल्य पाणी पादौ चोपविश्य त्रिराचा-

मेद् द्विः परिमृजीत ॥ ५ ॥

पादावभ्युक्ष्य शिरोऽभ्युक्षेत् ॥ ६ ॥

इन्द्रियाण्यद्विः संस्पृशेत् ॥ ७ ॥

अक्षिणी नासिके कर्णाविति ॥ ८ ॥

यद्यन्मीमांशस्यं स्यात्तत्तद्विः सत्सृशेत् ॥ ९ ॥

उक्तञ्च ‘आचान्तोदकेनैव कृत्यम्’—इति, इदानीं तदतिकर्तव्यतादिकमुपदिश्यते—

‘अग्नेः’ ‘उदङ्’ उत्तरतः ‘उत्सृप्य’ सर्पशेन गत्वा, ‘पाणी पादौ’ ‘च प्रक्षाल्य’, ‘उपविश्य च’,—‘त्रिः’ त्रिवारम् ‘आचामेत्’ जलं पिवेत् ; ‘द्विः’ द्विवारं ‘परिमृजीत’ श्रोष्ठापरलम्बमुदकं माजयेत् ; ततश्च ‘पादौ अभ्युक्ष्य’ पादयोरभ्युक्षणं प्रकृत्य, ‘शिरः’ ‘अभ्युक्षेत्’ । ततश्च ‘अक्षिणी’ अक्षिगोलकद्वयम्, अनन्तरं ‘नासिके’ नासिकारन्ध्रद्वयं, तदनन्तरञ्च ‘कर्णौ’ कर्णशङ्कुलिङ्गद्वयम्,—इति षट् ‘इन्द्रियाणि’ ‘अद्विः’, ‘संस्पृशेत्’ । ततोऽनन्तरमपरमप्यङ्गं ‘यत् यत्’ ‘मीमांशस्यं’ अवबोधय्यं ‘स्यात्’ ‘तत्तत् अपि’ ‘संस्पृशेत्’ । ५—९

+—सर्व कर्म साधारण विधि-प्रकरण के द्वितीय सू० में (देवकार्य में) यज्ञोपवीती हो कर कार्य करने की व्यवस्था कियी गयी है ? एवं इस स्थल में विशेषतः पितृ यज्ञ में प्राचीनावीती होनेकी व्यवस्था कियी है । इस से जिस समय पितृकार्य या देवकार्य कुछ न हो ऐसे अवसर पर, या शारीरिक मलमूत्र स्यागते समय यज्ञोपवीती या प्राचीनावीती रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन्से यह भी सिद्ध होता है कि जिस समय देव वा पितृकार्य में व्यापृत न रहे उस समय (बोध होता है कि) “निवीती” ही रहना उचित है । मनु कहते हैं—कि ‘निवीती कण्ठ सज्जने’ (२ अ० ६३ श्लो०) अर्थात् कण्ठ में माला की नाइं जनेऊ-पारी को “निवीती” कहते हैं ॥ ४ ॥

भा०:—अग्नि के कुच्छ उत्तर की ओर सरक कर जावे और दोनों हाथ पैर धोकर उचित स्थान में बैठकर तीन बार आचमन करे । उस के बाद दो बार ओठ और अधर में लगा जल साफ करे, उसके पीछे दोनों पैर और माथे पर जल छिड़के, तदनन्तर दोनों आंख, नाक के दोनों छिद्र और दोनों कान, इन छः इन्द्रियों के स्थान में जल स्पर्श करे, तदनन्तर और भी जिस २ अङ्ग को अवबोधित करने की इच्छा हो उस २ अङ्ग को जल से स्पर्श करे ॥ ५, ६, ७, ८, ९॥

तत्रैतदाहुः—॥ १० ॥

‘ तत्र ’ आचमनविषये ‘एतत् ’ मद्बुद्धिस्थमोष्ठागतं वक्ष्यमाणम् ‘ उच्छि-
ष्टो हैवातोऽन्यथा भवति ’ (सू० ३०)—इत्यन्तग्रन्थम् आहुः केचनेति शेषः ॥१०॥

तद्यथा—

भा०:—इस आचमन के विषय में कोई २ आचार्य्य कहते हैं—कि ॥ १० ॥

नोपस्पृशेद् व्रजन् ॥ ११ ॥

‘ व्रजन् ’ इत्येतद्यश्च भ्रमन् ‘ न ’ उपस्पृशेत् अपइति शेषः ॥ ११ ॥

भा०:—भ्रमण करते समय आचमन न करना चाहिये ॥ ११ ॥

न तिष्ठन् ॥ १२ ॥

‘ तिष्ठन् ’ दण्डायमानः सन् ‘ न ’ उपस्पृशेदित्यनुवर्त्तते ॥ १२ ॥

भा०:—रुड़े होकर ‘ भी ’ आचमन न करे ॥ १२ ॥

न हसन् ॥ १६ ॥

‘ न हसन् ’ हास्यं कुर्याणः ‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ १३ ॥

भा०:—हंसते समय ‘ भी ’ आचमन न करे ॥ १३ ॥

न विलोकयन् ॥ १४ ॥

‘ विलोकयन् ’ अपरं किमपि ईक्षमाणः ‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

भा०:—इधर उधर ताकता हुआ (अन्य मनस्क होकर) भी आचमन न करे ॥ १४ ॥

नाप्रणतः ॥ १५ ॥

‘ अप्रणतः ’ क्रोधदम्भादिभिरुग्रमूर्त्तिः सन् ‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ १५ ॥

भा०:—क्रोध, दम्भ आदि के कारण अनम्र होकर आचमन न करे ॥१५॥

नाङ्गुलीभिः ॥ १६ ॥

‘ अङ्गुलीभिः ’ अङ्गुल्यग्रेषु जलं गृह्णन्नप्रास्त्युद्गृह्या ‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥१६॥

भा०:-अङ्गुली के अग्र भाग में जल लेकर (अग्राह्य बुद्धि से) आचमन न करे ॥ १६ ॥

नातीर्थेन ॥ १७ ॥

‘अतीर्थेन’ तीर्थ ब्राह्मणादिकं सन्वादिभिरुक्तम्, तदतिरिक्तेन पथा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १७ ॥

भा०:-अतीर्थ द्वारा (धातु पात्रादि में मुंह से जल ले कर या करठ में ढाल कर) आचमन न करे ॥ १७ ॥

न सशब्दम् ॥ १८ ॥

‘सशब्द’ क्रीडाभिप्रायेण शब्दं यथा भवेत् तथैव कुर्याणो ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

भा०:-शब्द करके (जल क्रीडानुसार) आचमन न करे ॥ १८ ॥

नानवेक्षितम् ॥ १९ ॥

‘अनवेक्षितम्’ हस्तगृहीतमुदकं अनवेक्ष्यैव यथालब्धं दृश्यकीटादिसहितं ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ १९ ॥

भा०:-जल को भली भांति देखे बिना आचमन न करे ॥ १९ ॥

न बाह्यांशः ॥ २० ॥

‘बाह्यांशः’ बाह्यौ वह्निभूतौ जान्वोः, अंशौ स्कन्धौ यस्य, तादृशः सन् ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २० ॥

भा०:-दोनों जानु के बाहर स्कन्ध रहने से (वक्र शरीर) आचमन न करे ॥ २० ॥

नान्तरीयैकदेशस्य कल्पयित्वोत्तरीयताम् ॥ २१ ॥

‘अन्तरीयैकदेशस्य’ परिहितवसनस्यैकांशस्य ‘उत्तरीयतां’ कल्पयित्वा ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २१ ॥

भा०:-एक ही वस्त्र को पहन कर उसी के एक अंश को ओढ़ कर आचमन न करे ॥ २१ ॥

नोष्णाभिः ॥ २२ ॥

‘उष्णाभिः’ बह्व्यादितप्ताभिः अद्भिः ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २२ ॥

भा०:-गरम जल से आचमन न करे ॥ २२ ॥

न सफेनाभिः ॥ २३ ॥

‘सफेनाभिः’ फेनादियुक्तैर्मलिनैरद्भिश्च ‘न’ उपस्पृशेत् ॥ २३ ॥

भा०:फेनैले जल से आचमन न करे ॥ २३ ॥

न च सोपानत्कः क्वचित् ॥ २४ ॥

‘ च ’ अपिच ‘ क्वचित् ’ स्थानविशेषे, यत्रानावश्यकं तत्र, ‘ सोपान-
त्कः ’ उपानद्विशिष्टः सन् ‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

भा०:—और अनावश्यक स्थान में दोनों पैर में जूता पहन कर आचमन
न करे ॥ २४ ॥

कासक्तिकः ॥ २५ ॥

गले वद्धः ॥ २६ ॥

चरणौ न प्रसार्य च ॥ २७ ॥

के मस्तके आसक्तिर्वन्धनं यस्य स ‘ कासक्तिकः,’ ‘ गले’ गलदेशे ‘वद्धः’
गलाधःकरणे व्याघातः स्यादेवं दृढवद्धः, ‘ च ’ अपिच ‘ चरणौ ’ ‘ प्रसार्य ’
‘ न ’ उपस्पृशेत् ॥ २५—२७ ॥

भा०:—मस्तक या गले में दृढ़ बन्धन रहते या दोनों पैर फैला कर आ-
चमन न करे ॥ २५, २६, २७ ॥

अन्ततः प्रत्युपस्पृश्य शुचिर्भवति ॥ २८ ॥

‘ अन्ततः ’ आचम्यारब्धकर्मकेण अनारब्धकर्मकेण वा शयनादीनामन्ते
‘ प्रत्युपस्पृश्य ’ अनुपद-वह्यमाणाप्रत्युपस्पर्शनं प्रकृत्यैव ‘ शुचिर्भवति ’ ॥ २८ ॥

भा०:—सो कर अपने पर इत्यादि समय दोबारे आचमन न करने से शु-
द्धि होगी ॥ २८ ॥

हृदयस्पृशस्त्वेवापआचामेत् ॥ २९ ॥

आचमनजलपरिमाणमाह—‘ हृदयस्पृशः ’ यावन्त्यः पीताः हृदयं स्पृश-
न्ति, तावन्तपएवापः हृदयस्पृशः ताः ‘ आपः ’ ‘ आचामेत् ॥ २९ ॥

भा०:—जितना जल पीने से हृदय पर्यन्त सिक्त हो सके, न्यून से न्यून
उतने जल से अथवा आचमन करना चाहिये ॥ २९ ॥

उच्छिष्टोहैवातोऽन्यथा भवतीति ॥ ३० ॥

‘ अतोऽन्यथा ’ उक्तादन्यप्रकारकृताचमनः ‘ उच्छिष्टः एयं ’ अशुद्धेय-‘ह’
विद्यपं ‘ भवति ’—‘ इति ’ ‘ आहुः ’ (सू० १) इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३० ॥

भा०:—ऐसा नहीं करने पर (हृदय तक जल नहीं पहुंचने से) उच्छि-
ष्ट ही रह जाता है ॥ ३० ॥

अथ प्रत्युपस्पर्शनानि ॥ ३१ ॥

‘अथः’ अनन्तरम् ‘प्रत्युपस्पर्शनानि’ कीदृक्स्थलकृताचमनं प्रत्युप-
स्पर्शनसंज्ञां लभते ? तत् उपदेक्ष्यामइति ॥ ३१ ॥

भा०:—किस २ स्थान के आचमन को “ प्रत्युपस्पर्शन ” कहते हैं ? सो
कहा जाता है ॥ ३१ ॥

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा विपरिधाय च
रथ्यामाक्रम्य श्मशानञ्चाचान्तः पुनराचामेत् ॥ ३२ ॥

‘सुप्त्वा’ स्वापानन्तरम् १, ‘भुक्त्वा’ भोजनभोजनानन्तरम् २, ‘क्षुत्वा’
क्षवनानन्तरम् ३, ‘स्नात्वा’ स्नानानन्तरम् ४, ‘पीत्वा’ पेयपानानन्तरम् ५,
‘विपरिधाय’ वसनादिपरिधानानन्तरम् ६, ‘च’ अपिच ‘श्मशानम्’ ‘र-
थ्याम्’ ग्राम्यमार्गम् ७, ‘आक्रम्य’ विचरणानन्तरम् ८ ‘आचान्तः च’ या-
गाद्यनुरोधतः प्रथम आचान्तोऽपि पुनराचामेत् द्वितीयमाचमनं कुर्वीत । अत्रेदं
तत्वम् स्वापाद्यनन्तरमाचामेत्, तत्रैकमेवाचमनं कर्त्तव्यम् ; अथ आचम्यारथ्य-
कर्मकेषु तु स्वापाद्यनन्तरं पुनश्च द्वितीयमाचमनं कर्त्तव्यम् ; तदिदमेवंस्थानि-
कमाचमनमेव प्रत्युपस्पर्शनमुच्यतेइति ॥ ३२ ॥

इति श्रीगोभिलीय-गृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके

द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १, २, ।

भा०:—सो कर उठने पर, भोजन करने पर, हिचकी आने पर, स्नान
करने पर, रसादि पीने पर, वसन, भूषणादि पहनने के अम के ‡ उपशमार्थ

‡ शयनादि के पीछे जो आचमन किया जाता है उसी को “ प्रत्युपस्पर्-
शन ” कहते अर्थात् नीन्द टूटने पर आचमन अवश्य करना चाहिये ; यदि
किसी देवानुष्ठानादि कार्प्य करते २ आलस्य जात तन्द्रा रूप निद्रा, या कि-
सी प्रकार आहार या हिचकी हो तो ऐसे स्थान में पुनर्वार आचमन करे ऐसा
न समझे कि एक बार आचमन कर चुका हूँ फिर क्या आवश्यकता है ॥
एवं गली और मुर्दे जलाने के स्थान में भ्रमण करने पर, या इस के पूर्व अपर
किसी कार्प्य के अनुरोध से आचमन किया गया हो, तो ऐसे स्थलों में भी पुनः
आचमन करे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के द्वितीय खण्ड

का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, २ ॥

(इति सर्वकर्मसाधारण-प्रकरणं समाप्तम्)

(अथ ब्रह्मपञ्चप्रकरणम्)

अग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य दक्षिणजान्वक्तो दक्षिणेना-
ग्निमदितेऽनुमन्यस्वेत्युदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ १ ॥

‘अग्निम्’ पूर्वोक्तप्रकारेण (१, २७-२८) ‘उपसमाधाय’, ‘परिसमूह्य’
वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण, ‘दक्षिणजान्वक्तः’ दक्षिणं जानु अक्तं भूमिगतं यस्य, ता-
दृशः सन्;—‘अदितेऽनुमन्यस्व’ हे अदिते ! देवि ! एतत्कर्मकरणे अनुमति देहि
‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अग्निम् दक्षिणेन’ कृत्वा ‘उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥१॥

भा०:—पूर्वोक्त (१, २७-२८) अग्नि उपसमाधान कर, परि समूहन करके
दक्षिण जानु भूमि पर टेककर, हे अदिते ! मुझ को इस कार्य के करने में अ-
नुमति देओ’, इस मन्त्र से अग्नि के दक्षिण भाग में उदकाञ्जलि सोंचे ॥ १ ॥

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चात् ॥ २ ॥

‘अनुमतेऽनुमन्यस्व’ हे अनुमते देवि ! अत्रानुमतिं देहि—‘इति’ मन्त्रेण
‘पश्चात्’ अग्नेः पश्चिमतः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ २ ॥

भा०:—‘हे अनुमते ! मुझ को इस कार्य के करने में अनुमति देओ’—इस
मन्त्र से अग्नि के पश्चात् भाग में दूसरी उदकाञ्जलि सोंचे ॥ २ ॥

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः ॥ ३ ॥

‘सरस्वत्यनुमन्यस्व’ हे सरस्वति ! देवि ! अत्रानुमतिं देहि—‘इति’ म-
न्त्रेण ‘उत्तरतः’ अग्नेः उदकाञ्जलिं प्रसिञ्चेत् ॥ ३ ॥

भा०:—और ‘हे सरस्वति ! मुझ को इस कार्य के करने में अनुमति देओ’
इस मन्त्र से अग्नि के उत्तर में तीसरी उदकाञ्जलि सेंचन करे ॥ ३ ॥

देवसवितः प्रसुवेति प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्षेत् सकृद् वा त्रिर्वा ॥ ४ ॥

‘देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः के-
तन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाधन्नः स्वदतु’ इत्यनेन मन्त्रेण (म० ब्रा० १ क०)
‘अग्निं प्रदक्षिणं’ यथाभवेत् ‘सकृत् वा’ एकवारं वा ‘त्रिर्वा’ अथवा
चारत्रयं ‘पर्युक्षेत्’ उदकधाराभिरिति शेषः ॥ ४ ॥

भा०:—एकवार या तीनवार ‘देव सवितः प्रसुव इस मन्त्र से अग्नि की
प्रदक्षिणानुसार जल धारा गेरे । इसी की पर्युक्षण कहते हैं ॥ ४ ॥

पर्युक्षणान्तान् व्यतिहरन्नभिपर्युक्षन् होमीयम् ॥ ५ ॥

‘पर्युक्षणान्तान्’ अङ्गयागान् ‘व्यतिहरन्’ व्ययहरन् ‘होमीयम्’ होमी-

पयोगितया सङ्ग्रहीतं वस्तुजातम् ' अभिपर्युक्षन् ' उदकविन्दुभिः सिञ्चन् ॥५॥

भाः—उक्त प्रकार ' पर्युक्षन् ' पर्यंत कार्यो को शेष कर अनन्तर होम के उपयोगी अन्नादि को जल विन्दु से सींचे। इसी को ' पर्युक्षण ' कहते हैं ॥५॥

अथ हविष्यस्यान्नस्याग्नौ जुहुयात् कृतस्य वाऽकृतस्य वा ॥६॥

' अथ ' अनन्तरम् ' अग्नौ ' तस्मिन् ' कृतस्य ' वा पक्वस्य वा ' अकृतस्य वा ' अपक्वस्य वा ' हविष्यस्य ' अन्नस्य यवादेः (अंशनितिशेषः) ' जुहुयात् ' ॥६॥

भा०—अनन्तर उसमें अग्नि में का पका या कच्चा हव्य हवन करे ॥ ६ ॥

अकृतञ्चेत् प्रक्षाल्य जुहुयात् प्रोदकं कृत्वा ॥७॥

तच्च होमीयं ' अकृतम् ' अपक्वं ' चेत् ' तत् ' प्रक्षाल्य ' उदकैः, ' प्रोदकं ' जलाद्रै च ' कृत्वा ' ' जुहुयात् ' ॥७॥

भा०—यदि अग्नि-पक्व भात आदि होम के योग्य न हों, प्रत्युत तण्डुल या फलादि हीं हवनीय हों, तो उन सब को अच्छे प्रकार धोकर जल से भीगे ही दशा में हवन करे ॥ ७ ॥

अथ यदि दधिपयोयवागूं वा, कथंसेन वा चरुस्थाल्या वा
स्रुवेण वै वा ॥८॥

' अथ ' तत्रापि यदि दधि पयः यवागूं ' वा ' होतव्यं भवेत् तदा ' कंसेन वा ' कांस्यपात्रेण वा ' चरुस्थाल्या वा ' चरुपाकपात्रेण ' वा ' अथवा ' स्रुवेण ' ' वै ' एव जुहुयात् न तु साक्षात् हस्तेन ॥८॥

भा०—विशेषता—यदि दही, दूध या यवागूं, होम करना हों, तो उसके धोने की आवश्यकता नहीं, जैसा ही उसी प्रकार बिन धोये ही कांस्यपात्र चरुस्थाली में रक्ख कर उस से या स्रुवा से हवन करे (हाथ से नहीं) ॥८॥

अग्नये स्वाहेति पूर्वां तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये चैवापराजिता-
याञ्चैव दिशोति सायम् ॥९॥

' मध्ये ' अग्नेर्मध्यस्थले ' पूर्वां ' प्रथमानामाहुतिम् "अग्नये स्वाहा" ' इति ' अनेन मन्त्रेण ' अपराजितायां ' दिशि अग्नेरैशान्यां ' उत्तराम् ' द्वितीयानामाहुतिम् ' तूष्णीम् ' मन्त्रशून्याम् जुहुयात् । ' इति ' एवं ' सायम् ' सायङ्कालीनो होमः ॥९॥

भा०—प्रथम आहुति तो " अग्नये स्वाहा " इस मन्त्र से अग्नि के बीच में और द्वितीय आहुति ईशान कोण में बिना मन्त्र ही करे। यही सायङ्काल के होम का विधि हुआ ॥ ९ ॥

अथ प्रातः,—सूर्याय स्वाहेतिपूर्वां, तूष्णीमेवोत्तरां मध्ये
चैवापराजितायाञ्चैव दिशि ॥१०॥

“अथ प्रातः—” ‘पूर्वाम्’ प्रथनामाहुतिं “सूर्याय स्वाहा” “इति” अनेन मन्त्रेण । अन्यत् समानं पूर्वेण ॥१०॥

भा०—प्रातःकाल के होम की व्यवस्था भी इसी प्रकार, होगी, केवल “अग्नये स्वाहा” मन्त्र के बदले “सूर्याय स्वाहा” मन्त्र से आहुति होगी इतना ही इस में विशेषता है ॥ १० ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्य तथैवोदकाञ्जलीन् प्रसिञ्चेदन्वम-
श्रंस्था इति मन्त्रविशेषः ॥११॥

सायं प्रातश्चोभयत्रैव होमानन्तरम्—‘समिधम्’ अमन्त्रकमेव आधाय तत्रामी तुत्या ‘अनुपर्युक्ष्य’ पुनः पर्युक्षणं कर्तुं प्रवृत्तः ‘तथैव’ पूर्ववदेव ‘उदकाञ्जलीन्’ प्रसिञ्चेत् । तत्र ‘अन्वमंस्था’—‘इति’ अयमेव भूतार्घ्यपद-प्रयोगएव ‘मन्त्रविशेषः’ मन्त्रे विशेषः कर्तव्यः ॥ ११ ॥

भा०—‘सायं’ या ‘प्रातः’ दोनों ही काल में होम के पीछे अग्नि में एक समित् (होम की लकड़ी) बिना मन्त्र के डाल कर पहिलेकी नाईं फिर ‘पर्युक्षण’ करने की प्रवृत्त होकर उदकाञ्जलि सींचे । इसी को ‘अनुपर्युक्षण’ कहते हैं । इसी ‘अनुपर्युक्षण’ में पूर्व मन्त्र के बदले में ‘हे रुदिते ! तू ने मुझे इस कार्य के करने में अनुमति प्रदान किया थी’ (मैंने भी उस के अनुपायी कार्य सम्पन्न किया)—इसी मन्त्र का व्यवहार करना चाहिये यही विशेषता है ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणमग्निं परिक्रम्यापाश्र्शेषं निनीय पूरयित्वा चमसं
प्रतिष्ठाप्य यथार्थम् ॥ १२ ॥

उक्तानुपर्युक्षणानन्तरम्—‘अग्निं’ ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘परिक्रम्य’ ‘अपाम्’ अनुगुप्ताना कुम्भादेश्हीतानां वा ‘शेषं’ ‘निनीय’ पुनर्यहीत्या, तेनीवी-दक्षिणेषु ‘चमसं’ पानपात्रं ‘पूरयित्वा’ ‘प्रतिष्ठाप्य’ संरक्ष्य च ‘यथार्थम्’ यथा-प्रयोजनम् एतदुत्तरवधयमाणं सायं सायनाशादिकं प्रातः प्रातराशारिकञ्च कुर्वन्ति ॥ १२ ॥

भा०—उक्त “अनुपर्युक्षण” के पीछे प्रदक्षिण द्वारा अग्नि परिष्कार

करके, गृहीत जल के अवशिष्ट को 'चमसि' में ढाल कर यथा आवश्यक कार्य के लिये रख छोड़े ॥ १२ ॥

एत्र मेत ऊर्ध्वं गृह्येऽग्नौ जुहुयाद्वा हावयेद्वाऽऽजीवितावभृ-
थात् ॥ १३ ॥

'अतः ऊर्ध्वम्' एतद्विषयत ऊर्ध्वम् 'आ जीवितावभृथात्' जीवितं जी-
वनम्, अवभृथञ्च अश्वमेधादिमहायागक्रियान्त्यकर्म, तयोः समाहारः तस्मात्
यावज्जीवनं महाक्रतुसम्पादनान्तं वा प्रतिदिनमेव सायं प्रातश्च 'एथम्' अनेन
प्रकारेणैत्र तत्र 'गृह्ये अग्नौ' 'जुहुयात् वा' स्वयञ्च, 'हावयेद्वा' अपरेण प्रतिनि-
धिना ॥ १३ ॥

भा०—जिस दिन अग्नि ग्रहण पूर्वक प्रथम होम करे, उस दिन से याव-
ज्जीवन या अश्वमेधादि महायाग में 'अवभृथ (अन्तिम स्नान) स्नान करने
पर्यन्त प्रतिदिन सायं और प्रातः दोनों ही समय उपदिष्ट प्रकार से स्वयं
होम करे या प्रतिनिधि (अपने बदले में दूसरे किसी के) द्वारा इस होम
को करावे ॥ १३ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ १४ ॥

'अथा' अत्र विषये 'उदाहरन्ति अपि' अपरेण हावने विशेष विधिमुप्य-
नेके वदन्ति ॥ १४ ॥

भा०—इस प्रतिनिधि के विषय में कतिपय लोग यह (विशेष) कहते हैं ॥१४॥

कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुयात् सायंप्रातर्होमौ गृहाः पत्नी

गृह्यएपोऽग्निर्भवतीति ॥१५॥

'एवः अग्निः' 'गृह्यः' गृहाय हितएव 'भवति',—'पत्नी' च 'गृहाः' गृहा,
'इति' अतोहेतोः 'गृह्ये अग्नौ' अत्र 'पत्नी', 'कामं' यथा स्यात्तथा, इच्छेत्
'सायंप्रातर्होमौ' यथोक्तौ द्वावेव, 'जुहुयात्' ॥ १५ ॥

भा०—पत्नी को गृहा (गृह कार्य की उपयोगिनी) कहते हैं एवं इस
अग्नि को भी गृह्याग्नि कहते हैं अर्थात् घर के काम के उपयोगी अतएव पत्नी
इच्छा करने पर सायं और प्रातः दोनों ही होम करे ॥ १५ ॥

निष्ठिते सायमाशप्रातराशे भूतमिति प्रवाचयेत् ॥ १६ ॥

अनन्तरम्, 'सायमाशप्रातराशे' सायं सायम्भोजने प्रातः प्रातर्भोजने च
'निष्ठिते' अनुष्ठिते, ततः 'भूतम्' इदानीं कर्तव्यज्ञातं सम्पन्नम् 'इति' मनसि

विचार्य अन्तेवासिनो विज्ञाप्य वा 'प्रवाचयेत्' स्वाध्याय मध्यापयेत्; स्वान्ते
वासिन इति शेषः । एष एव ब्रह्मयज्ञः ॥ १६ ॥

भा०—अनन्तर सायङ्काल में सायङ्काल का भोजन और प्रातःकाल में
प्रातःकाल का भोजन प्रस्तुत होने पर छात्रों (विद्यार्थियों) को अध्ययन
करावे । (इसी को ' ब्रह्मयज्ञ ' कहते हैं) ॥ १६ ॥

ऋते भगया वाचा शुचिर्भूत्वा—॥१७॥

प्रतिजपत्योमित्युच्चैस्तस्मै नमस्तन्माक्षा इत्युपांशु ॥ १८ ॥

ब्रह्मयज्ञकाले 'भगया वाचा ऋते' वेदवाक्यं विना अपरं किमपि लौकिकं
प्रवृष्य 'अशुचिः भूत्वा, तदशुचित्वं दूरीकर्तुम् 'उच्चैः श्रोम् इति' किञ्च 'उपांशु'
नीचैः ' तस्मै नमस्तन्माक्षाः ' 'इति' मन्त्रद्वयं 'प्रतिजपति' प्रतिवार यावद्द्वारं
लौकिकं यदेत् तावद्द्वारमेव जपेदिति ॥ १७-१८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१, ३॥

भा०—(ब्रह्मयज्ञ काल में) जिस वाक्य से कल्याण हो ऐसे वाक्य को छोड़,
अन्य वाक्य का व्यवहार करने ही से अशुचि होगी ॥ १७ ॥

अपवित्र—वाक्य के व्यवहार से अशुचि होने पर प्रकट में " श्रोम् "
कह कर, मन ही मन " उन को नमस्कार वे इस प्रकार कहने से फिर प्रयत्न
नहीं करते " इस मन्त्र का जप करे ॥ १८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम प्रपाठक के तृतीय

खण्ड का अनुवाद पूरा हुआ ॥ १, ३ ॥



अथ वाग्यतो वलीन् हरेत् । १

'अथ' प्रकरणारम्भद्योतकः । 'वाग्यतः' नियतवाक् हास्यक्रीतुकादिनिमित्त-
कमनृतभाषणाद्यनियतवाचं परित्यज्य 'वलीन्' यस्यर्थपाकादीनि प्रथमक-
र्त्तव्यानि 'हरेत्' आहरेत् सम्पादयेदित्यर्थः ॥१॥ उक्तनियमवाक्यत्वमेव विग्रहयति-

भा०—हंसी शीलगी (हास्य क्रीतुकादि) के निमित्त भी भूठ योलना
आदि अनियत वाक्य को छोड़ कर अर्थात् काम में मन लगा कर "वलिर्कर्म"
करना चाहिये विचार पूर्वक पाकादि सम्पादन करना उचित है ॥ १ ॥

भाषेतान्नसंश्लिष्टिमतिथिभिः कामं सम्भाषेत । २

'अन्नमिष्टिं' अन्नमन्निधनां मिष्टिं विद्वन्तयादियिषयती ' कर्षां '

प्रश्नोत्तरादिकां 'भाषेत' न तत्र निषेधः । किञ्च 'अतिथिभिः' समागतैः सह 'कामं' यथेच्छं विनयादिकं 'सम्भाषेत' तत्रापि न निषेधः ॥ २ ॥ वैश्वदेवविधिपद्यते-

भा०—हां, अन्नपाक सम्बन्धी बातचीत ('कथोपकथन') करने का निषेध नहीं और आये हुये अतिथियों के साथ भी नम्रता से बात करने में कोई बाधा नहीं ॥ २ ॥

अथ हविष्यस्थान्नस्योद्धृत्य हविष्यैर्व्यञ्जनैरुपसिच्यग्नौ जुहुयात्तृष्णीं पाणिनेव ॥ ३ ॥

'अथ' पाकनिष्पत्त्यनन्तरं, 'हविष्यस्य अन्नस्य' तस्यैव पक्वस्य हविष्यरूपान्नस्य किञ्चिद् 'उद्धृत्य' गृह्यत्वा, 'हविष्यै व्यञ्जनैः' सूपादिभिः 'उपसिच्य' गृहीतं तत् सम्मिश्रय, 'अग्नौ' पूर्वोक्तलक्षणो गृह्ये, 'तृष्णीम्' अस्फुटवाक् सन् 'पाणिनेव' जुहुयात्, न तत्र स्तुवादेरपेक्षा ॥३॥ तत्र मन्त्रदेवते विधीयते-

भा०—पाक प्रस्तुत होने पर उस हविष्यान्न में वे कुछ लेकर हविष्य व्यञ्जन के साथ उसी अग्नि में विना मन्त्र पढ़े एक आहुति देवे । इस आहुति में 'स्तुवादि' की अपेक्षा नहीं, हाथ ही से उस का काम चल जावेगा ॥ ३ ॥

प्रजापत्या पूर्वाहुतिर्भवति सौविष्टकृत्युत्तरा ॥ ४ ॥

'प्रजापत्या' प्रजापतिदेवताका, तथाच मनसा प्रजापतिं प्रजानामीशानं वृष्टिस्थितिलयकर्तारं परमदेवं विचिन्त्य 'प्रजापतये स्वाहा'—इत्यस्फुटमेवोक्त्वा पूर्वाहुतिः' प्रथमा आहुतिः 'भवति' सम्पद्यते। 'सौविष्टकृती' स्विष्टकृद्देवताका, स्विष्टं शोभनाभिलाषं कुरुति पूरयति यः तमेव सर्वान्तर्पामिषं परमेशं मनसा विचिन्त्य 'स्विष्टकृते स्वाहा' इत्यस्फुटएवोक्ते 'उत्तरा' आहुतिः भवति। इत्यनुपदिष्टो देवयज्ञापरनामको नित्यहोमाभिधो वैश्वदेवः ॥ ४ ॥

भा०—प्रजापति देवता अर्थात् जो इस विश्व (सम्पूर्ण) राज्य का प्रकृत (असल) राजा होकर प्रजारूप विश्व संसार को पालन कर रहे हैं उन्हें परमेश्वर का मन ही मन चिन्तन कर प्रथम आहुति और स्विष्टकृत देवता अर्थात् जो एक मात्र सम्पूर्ण संसार का अन्तर्यामी और समनोरथ पूरण करने वाला है उन को मन ही मन चिन्तन करके द्वितीयाहुति देवे इसी को " देवयज्ञ " " नित्यहोम " और " वैश्वदेव " कहते हैं ॥ ४ ॥

अथ बलीन् हरेत्, वाह्यतोवान्तर्वा सुभूमिं कृत्वा ॥ ५ ॥

‘अथ’ देवयज्ञापरपर्यायवैश्वदेवहोमानन्तरम्;—

‘वाञ्छतः वा अन्तर्वा’ अग्न्यागारस्येति शेषः, ‘सुभूमि’ नार्जनादिभिर्भूमि
शोधनं ‘दृत्वा’ ‘जलीन्’ भूतयज्ञात्मकान् पशुपक्षिपिपीलिकादीनामाहारदा
रूपान् ‘हरेत्’ स्रम्पादयेत् ॥ ५ ॥

भा०—देवयज्ञ नागद उक्त होम के पीछे अग्नि-गृह के बीच में हं
वा बाहर । अर्थात् यथायोग्य पाहे जिस किसी स्थान में हो, भाङ्गू आदि
से भूमि को भली भाँति साफ कर उस २ स्थान में पशु, पक्षी, पिपीलिका
आदि को आहार देकर “ जलिनार्थं ” पूरा करे ॥ ५ ॥

सकृदपो निनीय चतुर्धा वलिं निदध्यात्, सकृदन्ततः परि-
पिञ्चेत् ॥ ६ ॥

‘सकृत्’ एकवारम् ‘अपः’ उदकानि ‘निनीय’ भूमौ सिञ्चनं प्रकृत्य ‘वलिं’
पाद्विभृताद्युद्देश्यमं दानं ‘चतुर्धा’ चतुःप्रकारं यथा स्यात् तथा ‘निदध्यात्’
तत्र मार्जितजलचित्ते च स्थाने संरक्षेत; ‘अन्ततः’ वलिनिधानान्ते पुनरपि
पूर्ववत् ‘सकृत्’ एकवारम् अपः ‘परिपिञ्चेत्’ ॥ ६ ॥

भा०—नार्जित (साफ किया हुआ) भूमि में पहिले एक बार जल छीट
कर ४ भाग वलि आलग २ रखे और फिर उस पर जल छिड़के ॥ ६ ॥

एकैकं वानुविधानमुभयतः परिपिञ्चेत् ॥ ७ ॥

‘वा’ अथवा ‘अनुविधानम्’ एकस्य पश्चादपरमिति क्रमेण चतुर्धासिंघ
वलीनां स्थापनं कार्यमिति शेषः, किञ्च ‘एकैकम्’ एव ‘उभयतः’ स्थापनात्
पूर्वस्तिन् पश्चादपि ‘परिपिञ्चेत्’ ॥ ७ ॥

भा०—या एक २ भाग करके ही वलि स्थापन करे और प्रत्येक भाग,
दो रखने के पहिले एकवार और पीछे एकवार जल छिड़के ॥ ७ ॥

स यत् प्रथमं निदधाति स पार्थिवो वलिर्भवत्यथ यद्द्वितीयं
स वायव्यो यत् तृतीयं स वैश्वदेवो यच्चतुर्थं स प्राजापत्यः

‘स’ वलिप्रदाने प्रवृत्तः पुरुषः ‘यत् प्रथमं निदधाति’, ‘सः’ प्रथमो ‘वलिः’
‘पार्थिवः’ पृथिवीदेवताको भवति । ‘अथ’ अनन्तरं ‘यत् द्वितीयं’ निदधाति,
‘स’ वलिः ‘वायव्यः’ वायुदेवताको भवति । ‘यत् तृतीयं’ निदधाति, ‘सः’ वलिः
‘वैश्वदेवः’ विश्वदेवदेवताको भवति । ‘यत् चतुर्थं’ निदधाति, ‘सः’ वलिः
‘प्राजापत्यः’ प्रजापतिदेवताको भवति ॥ ८ ॥

[प्र० १ खं० ४ सू० ६-११]

बलिवैश्वप्रकरणम् ॥

भा०:—बलि के उक्त ४ भागों में से प्रथम बलि पृथिवी देवी का, द्वितीय वायु देवता का, तृतीय विश्वेदेवा देवता का, चतुर्थ प्रशापति देवता का है ॥८॥

अथोपरोन् वलीन् हरेदुदधानस्य मध्यमस्य द्वारस्यावैवतः
प्रथमोवलिर्भवत्योपधिवनस्पतिभ्योःद्वितीय आकाशायतृतीयः ९

‘अथं’ तद्बलिचतुष्टयविधानानन्तरम् ‘अस्य’ बलिनिधातुः ‘उदधानस्य’ अस्मिन् गृहे परिचरणीया आपो रक्षिताः तस्य ‘द्वारस्य’ मध्यम् मध्यतः अपरान् त्रीन् ‘वलीन्’ ‘हरेत्’ सम्पादयेत् । तत्र, ‘प्रथमः बलिः’ ‘अवैवतः’ भवति, ‘द्वितीयः’ ‘ओपधिवनस्पतिभ्यः’ ओपधिवनस्पतिदेवताकः भवति; तृतीयः ‘आकाशस्य भवति; तोपायेति सर्वत्र श्रेणीयः ॥८॥

भा०:—इन चार बलि के स्थापन के पीछे यह बलि स्थापयिता (रखने वाला) के निज गृह के अर्थात् जिस गृह में “ परिचरणीय ” जल रक्षित रहता हो, उसी घर के द्वार के मध्य देश में अन्य तीन बलि रखे। उन में से प्रथम बलि जन देवता का, द्वितीय ओपधि-वनस्पति का, और तृतीय आकाश का होता है ॥ ९ ॥

अथापरं बलिं हरेच्छयनं वाधिवच्चं वा स कामाय वा
बलिर्भवति मन्यवे वा ॥ १० ॥

‘अप’ उक्त बलिप्रहरणानन्तरम् ‘अपरम्’ अपि एकं ‘बलिम्’ ‘हरेत्’ सम्पादयेत् । तस्य स्थानं निर्दिशति—‘शयनं वा अधिवच्चं वा’ शय्यागृहस्य मध्ये शयनस्थानं वा तद्गृहमध्ये एव अधिवर्द्धं मूत्रत्यागादिस्थानं वा अभिलक्ष्येति । देवतां विधत्ते—‘सः’ शयनस्थाने वा स्थापितो बलिः ‘कामाय’ भवति, अधिवर्द्धस्थाने वा स्थापितो बलिः ‘मन्यवे’ भवति ॥ १० ॥

भा०:—इन तीन बलियों के रराने के बाद शयन गृह में चाहे सोने ही की जगह हो, या गल मूत्र त्याग आदि स्थान ही में ही, एक और बलि रखे। उन में से शयन-स्थान वाला बलि ‘काम देवता’ का और अधिवर्द्ध स्थान (मूत्र त्यागदि स्थान-जो सोने के घर में होता है) का बलि ‘मन्यु देवता’ का होता है ॥ १० ॥

अथ सस्तूपं स रक्षोजनेभ्यः ॥ ११ ॥

‘अथं’ अनन्तरं ‘सस्तूपं’ गृहायजनादिप्रक्षेपस्थान मभिलक्ष्य तापि बलि मेकं प्रक्षिपेत् । ‘सः’ बलिः ‘रक्षोजनेभ्यः’ भवति ॥ ११ ॥

भा०:—उस के पश्चात्—कड़ा आदि फेंकने के स्थान में एक बलि देवे, यह बलि राक्षसी का होगा ॥ ११ ॥

अथैतद्बलिशेषमद्विरभ्यासिच्यापसलवि दक्षिणानिनयेत्
पितृभ्यो भवति ॥१२॥

‘अथ’ तदनन्तरम्, ‘एतद्बलिशेषम्’ अद्भिः अभ्यासिच्य जलसेकेन धौत-
प्रायं प्रकृत्य ‘अपसलवि’ अपसल्येन पितृतीर्थेन ‘दक्षिणा’ दक्षिणस्यां दिशि
‘निनयेत्’ विकिरेत्। स एव विकीर्णो बलिः ‘पितृभ्यः’ पितृदेवताकः ‘भवति’ १२

भा०:—उसके बाद पात्रस्थ बचे हुए अन्न को जल में धोकर हाथ की
चैत्र अंगुली से दक्षिण की ओर फेंके, वह बलि पितृगण का होगा ॥ १२ ॥

[इस से गोभिलाचार्य के मत से १० भूतबलि निर्णित हुए । उन में
से ४ अग्निगृह में, ३ जलगृह के द्वार पर, एक शय्या-स्थान में ही या सूत्र-
त्याग स्थान में ही, शयन-के कक्ष (बगल) में एक, और कूड़ा रखने की
जगह एवं शेष की मकान के दक्षिण भाग में । किन्तु साधारणतः उत्तरोत्तर
जल की तीन रेखा करके उस के ऊपर क्रमोद्भवं भाव से ४ करके १२ बारह
एवं सब के उत्तर एक और सब के दक्षिण एक इस प्रकार १४ बलि * का
व्यवहार इन दिनों देखा जाता है]

आसीन एवाग्नौ जुहुयात् ॥ १३ ॥

आसीनः पितृभ्यो दद्यात् यथोपपादमितरान् ॥१४॥

‘आसीन.’ उपविष्टः ‘एव’ ‘अग्नी जुहुयात्’ पूर्वोक्तप्रकार मय हवि-
ष्यस्यान्वस्योद्भृत्पत्येत्यादिकं वैश्वदेवहीनं कर्त्तव्यम् । ‘पितृभ्यः’ अपि अथैत-
द्बलिशेषमित्युक्तं बलिशेषम् ‘आसीन’ एव ‘दद्यात्’ । ‘इतरान्’ अथा-
परानित्याद्युक्तान् उदधानादियलीन् ‘यथोपपाद’ यथा यथा उपपद्यते
तथातथैव तिष्ठन् प्रहृद्यलन् वा दद्यात् । १३, १४ ॥

* (१)—जेती — ०—ब्रह्मणेन म १२ ०—वामाय नम ८ ०—प्रजापतये नम ५
०—वासुदेवे नम ११ ०—आकाशाय नम ७ ०—विश्वेभ्यो देवेभ्यो नम ३
१३ रक्षोजनेभ्य ० ०—पितृभ्य स्वधा १४
०—इन्द्राय नम १० ०—ओषधिवनरपतिभ्यो नम ६ ०—वायवे नम २
०—मन्त्रवे नम ६ ०—ऋद्भ्यो नम ५ ०—पृथिव्ये नम १

इस प्रकार १४ बलि की पाल का प्रणाली यद्यपि अगूढक नहीं, परन्तु जिस कारण गोभिलाचार्य ने नहीं
मन्त्र है, इस लिये कौटुम्भी शय्या वाले दिवसों को ये १४ बलि कर्त्तव्य है ऐसा नहीं सोच लेना है ॥ १२ ॥

भा०—पूर्वोक्त वैश्वदेव होन बैठकर ही करे; पितृगण को देने योग्य बलि-शेष भी (सू० १२) बैठ कर ही प्रदान करे। अन्य अर्थात् पूर्वोक्त जल गृहादि में देने योग्य बलि आदिक जिस २ प्रकार सम्पन्न हो सके उस २ प्रकार करे अर्थात् खड़े होकर, बैठ कर, निहुर कर, (जहां जैसा सुभीता हो वहां वैसा) करे ॥ १३, १४ ॥

स्वयन्त्वेवैतान् यावद्वैसेद् वलीन् हरेत् ॥ १५ ॥

अपि वाऽन्यो ब्राह्मणः ॥ १६ ॥

दम्पती एव ॥ १७ ॥

‘एतान्’ ‘वलीन्’ ‘यावद्’ ‘वसेत्’ स्वगृहे, तावत् ‘स्वयमेव’ ‘हरेत्’। ‘अपिवा’ पीडादी ‘अन्यः ब्राह्मणः’ प्रतिनिधिरपि अत्र अधिकारी। अत्र कार्ये ‘दम्पती’ भार्या पतिश्च उभौ ‘एव’ तुल्याधिकारिणौ ॥१५,१७॥

भा०—ये बलि जिस समय मकान पर रहे उस समय स्वयं ही सम्पन्न करे अथवा (पीडा आदि होने के कारण स्वयं असमर्थ होने पर) अन्य ब्राह्मण द्वारा भी कराने से हो सकत है। इस कार्य के लिये स्त्री पुरुष दोनों ही समान अधिकारी हैं। इससे पत्नी भी बलिहरण कर सकती है ॥१५,१६,१७॥

इति गृहमेधिव्रतम् ॥ १८ ॥

‘इति’ एतत्सण्ठोक्तं वैश्वदेवादिकं ‘गृहमेधिव्रतम्’ गृहमेधिनः गृहस्थस्य व्रतम् अवश्यं प्रतिपाल्य नियमितकार्यम् ॥ १८ ॥

भा०—यह (इस खण्ड के आरम्भ से अब तक जो कुछ कहा गया है) गृहस्थों के लिये अवश्य कर्तव्य है ॥ १८ ॥

स्त्री ह सायं प्रातः पुमानिति ॥ १९ ॥

‘सायं स्त्री’ ‘प्रातः पुमान्’ कुर्यादिदं बलिहरणम् ‘इति’ एवं नियमः कस्यचिदाचार्यस्य अभिमतः। अत्राप्यस्य गोभिलास्य नासम्मतिः ॥ १९ ॥

भा०—‘प्रातः काल में गृहस्थामी ही और सायंकाल में उस की पत्नी ही बलिहरण करे’ यह भी किसी २ आचार्य का मत है ॥ १९ ॥

सर्वस्य त्वेवान्नस्यैतान् वलीन् हरेत् पित्र्यस्य वा

स्वस्त्ययनस्य वाऽर्थार्थस्य वा ॥ २० ॥

• पत्नी बिना वेद मन्त्र पढ़े बलिहारी करे ऐसा आचार्य ने नहीं कहा ॥ मनु में भिन्नों को बिना मन्त्र पढ़े बलि हरण करे ऐसा लिखा है वह उन लोगों के लिये है जिन की मन्त्र शक्त्या है ॥

‘ पितृवस्य वा ’ पितृकर्णार्थं शृतस्य, ‘ स्वस्त्ययनस्य वा ’ स्वस्त्ययनार्थं कल्याणार्थं ब्राह्मणभोजनाय शृतस्य वा, ‘ अर्घ्यार्थस्य वा ’ अर्घ्यः प्रयोजनं किमपि प्रयोजनं स्वभोजनादिकमुद्दिश्य पक्षस्य वा ‘ सर्वस्य एव ’ सर्वप्रकारस्यैवाग्रस्य ‘ एतान् बलीन् हरेत् ’ बलिहरणे इदमेवात्रं ग्राह्यमिति न नियमः ॥२०॥

भा०:—पितृ कार्य के लिये हो, या ब्राह्मण भोजनादि कल्याण कार्य के लिये हो या शपने ही पेट भरने के लिये हो, सब ही प्रकार के अन्न से बलि कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ॥ २० ॥

यज्ञादेव निवर्त्तते ॥ २१ ॥

‘ यज्ञात् ’ ज्योतिष्टोमादिकं यज्ञमारभ्य (त्यजलोपे पञ्चमी) ‘ एव ’ ‘ निवर्त्तते ’ इतः कर्त्तव्यः पुरुषइति यावत् । यज्ञे दीक्षितस्य नास्त्यत्रातिर्कर्त्तव्यतेति भावः ॥ २१ ॥

भा०:—ज्योतिष्टोमादि जिस किसी यज्ञ का क्यों न हो, अनुष्ठान आरम्भ करने पर फिर यह बलिकार्य करना उचित नहीं ॥ २१ ॥

यद्येकस्मिन् काले त्रीहियवौ प्रक्रियेतान्यतरस्य

कृत्वा कृतं मन्येत ॥ २२ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् काले ’ त्रीहियवौ ‘ उभयविधे अन्नेप्रक्रियेताम् प्रस्तुतीकृते स्यातां, तर्हि ‘ अन्यतरस्य ’ त्रीहियवस्य वा बलिहरणं ‘ कृत्वा ’ ‘ कृतम् ’ सम्पन्नं विधिविहितं बलिहरणमिति ‘ मन्येत ’ जानीयात् ॥ २२ ॥

भा०:—यदि एक ही समय ‘ तण्डुल ’ और “ यव ” दोनों ही प्रकार का अन्न प्रस्तुत हो, तो दोनों प्रकार के अन्न से बलि कार्य न करना चाहिये, चाहे दोनों अन्न में से किसी से ही एक ही से बलि कार्य हो सकता है ॥२२॥

यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद्

बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २३ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् काले ’ ‘ पुनः पुनः ’ भृशम् ‘ अन्नं पच्येत, ’ तर्हि प्रथमपक्वेनाग्नेन द्वितीयाद्यैर्वा ‘ सकृत् ’ एकवारमेव ‘ एतद् ’ बलितन्त्रं ‘ कुर्वीत ’ ॥२३॥

भा०:—यदि एक ही समय दो, तीन, या इससे भी अधिक बार, अन्न पके तो प्रतिवार बलिकार्य नहीं करना किन्तु एक ही बार करे ॥ २३ ॥

यद्येकस्मिन् काले बहुधाऽन्नं पच्येत गृहपतिमहानसा-

देवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत ॥ २४ ॥

‘ यदि ’ ‘ एकस्मिन् कुले ’ बहुभ्रात्राद्यधिष्ठते एकदेशेनान्यपि पृथगन्वत्वाद् बहुमहानसेषु सत्सु बहुधा अन्नं पच्येत ’, तर्हि ‘ गृहपति-महानसात् ’ तेषां मध्ये यस्य गुरुत्यादेर्हेतोः स्वामित्वं तस्यैवैकस्य महानसात् पाकस्थानात् ‘ एव ’ एतद् बलितन्त्रं ’, ‘ कुर्वीत ’ न तु प्रतिमहानसात् ॥ २४ ॥

भा०:—यदि एक ही मकान में एक वंश के अनेक व्यक्ति भिन्न २ पाक करके रहते हों, तो उन में से जो सब से श्रेष्ठ होने से घर के स्वामी या मालिक बने हों, वही पाकशाला से इस बलि काष्ठ को करे; प्रत्येक ‘ महानसम् ’ (रसोई घर) से बलि कार्य न करना चाहिये ॥ २४ ॥

यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येन्नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्नं ब्राह्मणाय

दत्त्वा भुञ्जीता ॥२५॥

यस्यो जघन्यं भुञ्जीतवेति ॥ २६ ॥

‘ एषाम् ’ एकगृहस्थितानां पृथगन्नानां भ्रात्रादीनां मध्ये ‘ यस्य तु ’ ‘ अग्रतः सिध्येत् ’ अन्नमिति यावत्, सः किञ्चिदन्नम् ‘ अग्नौ ’ नियुक्तं ‘ कृत्वा ’ अग्नन्तरम् ‘ अन्न ’ पक्वान्नस्याग्रभागं ‘ ब्राह्मणाय ’ अतिथये ’ ‘ दत्त्वा ’ ततः स्वयं भुञ्जीत ’ । ‘ यस्य उ ’ यस्य तु निष्पन्नाग्रपालस्य ‘ जघन्यम् ’ अन्नधिकरं कर्तव्यमन्नं पाकादिदोषेण स्यात्, स तु ‘ भुञ्जीत एव ’ न तेनाग्नेनातिथिं सेवयेत् अपितु तदग्नन्तरकृतपाकएवातिथिं सत्कुर्वीत ॥ २५, २६ ॥

भा०:—यदि एक घर में अनेक पाक वाले (लोग) रहते हों तो उनमें से जिस का भोजन सब से पहिले प्रस्तुत हो वही थोड़ा अन्न अग्नि में डाल कर पके अन्न में से अतिथि सेवा के पंथात्, आप भोजन करे; परन्तु यदि वह अन्न पाकादि दोष से अग्रात्घ्न (मराघ्न) हो जाये तो उस से अतिथि सेवा न करके उसे स्वयं भोजन करे; और फिर से पाक करके अतिथि सेवा करे ॥२५,२६॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥२७॥

‘अथापि’ अपरमपि किञ्चित् ‘उदाहरन्ति’ यदन्ति पूर्वाचार्याः, अत्रैवेति शेषः । तथाहि— ॥२७॥

भा०:—पूर्वाचार्यगण इन “ बलिहरण ” के विषय में और भी कुछ विशेषता कहते हैं ॥ २७ ॥ जैसे:—

* हमने नरमेव अर्थात् अतिथि सेवा में जिस का जिस दिन पहिले पाक हो और अन्ना पाक हो उस दिन उमा का अतिथि सेवा करना आवश्यक है, अन्न लेना या इन्दा रखा करे या न करे ऐसा मुचिन होना है १,२६

एतस्यैव बलिहरणस्यान्ते कामं प्रब्रुवीत भवति हैवास्य २८

‘एतस्यैव बलिहरणस्य’ ‘अन्ते’ अनन्तरं कामं स्वाभिलाषं ‘प्रब्रुवीत’ प्रार्थयति । ‘अस्य’ प्रार्थकस्य ‘ह’ निश्चयं ‘भवति’ प्रार्थितसिद्धिरिति ॥२८॥

किं कुर्वन् कामं प्रब्रुवीतेत्यत्रोत्तरमाशस्यबलिहरणं कुर्वन्निति, तदेव स्वगतं विशदयितुमासस्यबलिहरणं विधत्ते—

भा०—इस बलि के करने पश्चात् जैसी अपनी इच्छा हो “ वर ” मांगे (अर्थात् परमात्मा से मन ही मन) यह प्रार्थना निश्चय सिद्ध होगी ॥ २८ ॥ स्वयन्त्वेवाशस्यं बलिं हरेत् यवेभ्योऽध्यात्रीहिभ्यो ब्रीहिभ्योऽध्यायवेभ्यः सत्वाशस्यो नाम बलिर्भवति ॥२९॥

दीर्घायुर्हैव भवति ॥३०॥

‘आशस्यं बलिं हरेत्’ एतेनैव कामप्रार्थनं सम्पन्नं भवेन्नाम । तच्च बलिं ‘स्वयम्’ एव हरेत्, नात्र प्रतिनिधिः कार्यः । कीदृशश्च स आशस्यबलिर्इत्याह— ‘अध्यात्रीहिभ्यः’ ब्रीह्यन्नोत्पत्तितः पूर्वं ‘यवेभ्यः’ यवाधारोपरि, किञ्च ‘अध्यायवेभ्यः’ यवशस्योत्पत्तितः पूर्वं ‘ब्रीहिभ्यः’ ब्रीह्याधारोपरि बलिं हरेत् ‘स तु’ स एव ‘आशस्यो नाम बलिर्भवति’ । ‘ह’ निश्चयम् ‘एवं’ एतेन बलिप्रदानेन ‘दीर्घायुः भवति’ पुरुष इति । २९, ३० ॥

भा०—उक्त वर प्रार्थना करनी हो तो एक “ आशस्य ” नामक ‘बलि’ स्वयं (प्रतिनिधि द्वारा नहीं) प्रदान करे । जिस समय तक हेमन्त ऋतु का धान्य शस्य (खेत में लगा हुआ अनाज) प्रस्तुत न हो तब तक यव के अन्न होने के पूर्व और तत्पश्चात् जब तक यव शस्य प्रस्तुत न हो तब तक धान्यकी उत्पत्ति के निकट एक बलि होना चाहिये । इसी को आशस्य बलि कहते हैं । इस बलिप्रदान से अवश्य ही दीर्घायु लाभ होगा ॥ २९ ॥ ३० ॥

विश्राणिते फलीकरणानामाचामस्यापामिति बलिं हरेत्

स रौद्रौ भवति स रौद्रो भवति ॥३१॥ ४ ।

इदानीं तत्राशस्ये बली द्रव्यं विधत्ते—‘ फलीकरणानां ’ यितुपीकृतानां धान्यानां यवानां या ‘विश्राणिते’ पाकसिद्धे सति, ‘आचामस्य, मण्डस्य’ अर्थात् मण्डद्रवीभूतानामिति यावत्, अंशं गृहीत्या तेनैव ‘बलिम्’ आशस्यं ‘हरेत्’ । तत्रैव देयतां निर्दिशति,—‘ सः ’ बलिः ‘ रौद्रः ’ रुद्रदेयताको ‘भवति’ । एतेन ‘रुद्राय रमः’—इत्येव तत्र मन्त्रः इत्यपि सूचितम् । अभ्यासः खण्डसगाप्ति सूचकः ३१ इति गोभिलशृङ्गसूत्रे प्रथमप्रपाठके षतुर्षरपहस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥२, ४॥

[प्र० १ खं० ४ सू० २८-३१ खं० ५ सू० १-४] दर्शपौर्णमासप्रकरणम् ॥ २८

भा०:—यह बलि, यव या भात के माण्ड से सम्पन्न करे और “ रुद्राय नमः ” इस मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥

अथ दर्शपौर्णमासयोः ॥१॥

इत्यधिकारसूत्रम् । प्रपाठकान्तनधिकृतं वेदितव्यम् ॥१॥

भा०:—अब यहां से दर्श और पौर्णमासयाग के विषय में उपदेश आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

सन्ध्यां पौर्णमासीमुपवसेदुत्तरामित्येके ॥२, ३ ॥

‘सन्ध्यां पौर्णमासीं यस्मिन्नहनि प्रातःसन्ध्याकालतत्पूर्वत एव वा पौर्णमासी आरब्धा, तमेवाहः ‘उपवसेत्’ । ‘एके’ आचार्याः ‘उत्तराम्’ अस्तमितोदयामुच्चैरुदयां वा पौर्णमासीमुपवसेत् ‘इति’ आहुः; तत्रापि न दोष इत्याशयः २-३

भा०:—दर्श पौर्णमासयाग करना ही तो, उस २ दिन के पूर्व उपवास रहना चाहिये । उसी विषय में कहा जाता है कि सन्ध्या पौर्णमासी * लक्ष्य करके उस दिन उपवास करे; उत्तरा पौर्णमासी में अर्थात् अस्तमितोदया * वा उच्चैरुदया * में ही उपवास करना योग्य है । यह कतिपय आचार्य लोग कहते हैं । अर्थात् गोभिलाचार्य के अपने मत से जिस दिन सूर्योदय में पूर्णिमा हो, पश्चात् अपरान्ह में या रात्रि में प्रतिपत् (परिधा) हो, या अरुणोदय पर्यन्त ही पूर्णिमा हो, उसी दिन उपवास कर्त्तव्य है । किसी २ के मत से उत्तरा पौर्णमासी उपवास के योग्य है । अर्थात् जिस दिन चतुर्दशी होकर पीछे सूर्यास्त समय या उसके पीछे पूर्णिमा हो उस दिन उपवास करे ॥२, ३॥

अथ यद्दहश्चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्याम् ॥४॥

उपवसेतेत्यनुवसन्ते । एतेन गताध्वाग्नावास्या नोपास्येति कलिता ॥ ४ ॥

भा०:—जिस दिन चन्द्र दर्शन की कोई सम्भावना न हो, सूर्योदय ही से सम्पूर्ण अमावास्या वा पीछे प्रतिपत् हो, उनी दिन अमावास्या का उपवास होगा । इस से जिस दिन चतुर्दशी के पीछे अमावास्या हो जिस की ‘गताध्वा’ कहते हैं, उस में उपवास सुतरां निषिद्ध हुआ । फल तो पूर्णिमा और अमावास्या के उपवास में है, और दोनों ही में उदयातिथि याच्य है, सुतरां पूर्वपक्ष याग की परिधा और अपर पक्षयाग के प्रतिपत्, सूर्योदय

में जिस दिन जो तिथि हो, वही ग्राह्य है ॥ ४ ॥

पक्षान्ताउपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः ॥ ५ ॥

यावज्जीवं सर्वपामेव मामानां 'पक्षान्ताः' अनावास्याः पूर्णिमाश्च 'उपवस्तव्याः' तासु उपवासः कार्यः । किञ्च 'पक्षादयः' कृष्णानां शुक्लानाञ्च सर्वपामेव पक्षान्तादिभूताः प्रतिपदः 'अभियष्टव्याः' तासु वक्ष्यमाणलक्षणोयागः कार्यः ॥५॥

भा०—जवत्तश् जीवे, प्रतिमास के पक्षान्त में अर्थात् अनावास्या और पूर्णिमा में उपवास करना चाहिये एवं प्रतिमास के पक्षादि में अर्थात् शुक्ल और कृष्ण दोनों परिवा तिथि में याग करे ॥ ५ ॥

आमावास्याेनहविषापूर्वपक्षमभियजतेपौर्णमास्येनापरपक्षम्

अनावास्यायानुषोष्य शुक्लप्रतिपदि यद्विहृतं तेनैव 'आमावास्याेन' हविषा 'पूर्वपक्षम्' शुक्लपक्षं पञ्चदशाहं सप्तममेव 'अभि' व्याप्य 'यजते' यागं कृतमिति स्वीकृतं रयात् । एवं 'पौर्णमास्ये' हविषापि 'अपरपक्ष' सर्वमिति ॥६॥

अत्र प्रसङ्गात्, उपवास्य-पौर्णमास्यानावास्यानिर्णयाय च पौर्णमास्यादि लक्षणं तत्तद्गदनिर्णयञ्चाह—

भा०—अनावास्या को उपवास करके शुक्ल पक्ष की परिवा को जो "याग" किया जावेगा, वही याग सम्पूर्ण शुक्ल पक्ष में व्याप्तयाग किया हुआ मानना चाहिये, और पूर्णिमा में उपवास करके कृष्णपक्ष की परिवा में जो याग किया जायेगा, उसी में सप्तम कृष्णपक्ष व्यापी याग सम्पन्न हुआ-समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यः परमो विकर्षः सूर्याचन्द्रमसोः सा पौर्णमासी यः परमः

सङ्घर्षः सामावास्या ॥७॥

'सूर्याचन्द्रमसोः' ग्रहयोः मिथः 'यः' यस्यां तिथौ "परमः" अतिशयितः 'विकर्षः' विकर्षः दूरतोऽवस्थानम् (उभयोर्मिथः सप्तमराशिस्थित्वात्), 'सा' तिथिः 'पौर्णमासी' ; 'यः' यस्यां तु 'परमः' अतिशयितः 'सङ्घर्षः' सन्निकर्षः साच्चिध्यम् (उभयोरेकराशिस्थित्वात्), 'सा' तिथिः 'अनावास्या' ॥७॥

भा०—सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों के जिस तिथि में परम विकर्ष हो अर्थात् परस्पर सप्तम राशि में स्थिति होने से अति दूर में अवस्थिति होती है, उसी तिथि को 'पौर्णमासी' कहते हैं । एवं जिस तिथि में इन दोनों ग्रहों के परम सङ्घर्ष घटे (अत्यन्त निकट) उस तिथि को अनावास्या कहते हैं ॥७॥

यदहस्त्वेव चन्द्रमा न दृश्येत ताममावास्याङ्कुर्वीत दृश्य-
मानेऽप्येकदा गताध्वा भवतीति ॥८, ९॥

‘यदहः’ यस्मिन् दिने ‘तु’ ‘चन्द्रमा न दृश्येत एव’, ‘ताम्’ तिथिम्
‘अमावास्यां’ ‘कुर्वीत’ स्वीकुर्वीत । ‘एकदा’ एकस्मिन् काले अहोरात्रयोः दृश्य-
मानेऽपि चन्द्रमसि, सा ‘गताध्वा’ प्राप्तपक्षा अमावास्यायेति रात्र्यनामा ‘भवति’
‘इति’ गतमिदं पौर्णमास्य वास्यालक्षणम् ॥ ८, ९ ॥ पौर्णमासी त्रिविधेत्याह—

भा०—जिस दिन रात्रि में चन्द्रदर्शन की सम्भावना नहीं, उस को अमा-
वास्या कहते हैं । एकवार केवल कुछ समय के लिये चन्द्रदर्शन की सम्भा-
वना के स्थानमें भी अमावास्या स्वीकार कियी जाय उस को ‘गताध्वा’
कहते हैं । अर्थात् आरब्धगति अमावास्या कहने से इस से जिस सूर्योदय
काल में या उस के पीछे सन्ध्या के पीछे तक भी अदृशी हो किन्तु रात्रि
में अमावास्या ही उसी को “ गताध्वा ” कहते हैं, एवं निग दिन सूर्योदय
से अमावास्या, सम्पूर्ण रात्रि भी अमावास्या वा कुछ रात्रि बीते पर भी
प्रतिपदा आरम्भ हो; उस को भी अमावास्या ही कहते हैं । इस प्रकार दो
प्रकार की अमावास्या निश्चित हुई ॥ ८, ९ ॥

त्रयः पौर्णमासीकाला भवन्ति सन्ध्या वास्तमितोदिता

वोच्चैर्वाऽथ यदहः पूर्णो भवति ॥१०, ११॥

‘अथ’ ‘यदहः’ यस्मिन् दिने ‘पूर्णो भवति’ चन्द्रमा, सैव पौर्णमासीति
शेषः । ‘पौर्णमासीकालाः’ ‘त्रयः भवन्ति’ तथाहि—सन्ध्येत्यादि । सूर्योदयात्
तत्पूर्वतो या पूर्णिमा यत्र सा सन्ध्या-पौर्णमासी, सूर्यास्तमितेन साक्रमेव
पूर्णादयो दृश्येत चेत् सा अस्तमितोदिता-पौर्णमासी, सूर्यास्तात् उच्चैः ऊर्ध्वं
रात्री पूर्णयेत् चन्द्रः, सैव उच्चैः-पौर्णमासीत्युक्तास्त्रयः कालाः ॥ १०, ११ ॥

भा०—जिस दिन रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा की सम्भावना हो, उसी दिन
पूर्णिमा हीती है । यह पूर्णिमा तीन प्रकार- की है । प्रथम, सन्ध्या पूर्णिमा,
अर्थात् प्रातःसन्ध्या के पहिले आरम्भ, रात्रि में पूर्णिमा वा प्रतिपदा हीती
है । द्वितीय, अस्तमितोदया पूर्णिमा; यह सूर्यास्तकारा में आरब्ध अतः दिन
में अदृशी एवं रात्रि में और उस के पीछे दिन बहुक्षण-पूर्णिमा हीती है ।
तृतीय, उच्चैः पूर्णिमा, अर्थात् सूर्यास्त के पीछे अदृशी छोड़ कर पूर्णिमा जो
पर दिन बहुत रात्रि तक रहेगी ॥ १०, ११ ॥

पृथगेवेतस्य ज्ञानस्याध्यायो भवत्यधीपीत वा तद्विद्वयो वा
पर्वावगजयेत् ॥१२॥

‘एतस्य ज्ञानस्य’ ग्रहनक्षत्रकालादिवोधस्य ‘पृथगेव’ ‘अध्यायः’ पाठयोग्रन्थः
‘भवति’ ज्योतिःशास्त्रनिति । ‘अधीपीत वा’ तं ग्रन्थं समग्रं ‘तद्विद्वयोः’ ज्योति-
र्वैसृभ्यः; सम्पूर्णशास्त्राध्ययनेऽप्रवृत्तञ्चेत् ‘पर्वं’ पक्षान्तकालः तन्मात्रमेव ‘अवग-
जयेत्’ अवगतं स्यात् । अतोऽप्रकृतवर्णनाविस्तारोऽत्रास्माभिर्नक्रियतइति भावः ॥१२

भा०—ग्रह नक्षत्रादि की स्थिति गत्यादि विषय विशेष जानने से, ये सब
बातें मली भाति जानी जासकती हैं । यदि यह जानना ही तो इस के लिये
भिन्न ज्योतिषशास्त्र है उसी की ज्योतिर्विद् परिष्ठत के निकट पढ़ें या सामा-
न्यतः इस की कुछ २ जान लेने से भी होसकता है ॥१२॥

अथ यदहसपवसथो भवति तदहः पूर्वाह्ण एव प्रातरा-
हुतिं हुत्वैतदग्नेः स्थण्डिलं गोमयेन समन्तम्पर्युपलिम्पत्य-
थेध्मानुपकल्पयते खादिरान् वा पालाशान् वा खादिरपा-
लाशालाभे विभीतकतिल्वकवाधकनीवनिम्बराजवृक्षशा-
ल्मल्यरलुदधित्थकोविदारश्लेष्मातकवर्जं सर्ववनस्पतीना-
मिध्मोयथार्थं स्याद्विशाखागि प्रति लूनाः कुशावर्हिरुप-
मूललूनाः पितृभ्यस्तेपामलाभेशूकतृणशरशीर्यवल्वजमुतव-
नलशुण्ठवर्जं सर्वतृणान्याज्यं स्थालीपाकीयान् ब्रीहीन्
वा यवान् वा चरुस्थालीं मेक्षणं क्षुवमनुगुप्ता अप इति
यानि चानुकल्पमुदाहरिष्यामो न तदहः प्रसृजयेत् दूरादपि
गृहानभ्येयादन्यतरतुधनं क्रीणीयान्न विक्रीणीतावहुवादी
स्यात् सत्यं विवदिपेदथापराह्ण एवाप्तुत्यौपवसथिकं दम्पती
भुञ्जीयातां यदेनयोः काम्यं स्यात् सर्पिमिश्रं स्यात् कु-
शलेन ॥१३-२६॥ ५

‘अथ’ कालनिर्यायानन्तरमुपवासदिनकर्त्तव्यतां वदामइति । ‘यदहः’
यस्मिन् दिने ‘उपवसथः’ उपवासः कर्त्तव्यः ‘भवति’, ‘तदहः’ तस्मिन् दिने,
अर्थात् पृथपक्षयागाय अनावास्यायामपरपक्षयागाय सन्ध्यानामपीरुमास्या

च 'पूर्वाह्ने एव', प्रातराहुतिं हुत्वा' अग्निहोत्रीयप्रातर्होमं समाप्य इमानि
 कर्त्तव्यानि । तानि च यथा—'एतदग्नेः' प्रातराहुत्यादिसाधनाग्नेः 'स्थण्डिलं'
 'गोमयेन' 'सन्तं पर्युपलिम्पति' सन्तात् सर्वत उपलिम्पेत इत्येकम् । 'अथ'
 तदनन्तरम् । 'सादिरान् वा पालाशान् वा' 'इध्मान्' इन्धनकाष्ठान् 'उपकल्प-
 यते' उपकल्पयेत् उपस्थितान् कुर्वीतेति द्वितीयम् । तत्र 'सादिरपालाशालाभे'
 एतत्सूत्रपरिगणितविभीतकादिकैतिपयवृक्षेधमवर्जं 'सर्ववनस्पतीनाम्' एव
 'इध्नः' 'यथार्थं' अर्घं प्रयोजनं सिद्धं यथा स्यात् तथा कृत्वा ग्रहणीयः 'स्यात्' ।
 'विशाखानि' येभ्यः स्थानेभ्यः शाखा विशिष्टा भवन्ति, तानि सन्धिस्थानानि
 'प्रति' लक्षीकृत्य 'लूनाः' 'द्विजाः' 'कुशाः' कुशवृक्षानि 'वर्हिम्' वर्हिषे वर्हिरा-
 स्तरणादिदेवकार्यार्थं मुपकल्पयेतेति तृतीयम् । 'उपलूनमूलाः' मूलसमीपत-
 त्रिद्विजाः कुशाः कुशवृक्षानि 'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थमुपकल्पयेतेति चतुर्थम् ।
 तत्र 'तेषां' कुशानाम् 'अलाभे' शूकादिकवर्जम् 'सर्ववृक्षानि' एव ग्राह्याणि ।
 'आज्यं' घृतं सम्पाद्यमिति पञ्चमम् । 'स्थालीपाकीयान्' स्थालीपाके पक्तव्यात्
 'त्रीहीन् वा यवान् वा' सम्पादयेदिति षष्ठम् । 'षष्ठस्वाली' पाकपात्रं सम्पाद-
 नीय गिति सप्तमम् । 'मिश्रणं' दूर्वाविशेषमासाद्यमित्यष्टमम् । 'सुवम्' आहुति-
 साधनमासाद्यमिति नवमम् । 'अनगुप्ता अपः' पूर्वाक्त लक्षणाः आसादनीयाइति
 दशमम् । अन्यानि 'यानि च' 'अनुकल्पम्' पश्चादिहैव दर्शपौर्णमासयागकर्त्तव्यानि
 'उदाहरिष्यामः' वक्ष्यामः, तान्यपि सर्वाणि सम्पाद्य स्थण्डिले उपस्थाप्यानि ।
 अथ तद्विनप्रतिपाद्यनियमानाह—'तदहः' तस्मिन्नहनि 'न प्रसृज्येत' गृहत्यागं न
 कुर्यातेति प्रथमनियमः । यदि पूर्वं दूरगत स्तिष्ठेत तर्हि तद्विने तस्मात् 'दूरा-
 दपि' 'गृहान्' स्वकीयान् 'अभ्येयात्' आगच्छेदिति द्वितीयनियमः । 'अन्यतस्तु'
 यणिजादेः सकाशात् 'धनं' क्रय्यद्रव्यं 'क्रीणीयात्' 'न विक्रीणीयात्' इति
 तृतीयनियमः । 'अयहुवादो' अितभाषी 'स्यात्' इति चतुर्थनियमः । 'सत्यं'
 'विवदिपेत' वक्तुमिच्छेत "सत्यसंहिता धै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः" (ऐ०ब्रा०
 ३. १. ३.)—इति श्रुतिपरिचयान्निश्चयमेव सर्वतः सत्यपालने न विद्यते शक्ति-
 मनुष्याणामिति यावच्छक्यं सत्यमेव वदेदिति पञ्चमनियमः । 'अप' इध्मा-
 दिसम्पादनानन्तरम् 'अपराह्णे एव' 'दम्पती' यजमानस्तस्य पत्नी च उभा-
 वेय रत्नानं प्रकृत्य 'शीपयससिक्तं' उपवासदिननियमसेव्य मन्त्रादिकं तथा च
 'लवणं' मधु मांसं च क्षारांगो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत, नोहरात्री
 च फिष्टन—इति गृह्यान्तरयज्ञानुगतमिति यावत् (उररात्री समधिकारात्री;

अधिकरात्रिभोजनेन पीडासम्भवस्तथा च सत्यां परदिनार्थव्याघातः स्यादित्य-
भिप्रायः) । 'एतयोः' दम्पत्योः 'यत्' किञ्चन 'काम्यम्' ईप्सितं 'स्यात्' तदेव
' सर्षिमित्रं ' घृतमहितां ' कुशलेन ' सन्वृत्तगनना ' भुञ्जीयाताम् ' ॥ १३-२६ ॥
इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ १। ५ ॥

भा०:—१सके अनन्तर उपवास दिन के कर्त्तव्य आदि उपदेश करते हैं ।

जिस दिन उपवास कर्त्तव्य हो, उस दिन जय कि सूर्योदय में पूर्णिमा हो
और जिस दिन सूर्योदय में अमावास्या हो उस दिन पूर्वाहुति में अग्निहोत्र
की प्रातराहुति समाप्त कर ये सब कार्य करे अर्थात् प्रथम गोबर से अग्निगृह
शच्छी प्रकार लीपे । दूसरे, रैर, या पलाश के इन्धन इकट्ठा करे । यदि रैर
या पलाश के संग्रह करने में कठिनता हो तो बहेड़ा (विभीतक) लोध,
वाधक (?) कदम्ब, निम्ब, राजवृक्ष, गालमली, अरलु, दधित्य, इन ग्यारह
को छोड़ कर अपर जो कोई काष्ठ हो यद्यपि इन्धन हो सकता है । तृतीय,
देव कार्य के लिये स्कन्ध से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे । चतुर्थ, पितृ कार्य
के लिये मूल से छिन्न कई एक कुशा संग्रह करे । यदि कुशा संग्रह करने में
कोई कठिनता हो तो, शुरुतृण, शर, शीर्य, बल्वज, सुतव, (?) इन सात
प्रकार के तृणों को छोड़ कर अपर जो कोई तृण हो यद्यपि व्यवहृत हो सकता
है । ५ म घृत, ६ ठे. स्थाली पाक में पाक के उपयुक्त कतिपय धान्य या
यव, सप्तम, चरुस्थाली (पाकपात्र), ८ ग, नैत्रल, ९ म, स्त्रुव; १० म, रक्षित
जल इन उक्त १० को एवं आगे जो दो कहे जायेंगे इन सब को सम्पादन कर
अग्निगृह में उपस्थित करे । उस दिन वक्ष्यमाण कतिपय नियम भी प्रतिपालन
करना चाहिये । प्रथम, गृहत्याग नहीं करना, दूसरे, दूरस्थ होने पर भी
ऐसे अवसर में अपने घर की लौट आवे; तीसरे, अन्य व्यक्ति से वस्तु नील
तो ले, पर अपनी वस्तु देवे नहीं; चतुर्थे, मितभाषी अथवा प्रयोजन से अधिक
नहीं बोलना; पाचवें, सम्पूर्ण रूप से सत्य ही बोलने की इच्छा रखनी ।
अनन्तर स्त्री, पुरुष, दोनों ही अपराह्न में स्नान कर उपवास दिन के निय-
मानुसार * जो इच्छा हो वही ची मिलाकर तृप्ति के साथ भोजन करे ॥ १३-२६ ॥
गो० गृ० सू० के प्रथमाध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १, ५ ॥

मानतन्तव्यो हीवाचाहुता वा एतस्य मानुष्याहुति-

* अर्थात् उपवास दिन लवण, मधु, मीस, अपर जिस २ वस्तु से शरीर में चार।। उत्पन्न हो, उस २ को
नहीं खाना । इसे छोड़ मर ही वस्तु खा सकते हैं परन्तु अधिक (रात्रि में) नहीं खाना अर्थात् जिस से पचने में
अथवा डाँकर दूसरे नार्थ करने में व्यय हो ॥

भवति य औपवसधिकं नाश्रात्यनीश्वरो ह क्षीधुको भवत्य-
 काम्यो जनानाम्पापवसीयसी हास्य प्रजा भवति य औप-
 वसधिकं भुङ्क्त ईश्वरो ह भवत्यक्षीधुकः काम्यो जनानां
 वसीयसी हास्य प्रजा भवति तस्माद्यत् कामयेतौपवसधिकं
 भुञ्जीयातामध एवैतांश्च रात्रिंश्च शयीयातान्तौ खलु जाग्र-
 न्मिश्रावेवैतांश्च रात्रिं विहरेयातामितिहासमिश्रेण वा केन-
 चिद्वा जुगुप्सेयातान्त्वेवात्रत्येभ्यः कर्मभ्यो न प्रवसन्तुपव-
 सेदित्याहुः पत्न्या व्रतं भवतीति ॥१-८॥

‘मानतन्त्यो’ नामाचार्यः ‘उवाच ह’ निश्चयत्वेन कथितवान् । तथाहि
 आहुतेत्यादि पत्न्या व्रतं भवतीत्यन्तम् । ‘यः’ यजमानः ‘औपवसधिकम्’
 उवाच स-दिन-भोज्यं भोजनं ‘न श्राति’ निराहारएव तिष्ठति, ‘एतस्य’
 ‘मानुष्याहुतिः’ मनुष्योपकारार्था आहुतिः यागक्रिया ‘वै’ निश्चयम् ‘आ-
 हुता’ निष्पाला ‘भवति’ एवञ्च ‘क्षीधुकः’ क्षुद्युक्तः पुरुषः ‘ह’ निश्चयमेव
 अनीश्वरः ‘व्रतकर्मकरो दौर्बल्यादसनर्थः’ भवति ‘क्षिप्त’ जमानाम् ‘लोक-
 सःधारणानपि’ अकाम्यः ‘अप्रियः भवति । अपिच ‘ह’ निश्चयमेव ‘अस्य’
 क्षुद्युक्तस्य ‘प्रजा’ सन्ततिः ‘पापवसीयसी’ पापबहुविशयीभूता ‘भवति’ ।
 पक्षान्तरे-‘यः औपवसधिकं भुङ्क्ते’ सः सुतराम् ‘अक्षीधुकः’ क्षुच्चून्यः
 ‘ईश्वरः’ व्रतकर्मकरो सशलत्वात् ‘भवति’ । ‘क्षिप्त’ ‘जनानां’ लोकसाधारणा-
 नामपि ‘काम्यः’ प्रियः भवति । अपिच ‘ह’ निश्चयमेव ‘अस्य’ क्षुच्चून्यस्य
 ‘प्रजा’ सन्ततिः ‘वसीयसी’ स्वयम्भूता ‘भवति’ । तस्मात् ‘क्षुद्युक्तस्य’
 यजमानस्य एयं निन्दाशयणात् ‘औपवसधिकम्’ उपवस-दिन-भोज्यं यत्
 कानयेत् ‘भुञ्जीयाताम्’ दम्पतीति । ‘एताम्’ उपवसन्दिवसीयां ‘रात्रिम्’
 ‘अधः’ नीचैः ‘शयीयाताम्’ । ‘क्षिप्त’ ‘ती’ दम्पती ‘खलु’ निश्चयम् ।
 ‘एतां रात्रिं’ ‘जाग्रन्मिश्री’ अंगशो निद्रिती अंगशो जागरिती ‘एय’
 ‘विहरेयातां’ यापयेताम् । तत्र जागरणीपायसभिगमयितुमाह-इतिहासमिश्रेण
 वा ‘इतिहासो वैदिकेतिष्ठतः “व्रतह य इदमेक सप्रजानीदित्यादिः” तदा-
 लोचनानिमित्तेन स्थापेन रात्रिं यापयेताम्; ‘वा’ अथवा ‘केनचित्’ येन-
 केगाप्यभियुक्तारश्नेन साकं धर्मांलोचनया जागरिती रात्रंपुं यापयेताम्, न

तु सर्वां रात्रिम् अस्ताद्यद्यान्तां जघाद्विव सुप्ती भवेतामिति भावः । ' तु ' परन्तु जाग्रदवस्थायाम् ' अत्रत्येभ्यः कर्मभ्यः ' स्त्रीसंसर्गादिभ्यः ' जुगुप्सेयाता-
मेव ' आत्मनो रक्षसं कुर्यायात्मेवेति । ' प्रवसन् ' प्रवासं कुर्वन् ' नउपवसेत् '
' इति आहुः ' केचनेति । परं तत्रापि गृहे पत्नीत्याच्चेत् तथा ' पतया ' व्रतं
भवति ' न तु व्रतभङ्गाशङ्केति भावः । ' इति ' खण्डारम्भादि एतत्पर्यन्तं सम-
स्तमेव मानतन्तव्याचार्याभिनतमिति यावत्, मनाप्यभिनतमेवेति प्रदर्शितम् । १-८

भा०—'मानतन्तव्य' नामक आचार्य कहते हैं कि " जो कोई यजमान
उपवास दिन में उस दिन के नियमानुसार यदि भोजन न करे तो उस के
मनुष्योपकारार्थं कियी हुयी सम्पूर्ण यागक्रियार्थं निष्फल होती हैं । पूर्व
दिन निराहार रहने से परदिन में क्षुधा से व्याकुल होकर चञ्चलता के
कारण यागक्रिया करने में अवश्य असमर्थ होगा । * श्रीर साधारण लोगों
को भी अप्रिय होगा । एवं उसके पुत्र, पौत्रादि प्रजा भी पापबुद्धि (१) के
वशी भूत होंगी (२) । तात्पर्य यह है कि क्षुधा रहित होकर अर्थात् भोजन
करके कार्य करने से मन स्थिर रहने से यागक्रिया सब सम्पन्न होगी और
साधारण लोगों को प्रिय भी होगा, एवं उस के पुत्र, पुत्रादि, प्रजा भी यश
में रहेगी । इस लिये क्षुधातुर होकर कोई कार्य नहीं करना, स्त्री पुरुष दोनों
ही (उपवास दिन के मोक्ष्य वस्तु) यथेच्छ भोजन करे । उपवास के दिन
रात्रि में खाट के ऊपर शयन न करे एवं वैदिक इतिहास की आलोचना
में या अन्य लोगों के साथ जिस किसी प्रकार ही धर्म के विचार में रात्रि का
आद्यन्त काल जाग कर व्यतीत करे अर्थात् सम्पूर्ण रात्रि ग्राह निद्रा में विभूत
न रहे कर, थोड़ा सोना, परन्तु स्त्री संमर्गादि व्रतनाशक कार्य से आपे को
बचावे । प्रवास में रहने से उपवास नहीं रहना चाहिये या घर में स्थित
पत्नी द्वारा भी यह व्रत ही सकता है, ॥ १-८ ॥

यथा काययेत तथा कुर्यात् ॥ १० ॥

उपवासदिने भोजनफणमभोजनफणञ्च द्वे एयोक्ते, तदत्र यथा काययेत
तथा कुर्यात् ' अनीश्वरत्यादिकमिच्छेद्येत् अभोजनण्य स्यात्, अनीश्वरत्यादि
कमिच्छेद्येद् भोजनं कुर्यादित्य ॥ १० ॥

* क्षुधातुर चक्षुः शक्ति स्थिति विगी धाम के योग्य नहीं । (१) अपने शरीर में वृष्ट देहतर वस्तु जैसे भार प्रणव
होने । (२) विदू गद्य के इच्छान्तुगर निराहार रहे वर कार्य करना शक्य, भोग्य उन पर मर्गन गद्य गुरु
धनुष सहने के कारण दोनों ही मनुष्य वर्ग के करने में अयोग्य रहने अर्थात् सोचें देते, सुपरा के अर्थ विदुष्य
के अन्तः एव फण वरा है यह अर्थ नदी पड़ेगा ।

भा०—भोजन करके याग क्रिया करने में क्या फल है एवं भूखे रह कर करने में क्या विशेषता है सो कहा गया—इन दोनों में से जैसी इच्छा हो करे ॥१०॥

एवमेवाहिताग्नेरप्युपवसथो भवति यज्ञान्नायो विदध्यात् ॥११, १२

‘ एवं ’ कथितप्रकारः ‘ एव ’ आहिताग्नेः ’ अपि नित्याग्निहोत्रिसोऽपि ‘ उपवसथः ’ उपवासनिषनः ‘ भवति ’, ‘ यच्च ’ उपवसथकार्यं स्थण्डिललिम्पनादिकम् ‘ आम्नायः ’ वेदः ‘ विदध्यात् ’ विधातुं युज्यते, तदेवास्माभिः संस्मृत्य विहितमिति श्रद्धोत्पादनम् ॥ ११, १२ ॥

भा०—उक्त उपवास के नियमादि सब “ आहिताग्नि ” के लिये भी हुए, इसी प्रकार वेद का विधि (हो सकता) है ॥ ११, १२ ॥

अथ पूर्वार्द्धे एव प्रातराहुतिं हुत्वाऽग्नेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणतोऽग्नेः प्रागग्रान् दर्भान्नास्तीर्य्य तेषां पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठन् सव्यस्य पाणेरङ्गुष्टेनोपकनिष्ठकया चाङ्गुल्या ब्रह्माऽऽसनात् वृणमभिसङ्गृह्य दक्षिणापरमष्टमं देशं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति ॥ १३, १४ ॥

‘ अथ ’ अनन्तरं तत्परदिने प्रतिपदि पूर्वार्द्धे एव प्रातराहुतिं हुत्वा ‘ अग्निम् ’ अग्नेण सम्मुखीकृत्येति यावत् ‘ परिक्रम्य ’ प्रदक्षिणीकृत्य ‘ अग्नेः ’ दक्षिणतः दक्षिणस्यां दिशि प्रागग्रान् पूर्वस्यां दिशि कृताग्रभागान् ‘ दर्भान् ’ आस्तीर्य पातयित्वा ‘ तेषां ’ पातितदर्भाणां ‘ पुरस्तात् ’ सम्मुखे ‘ प्रत्यङ्मुखः ’ पश्चिमाभिमुखः ‘ तिष्ठन् ’ स्थितिं कुर्वाणः ‘ सव्यस्य पाणे ’ धामहस्तस्य ‘ अङ्गुष्टेन ’ उपकनिष्ठकया अनामिकया ‘ अङ्गुल्या च ’ ब्रह्मासनात् ब्रह्मानामलिंग उपवेशनाय पातिताद् दर्भपुष्पात् ‘ वृणम् ’ एकम् ‘ उपसंगृह्य ’ गृहीत्वा ‘ दक्षिणापरं ’ दक्षिणस्याः अपरस्याः पश्चिमायाश्च दिशोरन्तरालं नैर्ऋतं कोणम् ‘ अष्टमं देशं ’ प्रति ‘ निरस्तः परावसुः ’—इति मन्त्रेण निरस्यति प्रतिपेत् ॥ इति वृणनिरसनम् ॥१३, १४॥

भा०—अनन्तर उस के पर दिन में अर्थात् प्रतिपदा को पूर्वार्द्ध ही में यथानियम प्रातराहुति होम समाप्त कर तदनन्तर अग्नि को अपने सम्मुख रख, प्रदक्षिण करके, अग्नि के दक्षिण में कई एक कुशा गिराये, उन कुशाओं के अप्रभाग पूर्व दिशा में रहेंगे । उस हाले हुए कुशासन पर सम्मुख पश्चिमाभिमुख कर याग हाथ की श्रद्धुष्ट और अनामिका श्रद्धुणी के द्वारा ब्रह्मा

के लिये डाले हुए कुशासन से एक तृण लेकर 'निरस्त परावसु' इम मन्त्र से नैऋत कोण में धेके । इसी को 'तृणनिरसन' कार्य कहते हैं ॥ १३, १४ ॥

अपउपस्पृश्याथ ब्रह्माऽऽसनउपविशत्यावसोः सद्ने
सीदामीत्यग्निमभिमुखो वाभ्यतः प्राञ्जलिरास्तआकर्मणः
पर्यवसानाद्भापेत यज्ञसं०सिद्धिन्नायज्ञीयां वाचं वदेद्यज्ञीयां
वाचं वदेद्विष्णवीमृचं यजुर्वा जपेदपि वा नमोविष्णवे इत्येवं
ब्रूयात् ॥१५-२०॥

'अथ' अनन्तरम् 'ब्रह्मा' नाम सर्वकार्यपर्यवेक्षक ऋत्विक् 'अपः' उदकानि 'उपस्पृश्य' स्पर्शा 'आसने' तत्र, 'आवसोः' सद्ने सीदामि 'इति' मन्त्रमुच्चरन् 'उपविशति' उपविशेत् । 'आ कर्मणः पर्यवसानात्' कर्मान्तं यावत् 'अग्निन् अभिमुखः' सुतरामुत्तरास्यः, 'वाभ्यतः' नियमितवाक् यज्ञीयवचनातिरिक्तवाक् शून्यः, 'प्राञ्जलिः' कृताञ्जलिपुटः मन् 'आस्ते' आसीत् । यदुक्तं वाग्यतइति तदेव स्फुटयति,—'यज्ञसंसिद्धिं' यज्ञानुकुलां वाणीं 'भापेत' वदेत्, 'अयज्ञीयां वाचं न वदेत्', 'यदि' भ्रमादपि 'अयज्ञीयां वाचं वदेत्', 'विष्णवीम्' विष्णुदेवताकां यां कामपि 'अर्चं' 'यजुर्वा' 'जपेत्' पठेत्, 'अपिवा' अथवा 'नमोविष्णवे, 'इति' एतदेव 'ब्रूयात्' ॥ १५-२० ॥

भा०—अनन्तर ब्रह्मा नामक सब कार्य के निरीक्षक एक प्रधान पुरुष जल से हाथ पांव धोकर उस डाले हुए कुशासन पर अग्नि की ओर सम्मुख करके सुतरां उत्तर मुख हो दोनों हाथ जोड़ "आवसोः सद्ने सीदामि" अर्थात् यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त इसी स्थान में रहूंगा ऐसा कह कर नियमित वाक्य मात्र बोलने को मन ही मन दृढ़ प्रतिज्ञा होकर कार्य समाप्ति पर्यन्त बैठे । यज्ञ-सम्बन्ध में जो कुछ उपदेश देने की बात होगी उसे ही कहे, अन्यान्य कोई वाक्य नहीं बोले, यदि भ्रम से कोई दूसरी बात बोले तो उसी समय विष्णु देवता की स्मारिका किसी ऋचा वा यजुर्वेद का मन्त्र पाठ करे; किम्वा 'नमो विष्णवे' इतना कहने से भी निर्वाह होगा ॥ १५-२०॥

यद्यु वा उभयं चिकीर्षेद्वैत्रज्ञैव ब्रह्मत्वज्ञैर्वैतेनैव कल्पेन
छत्रं वोत्तराराङ्गं वादकमण्डलुं दर्भवटुं वा ब्रह्मासने निधाय
तेनैव प्रत्याब्रज्याथान्यत्क्षेपेत् ॥२१-६॥

'यदि उ वै' यदि 'हौत्रं च ब्रह्मत्वज्ञं' उभयमेव गृह्यः 'चिकीर्षेत् कर्तुमि-

च्छेत्, तर्हि 'एतेनेव कल्पेन' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण 'छत्रं', 'वा' अथवा 'उत्तरीय-सङ्गं' उत्तरीयकम्, 'वा' अथवा 'उदकमण्डलं' उदकपूर्णं कण्डलुं 'वा' अथवा 'दर्भयटुं' कुशानिर्मितं ब्राह्मणं ब्रह्मामने' तत्रैव 'निधाय' संस्थाप्य 'तेनैव' पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण प्रदक्षिणादिना 'प्रत्यावर्त्य' प्रत्यावृत्य 'अथ' तदचन्तरम् 'अन्यत्' इह दर्शपौर्णमासे चरुप्रकरणादिकं यत् किमपि विशेषकार्यजातमग्रे वक्ष्यति, तदतिरिक्तम्, अग्निहोत्रप्रकरणे कथितं भूमिजपादिकं सर्वमविशेषेण 'चेष्टेत्' कुर्वति ॥२१॥

इति गोभिलशुद्धसूत्रे प्रथमप्रपाठके पञ्चमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥१-६॥

भा०—यदि होतृ-कार्य और ब्रह्मत्व इन दोनों क्रियाओं को एक ही व्यक्ति करने की इच्छा करे तो ब्रह्मा के लिये उनी डाले हुए आसन पर उनी प्रकार छत्र या उत्तरीय या जल पूर्ण कण्डलु या कुशा निर्मित ब्राह्मण स्थापन करके उनी प्रकार प्रदक्षिणा आदि पूर्वक स्वीय होतृ-के आसन पर वापस आवे। अनन्तर इसके अग्नि कार्य मात्र ही साधारण कार्य सब अर्थात् अग्निहोत्र प्रकरणोक्त भूमि जपादि सब ही करे। (चरु-पाकादि जो कुछ इस में विशेष कर्त्तव्य है, उस विषय में विशेष विधि पीछे कहा जावेगा ॥२१॥ गोभिलशुद्धसूत्र के प्रथमाध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ। ॥१॥



अथोलूखलमुसले प्रक्षाल्य शूर्पञ्च पश्चादग्नेः प्रागग्रान्
दर्भान्नास्तीर्योपसादयति ॥१॥

'अथ' तदनन्तरम् 'उलूखलमुसले' 'शूर्पञ्च' 'प्रक्षाल्य' 'अग्नेः पश्चात्' 'प्रागग्रान् दर्भान्' आस्तीर्य तदुपरि प्रक्षालितानि तानि 'उपसादयति' उपस्थापयति ॥१॥

भा०—तदनन्तर उलूखल, मूमल, और शूर्प अच्छे प्रकार जल से धोकर अग्नि के पीछे भाग में कई एक प्रागग्र कुशा डाल कर उसके ऊपर रखे ॥१॥

अथ हविर्निर्वपति व्रीहीन् वा यवान् वा कथंसेन वा
चरुस्थाल्या वामुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामीति देवतानामादे-
शथंसकृद् द्विस्तूष्णीम् ॥२-३॥

'अथ' तदनन्तरमुपसादिते तत्रोलूखले 'हविः' हविषे हविर्योग्यान् 'व्रीहीन् वा यवान् वा' 'निर्वपति' निर्वपेत् प्रक्षिपेत्। 'कसेन वा चरुस्थाल्या वा' तत्र

प्रक्षेपः कर्त्तव्यः । 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपानि' अत्रामुष्मै-पद-श्रुतेः यत्र यद्दे-
वताकं हविः कार्यं तत्र तपैवील्लेखः, अग्न्यर्थहविर्निर्वापे 'अग्ने त्वा जुष्टं
निर्वपानि' इत्यादि यथा, 'इति' अनेन मन्त्रेण 'देवतानामादेश' देवताना-
नोल्लेखं 'सकृत्' एकावारं, 'द्विः' द्विवारं 'तूष्णीम्' मन्त्रशून्यं देवतानामोच्चारण
रहितमपि निर्वपतीत्यनेन सम्बन्धः । इति निर्वापः ॥२, ३॥

भा०-तदनन्तर हविः पाकके उपयोगी करने के लिये चाहे धान्य हो या
यव, फांसे के वर्त्तन से या घटस्थाली से फेंके (प्रक्षेप करे) जितना धान्य या
हवि के योग्य करना हो वह तीन ही वार में प्रक्षिप्त करदे उनमें से एकवार
'अमुक देवता के सेवने योग्य करने के लिये धान्य या यव तुम को इस उलू-
खल में डालता हूं'-इस मन्त्र से, अपर दोवार विना मन्त्र के डाले ॥२-३॥

अथ पश्चात् प्राङ्मुखोऽवहन्तुमुपक्रमते दक्षिणोत्तराभ्यां
पाणिभ्यान्त्रिः फलीकृतांश्चस्तण्डुलांश्चिर्देवेभ्यः प्रक्षालये-
दित्याहुर्द्विर्मनुष्येभ्यः सकृत्पितृभ्य इति ॥ ४ । ५॥

'अथ' निर्वापानन्तरं 'पश्चात्' उलूखलस्य 'प्राङ्मुखः' तिष्ठन् 'दक्षिणोत्त-
राभ्याम्' उभाभ्यामेव 'पाणिभ्याम्', 'अवहन्तुम्' उपक्रमते' । तत्र 'त्रिः' त्रिवारं
'फलीकृतान्' कण्डितान् 'तण्डुलान्' धान्यानां यवानां वा गृहीत्वा, देवेभ्यः
देवकार्यार्थं 'त्रिः' त्रिवारम्, 'मनुष्येभ्यः' ब्राह्मणभोजनाद्यर्थं द्विः द्विवारम्,
'पितृभ्यः' पितृकार्यार्थं 'सकृत्' एकवारमेव 'प्रक्षालयेत्', 'इति' एवम् 'आहुः'
पूर्वतनाः । इति अवहननम् ॥४-५॥

भा०-अनन्तर उलूखल के पीछे पूर्वाभिमुख सड़े होकर दोनों हाथ में
मूसल पकड़ कर कूटे । कूटने से-तुप-विमुक्त धान्य या यव के तण्डुल *
आदि तीनवार साफ कूट कर देवकार्य के लिये, ब्राह्मण भोजनादि मनुष्य-
कार्य के लिये दोवार, एवं पितृकार्य के लिये एक ही वार जल में धो लेवे ।
यही प्राचीन आचार्यों की सम्मति है ॥ ४५ ॥

पवित्रान्तर्हितांश्चरतण्डुलानावपेत्कुशलशृतमिव स्था-
लीपाकंश्चप्रपद्येत्प्रदक्षिणमुदायुवज्छृतमभिघार्योदगुद्वास्य
प्रत्यभिघारयेत् ॥६-८॥

‘तण्डलान्’ तान् पवित्रान्तहितान्’ प्रक्षालनार्थं पवित्रस्य कुशानिर्मित-
बहुच्छिद्रपात्रविशेषस्य मध्ये स्थापितान् ततएव ‘आ वपेत्’ स्थाल्यामिति
शेषः । ‘प्रदक्षिणं’ यथास्यात्तथा ‘उदायुवन्’ मेक्षणेन मिश्री कुर्वन् ‘कुशलशृतम्
इव’ पाकपटुना पक्कमिव ‘स्थालीपाकं’ तं ‘अपयेत्’ । अपानन्तरं तत्र
पक्वेऽने ‘घृतमभिघार्य’ घृताभि-घारणं प्रकृत्य अग्नेः ‘उदक्’ उत्तरस्याम्
‘उद्वास्य’, संस्थाप्य ‘प्रत्यभिघारयेत्’ पुनरपि तत्र घृतपातं कुर्यात् । इति
निष्पन्नः स्थालीपाकः ॥६-८॥

भा०-कुश का वना “पवित्र” (कुश का बहुत छिद्रवाला) (नामसे प्रसिद्ध)
में प्रक्षालनार्थं गृहीत उस तण्डुल को, उस में से लेकर स्थाली में डाले । पाक
समय में “मेक्षण” द्वारा मिलाकर ऊपर नीचे इस प्रकार पाक करे । यह पाक
एक प्रवीण पाक कर्ता के हाथ के बने हुए की नाई होना आवश्यक है । पाक
प्रस्तुत होने पर घृत का ढार दे अग्नि के उत्तर में उतार कर पुनः उस में
भागानुसार घृत मिलावे ॥ ६।७।८ ॥

अग्निमुपसमाधाय कुशैः समन्तं परिस्त्वणुयात् पुरस्ता-
दक्षिणतउत्तरतः पश्चादिति सर्वतस्त्रिवृतम्पञ्चवृतं वा बहुल-
मयुग्मसंथहत्प्रगग्रैर्मूलानिच्छादयन् पश्चाद्वास्तीर्य
दक्षिणतः प्राञ्जम्प्रकर्षति तथोत्तरेण दक्षिणोत्तराण्यग्राणि
कुर्यादेव परिस्तरणन्यायः सर्वस्वाहुतिमत्सु ॥९-१५॥

वदयत्यनुपदं बर्हिषि स्थालीपाकेत्यादि (१९ सू०), ततश्च स्थालीपाको-
त्तरणात् प्रागेव परिस्तरणं कर्तव्यमिति तत्प्रकार उच्यते,—‘अग्निम्’ ‘उप
समाधाय’ समिद्धिः प्रज्वाल्य, तस्य प्रज्वलितस्याग्नेः ‘समन्तं’ समन्तात् सर्वतः
सर्वांस्तु दिक्षु ‘कुशैः’ कुशासङ्घैः ‘परिस्त्वणुयात्’ परिस्तरणमाच्छादनं कुर्वीत
तत्र क्रममाह—‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां, ततः ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां, ततः
‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां ततः ‘पश्चात् पश्चिमस्याम्’ इति एवम् । तत्राप्यन्यदप्या-
ह ‘सर्वतः’ सर्वांस्त्रेय दिक्षु ‘त्रिवृतं पञ्चवृतं वा’ परिस्तरणं कार्यम् । तत्रा-
पि ‘बहुलं’ बहुवृत्तं, परं वृत्तानां परम्परयोगेन युग्मत्वं संहतत्वं वा यथा न
स्यात् । द्वयोर्योगे युग्मत्वं त्रयादियोगे तु संहतत्वं मिति विवेकः । किञ्च
‘प्रागग्रैः’ पूर्वदिक्षुसिद्धैर्भैः ‘अग्रैः’ अग्रभागैः प्रथमस्तृतानां कुशानां ‘मूलानि
च्छादयन्’ एषमुत्तरत्रापि । ‘वा’ अथवा अग्रैर्मूलानिच्छादनं न कुर्याद्वेत्
‘पश्चात्’ पश्चिमस्यां प्रथमतः ‘आस्तीर्य’ ‘दक्षिणतः’ ‘तथा उत्तरेण’ प्राञ्च

पूर्वदिग्भागं ' प्रकल्पति ' प्रकृतं कर्षेत् आकर्षणपूर्वकं मिश्रयेत् । तत्र तथा कर्ष-
णाय ' दक्षिणोत्तराणि ' दक्षिणाभिमुखानि उत्तराभिमुखानि च ' अघ्राणि '
कुशानां ' कुर्षात् ' । ' एयः ' उभयविधएव परिस्तरणन्यायः ' सर्वेषु आहुति-
सत्सु अनुष्ठानेषु ज्ञेयः ॥ ९-१५ ॥

भा०—उत्तीर्षवे सूत्र में स्थालीपाक उत्तरणान्तर आन्यसंस्कार कहा
जावेगा इसलिये स्थालीपाक उतारने के पूर्व ही "परिस्तरण" करना चाहिये।
जैसे—समित् प्रक्षेप आदि द्वारा अग्नि जलाकर उक्त अग्नि के चारो ओर कुर्षों
से ढाक देवे। पहिले पूर्व दिशा में, अनन्तर दक्षिण दिशा में, उस के पश्चात्
उत्तर दिशा में, अन्त में पश्चिम दिशा में, सब ही ओर तीन या पांच बार
कुशा से आच्छादन करे किन्तु ऐसी युक्ति से आच्छादन करे कि जिसमें दो,
तीन, या उससे अधिक कुशा एक स्थानमें मिल न जायें और सबही कुशाओं
का मूल (जड़) आच्छादित रहे या (यदि कुशा छोड़े हों) पश्चिम दिशा
को छोड़ कर दक्षिणाय कुशा के द्वारा दक्षिण से एवं उत्तराय कुशा के द्वारा
उत्तर से पूर्व की ओर आकषित होगा अर्थात् वृत्त या चतुष्कोण रूप नहीं-
आच्छादित कर त्रिकोणरूप आच्छादित करने से भी हो सकता है। इमी
को "परिस्तरण" कहते हैं; यह सब प्रकार के आहुति विगिष्ट अनुष्ठानों में
व्यवहृत होगा। ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५ ॥

परिधीनप्येके कुर्वन्ति शामीलान् पाणान् वा । १६

' एके ' आचार्याः ' शामीलान् ' शमीकाष्ठीयान् ' वा ' ' पाणान् ' पला-
शकाष्ठीयान् ' परिधीन् ' कर्मप्रदीपोक्तलक्षणान् सीमरूपान् कुर्वन्ति ' । १६

भा०—कोई २ आचार्य शमीकाष्ठ की, या पलाश काष्ठ की परिधि अर्थात्
सीमास्थापन भी करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरतोऽपाम्पूर्णः स्रुवः प्रणीता भावेन वास्यादित्येके १७, १८

' उत्तरतः ' अग्नेर्गति यावत्, ' अर्षां पूर्णः स्रुवः ' ' प्रणीता ' एतत्
मंज्ञको भवेत् । ' भावे ' पूर्वाक्तचममपात्रस्य ' न वा म्वात् ' स्रुवः प्रणीता
' इति ' एवम् ' एके ' आचार्या यदन्ति तदपि न विरुद्धम् ॥ १७-१८ ॥

भा०—अग्नि के उत्तर में जल-पूर्ण स्रुव की रक्षा करे उग को प्रणीता
कहते हैं। कोई २ आचार्य करते हैं कि पूर्वाक्त चमम पात्र में जल रक्षित
रहने से, म्रुवा में जल स्थापन नहीं करने से भी हानि नहीं ॥१७, १८॥

वर्हिपि स्थालीपाकमासाद्येध्ममभ्याधायान्ज्यात्सत्सत्स्क्रुते
सर्पिस्तैलन्दधि पयो यवागूं वा । १९, २० ॥

‘वर्हिपि’ आस्तृते तत्र कुशासमूहे ‘स्थालीपाकम्’ स्थाल्यां पकं चरुं तत्सहितस्थालीपात्रमिह ग्राह्यम् ‘आसाद्य’ संस्थाप्य, अथाज्यसंस्कारः;— ‘इध्मम्’ इन्धनकाष्ठं पूर्वोक्तं पालाशाद्यन्यतमम् ‘अभ्याधाय’ अग्नौ अभितः प्रदाय पुनरपि सुप्रज्वालयाग्नि-मिति यावत् । ततस्तत्र प्रज्वलितेऽग्नी ‘आजाम्’ अनुपदवद्वयमाशं सर्पिरादीनामन्यतमं ‘नंस्क्रुते’ संस्क्रुर्वीत । तथा च ‘सर्पिः’ घृतं ‘तैलं’ तिलस्त्रेहं ‘दधि’ ‘पयः’ दुग्धं ‘यवागूं वा । १९, २० ॥

भा०—उपन हाले हुए कुशाओं पर स्थालीपाक स्थापन करके पुनः इन्धन डालकर अग्नि जला कर उपन में आज्यसंस्कार करे । आज्य—इस स्थल में घृत तैल, दधि, दुग्ध, या—यवागूं इन पांच वस्तुओंमें से जो कोई वस्तु मिले उसी से हो सकता है ॥ १९ ॥ २० ॥

ततश्च पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं कर्त्तव्यमिति प्रथमं पवित्रनिर्माणमुच्यते;

ततएव वर्हिपः प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते ओपधिमन्त-
र्धाय च्छिनत्ति न नखेन पवित्रे स्थो वैष्णव्यावित्थैने अ-
द्विरनुमाष्टिं विष्णोर्मनसा पूते स्थ इति । २१-२३ ॥

‘ततः’ पूर्वमादितात् ‘वर्हिपः एव’ ‘प्रादेशमात्रे’ प्रादेशप्रमाणे ‘पवित्रे’ ‘कुरुते’ कुर्यात् । कथमित्याकाङ्क्षायां वदति,—‘ओपधिम्’ व्रीच्या-
दिकम् ‘अन्तर्धाय’ मध्ये न्याप्य “पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ”—‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘च्छिनत्ति’ दिन्द्यात् ‘न नखेन’ । अथ तदनन्तरम् ‘पूते’ पवित्रे ‘अद्विः’ “विष्णोर्मनसा पूतेस्यः” —‘इति’ अनेन मन्त्रेण ‘अनुमाष्टिं’ अनुमृज्यात् । २१-२३ ॥ निर्जिताभ्याम् ताभ्यां पवित्राभ्यामाज्योत्पवनं विधत्ते;—

भा०—अनन्तर उसी पूर्व मंग्रहीत कुशाओं के बीच से प्रादेश प्रमाण (वा-
क्त्रितभर) दो कुश ले कर ‘तुम विष्णुदेवता के हो सुतरां पवित्र हो’ इस मन्त्र का पाठ करते ओपधि के बीचोबीच छेदन करे । उसके अनन्तर, ‘विष्णु देवता के अभिप्राय से ही तुम पवित्र हो’ इस मन्त्र का पाठ करके उस को जल में धोवे ॥ २१-२३ ॥

सम्पूयोत् पुनात्युदगग्राभ्याम्पवित्राभ्यामङ्गुष्ठाभ्याञ्चो-

पकनिष्टकाभ्याञ्चाङ्गुलिभ्यामभिसंगृह्य प्राक्शस्त्रिरुत्पुनाति
 देवस्त्वासवितोत्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मि-
 भिरिति सङ्कट्ट यजुपां द्विस्तूष्णीम् ॥ २४, २५ ॥

‘ सम्पूय ’ ते पवित्रे पूर्वोक्तप्रकारेण शोधयित्वा शोधिताभ्यां ताभ्यामेव
 ‘ पवित्राभ्याम् ’ कीदृशाभ्याम् उदगग्राभ्याम् ‘ उत्पुनाति ’ आञ्जमित्याशयः ।
 आञ्जे पतितं तृणादिकं ततउद्धृत्य अग्नौ निक्षिपेदित्यर्थः । कथङ्कृत्वा ? कति-
 वारम् ? केने मन्त्रेणेत्याकाङ्क्षात्रयं पूरयति;— ‘ अङ्गुष्ठाभ्याम् ’ ‘ उपकनिष्ठी-
 काभ्याम् ’ अनानिकाभ्या ‘ च ’ ‘ अङ्गुलिभ्याम् ’ ‘ अभि ’ अभितः ‘ संगृह्य ’
 ‘ प्राक्शः ’ प्रागतं यथा स्यात्तथा, ‘ त्रिः ’ त्रिवारम् ‘ उत्पुनाति ’ । तत्र त्रिपु-
 वारेषु ‘ सकृत् ’ एकवारं ‘ देवस्त्वेत्यादिना ’ ‘ यजुपा ’ यजूरूपमन्त्रेण ‘ द्विः ’
 द्विवारं ‘ तूष्णीम् ’ अमन्त्रक मेवेत्याज्योत्पवनम् ॥ २४।२५ ॥

भा०—उक्त प्रकार से दोनों “पवित्र” को शोध कर उत्तराय करके उसके
 द्वारा आञ्जोत्पवन करे अर्थात् आञ्ज में पतित तृण आदि बाहर कर पूर्व
 की ओर फेंक देवे “आञ्जोत्पवन” काल में दोनों “पवित्र” को अङ्गुष्ठ और
 अनानिका अंगुलि से पकड़े एवं एकवार ‘देवस्त्वा’ इत्यादि ‘यजू’ रूप मन्त्र
 पाठ करे, पुनः दोवार घिना मन्त्र उत्पवन करना चाहिये ॥ २४, २५ ॥

अथैने अद्विरभ्युक्ष्याग्नावप्युत्सृजेदथैतदाज्यमधिश्चि-
 त्योदगुद्वासयेदेवमाज्यस्य सथं स्वरणकल्पो भवतीति ॥ २६—२८ ॥

‘ अथ ’ तदाज्योत्पवनानन्तरम् ‘ एने ’ पवित्रे ‘ शद्भिः अभ्युक्ष्य ’ जल-
 धीते प्रकृत्य ‘ अग्नौ अपि ’ ‘ उत्सृजेत् ’ क्षिपेत् । अपि शब्दबलादन्यत्र क्षेप-
 णोऽपि दीपाभावः । ‘ अथ ’ अनन्तरम् ‘ आज्यं ’ तदेव ‘ अधिश्रित्य ’ ज्वल-
 दङ्गारेषु कृत्यैव ‘ उदक् ’ अग्नेरुत्तरस्यां दिशि ‘ उद्गमयेत् ’ स्थापयेत् । ‘ आञ्जस्य
 संस्करणकल्पः ’ ‘ एवम् ’ एव ‘ भवति ’ ॥ २६—२८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके सप्तमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् । १.७ ।

भा०—आञ्जोत्पवन के पीछे इन दो “पवित्रों” को जलमें धो कर अग्नि
 में फेंक दे । अनन्तर अग्नि के उत्तर में जलते हुए कई एक अंगारे पर, “पूत-
 ष्याज्यपात्र” रखते । आञ्जसंस्कार इत्यादि करे ॥ २६, २७, २८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथमाध्याय के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ १.७ ॥

पूर्वमाज्यमपरः स्थालीपाकः ॥ १ ॥

[प्र० १ खं० ७ सू० २४ । २५, खं ८ सू० १-४] दर्शपोर्णमासप्रकरणम् ॥ ४५

अग्नेत्तरस्मिन्नेव ' पूर्व ' पुरस्तात्स्थानम् ' आज्यम् ' आज्यवह्निसमा-
प्यपात्रं भवेत्, किञ्च तत्रैव ' अपर ' तत्पश्चात्स्थान ' स्थालीपाकः ' पक्वचरु-
सहितस्थाव्याधारः भवेत् ॥ १ ॥

भा०—चरुस्थाली ओर आज्यपात्र इन दोनों के अग्नि के उत्तर में स्थापन
करने के लिये व्यवस्था हुई है । (१ । ४ । ५, १ । ७ । २६-२८) उन में पहिले
आज्यपात्र रहेगा, और उस के पीछे चरुस्थाली रखे ॥ १५ ॥

पर्युक्ष्य स्थालीपाक आज्यमानीय मेक्षणोपघातश्चोतु-
मेवोपक्रमते ॥ २ ॥

' पर्युक्ष्य ' अदितेऽनुमन्यस्वेत्यादिना पर्युक्षणान्तं प्रकृत्य, ' स्थालीपाके '
चरौ ' आज्यं ' सर्पिरादीनामन्यतमम् ' आनीय ' क्षिप्त्वा ' मेक्षण ' दूर्वा-
विणोपेण ' उपघातम् ' उपस्तरणाभिधारणरहितं हीनं ' होतुम् ' ' उपक्रमते '
प्रवर्त्तत । स्रुचि स्रुवेण प्रथममाज्यग्रहणं, ततश्चरुग्रहणं, ततः पुनराज्यग्रहणम्
चेत् उपस्तीर्णाभिधारितं तदुच्यते होमीयम्; तत्र चरुग्रहणात् पूर्वमाज्यग्रहण-
मुपस्तरणमुच्यते, परस्ताच्चाभिधारणमिति । यत्र तु उपस्तरणमभिधारणञ्च
न भवतः, स एव हीन उपघात इति विद्वेकः ॥ २ ॥

भा०—अग्नि कार्यमात्र में अनुष्ठेय पूर्वोक्त ' अदितेऽनुमन्यस्य ' प्रभृति
' पर्युक्षण ' के अन्त में कार्य सद्य (१ । ३ । १-५) सम्पन्न होने पर स्थालीपाक
में आज्य प्रक्षेप कर ' उपघात ' होना * करने के लिये उपक्रम करे ॥ २ ॥

यद्युवा उपस्तीर्णाभिधारितं जुहुषेदाज्यभागावेव प्रथमौ
जुहुयाच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा पञ्चावत्तन्तु भृगूणामग्नये
स्वाहेत्युत्तरतः सोमाय स्वाहेति दक्षिणतः प्राक्शोजुहुयात् ३,४

' यदि उवा ' यदैव ' उपस्तीर्णाभिधारितं ' ' जुहुषेत् ' हातुमिच्छत्,
तदैव ' प्रथमौ ' उपघातनामोपक्रमरूपहोमसम्पादनोपयोगिनी ' आज्यभागी '
उपर्युपरि होमद्वयनिष्पादकौ ' जुहुयात् ' अग्नाविति । एतावत्रैव होमो उप-
घातसञ्ज्ञौ प्रकृतहोमस्योपस्तीर्णाभिधारितस्योपोद्घातस्य पत्वात् । अत्रैतिक-
संशयतादिकं ब्रूते — ' चतुर्गृहीतम् ' चतुःकृत्वः गृहीतं स्रुवेण स्रुचीति यावत्,

* स्रुचौ के मध्य में चरुग्रहण के पश्चात् स्रुचौ के दक्षिण अथवा अग्रे के उपस्तरण अर्थात् ' आस्तरण ' ,
एव चरुग्रहण के पश्चात् आज्य ग्रहण की अभिरक्षण प्रवृत्ति अर्थात् ' अक्षेप ' करने का है । तदुपरांत प्रथम स्रुचौ पर्ये
चरु पुनः आज्य नेत्र जाइम किया तबे उस व ' उपर्युपरि ' भेदरित करने है । जिस होम में उपस्तरण या
अभिरक्षण का व्यवस्था नहीं है, उक्त ' आस्तरण ' करने पर ' उपस्तरण ' पुनः नही ।

'श्राज्य' सपिरादीनामन्यतनम् 'गृहीत्वा' अग्निमध्ये एव, उत्तरतः, उत्तर-
स्याम् 'अग्नये स्वाहा'—'इति' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां 'सोमाय स्वाहा'
'इति', 'प्राग्गः' प्राग्गतं यथा स्यात्तथा जुहुयात् । एनावेव होमौ उपघा-
ताख्यौ । अत्र विशेषः—'भृगूनां' भृगुगोत्रोत्पन्नानां 'तु', 'पञ्चावत्तं, पञ्चकृत्वः
। श्राज्यग्रहणमिति ॥ ३ । ४ ॥ इदानीमुपस्तीर्णाभिधारितहोमप्रकारं कथयति—

भा०—जिस समय "उपस्तीर्णाभिधारित" नामक होम करने की इच्छा करे,
उसी समय उस के पूर्व दो "उपघातहोम" करे। इस 'उपघातहोम, के करने में
स्रुच (यज्ञपात्र) के मध्यमें प्रतिवार स्रुवाके धारा ऊपर चारवार श्राज्य ग्रहण
करना होगा, एवं इस चारवार ग्रहण किया हुआ श्राज्य पहिले 'अग्नये स्वाहा'
इस मन्त्र से अग्निकुण्ड के बीच में उत्तर में और तत्पश्चात् 'सोमाय' इस
मन्त्र से अग्निकुण्ड के दक्षिण में, पूर्वदिग्गत करके होम करे। विशेषता—भृगु-
गोत्रोत्पन्न गण के प्रति होम में पाँचवार श्राज्य ग्रहण करना चाहिये ॥३, ४।

अथ हविष उपस्तीर्ण्यावद्यतिमध्यात्पूर्वाद्वाञ्चतुरवत्ती
चेद्भवति मध्यात्पूर्वाद्वात्पश्चाद्वादिति पञ्चावत्ती चेद्भवत्य-
भिधारयत्यवदानानि प्रत्यनक्तवदानस्थानानान्ययातयामता-
याअग्नयेस्वाहेतिमध्येजुहुयात्सकृद्वात्रिवैतेनकल्पेन ॥५—१०॥

'अथ' उपघातहोमानन्तरम् 'उपस्तीर्य' श्राज्येन स्रुचं सस्त्रेहां प्रकृत्य
तदुपरि 'हवियः' चरुन् 'अविद्यति' अवदाय गृह्णाति । अवदानप्रकारमाह—
'चतुरवत्ती' भृगुवंशीयादन्यः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं लक्ष्मीकृत्य पूर्वाद्वात्
अवद्यदीन्यनुवर्त्तते; शिञ्च 'पञ्चावत्ती' भृगुवंशीयः 'भवति चेत्', 'मध्यात्' मध्यं
लक्ष्मीकृत्य 'पश्चाद्वात्' अवद्यति; 'इति' एवमेव नियतः । अवदानानि' चतुर्य-
हीतानि पञ्चगृहीतानि वा तानि 'अभिधारयति' अभिधारयेत् तदुपरि पुनः
स्रुवाज्यधारापातं कुर्वीतेति यावत् । किञ्च 'अवदानस्थानानि' चरुस्था-
लीमध्यतो यतोयतः चरुन् चतुः पञ्च वा कृत्वा अवदाय गृहीतानि तानि,
'अयातयामतायै' यातयामता यागायोग्यता तदमावाय् यागयोग्यतामेव रक्ष-
यितुमिति यावत्, 'प्रत्यनक्ति' यत्र यत्र मेक्षणप्रवेशचिन्हं तानि सर्वांशेष्वेव
प्रति लक्ष्याज्यमिञ्चनं कुरुते कुर्वीतेत्यर्थः । ततः तदेव उपस्तीर्णाभिधारितं हविः
प्रयत्न्य "अग्नये स्वाहा"—'इति' इमं मन्त्रमुच्चरन् 'मध्ये' श्राग्नेः 'जुहुयात्' अय-
मेव होमोऽग्नौपस्तीर्णाभिधारित उच्यते । 'एतेन कल्पेन' कचितप्रकारेण 'सकृत्
या' एकवारं वा 'त्रिमां' त्रिवारं वा जुहुयात् ॥५—१०॥

भा०:-उपघात होम के पीछे उसी स्रुच् के स्रुव के द्वारा एक और आज्य ग्रहण करके उस के ऊपर 'मेक्षण' द्वारा चरु ग्रहण करे। उस में विशेषता यह है कि यदि वह भृगु गोत्र का हो तो चरुस्थाली के मध्य में पद्याहुं से एवं पांच बार चरु ग्रहण करे और यदि वह अन्य गोत्र का हो तो चरुस्थाली के बीच में पूर्याहुं से एवं चारबार मात्र चरुग्रहण करे। पीछे जिस २ स्थान 'मेक्षण' द्वारा चरु निकाल ले; आज्य द्वारा, उसी २ स्थान की सिद्धित है, जिस से चरु सूख न जावे-याग के योग्य रहे। अनन्तर उसी गृहीत चरु के पर फिर 'आज्य' द्वार कर उसी ऊपर नीचे आज्यविशिष्ट चरु से अग्नये रहा इस मन्त्र के मध्य में हवन करे। इसी को उपस्तीर्णाभिचारित होम होते हैं। इस प्रकार एक या तीन बार करे ॥ ५-१० ॥

अथ स्विकृत उपस्तीर्यावद्यत्पुत्तराहुंपूर्वाहुंत सकृ-
व भूयिष्ठं द्विरभिघारयेद्यद्यु पञ्चावत्ती स्याद्द्विरुपस्ती-
विदाय द्विरभिघारयेत् न प्रत्यनक्त्यवदानस्थानं यातया म
या अग्नये स्विकृते स्वाहेत्युत्तराहुंपूर्वाहुं जुहुयात् ॥११-१४॥

'अथ' अत्रायशब्देन प्रकरणान्तरत्वमात्रं लक्षयति, नत्वानन्तर्यम्; स्विकृते पुरस्तादेव प्रकृतयागस्य यद्यनाशत्वात् (१६ सू०)। 'स्विकृते' वदकृद्विभक्त्यर्थम्, पूर्ववत् 'उपस्तीर्यं स्रुवाज्यं स्रुचि आस्तीर्यं, तत्रैव चरुस्थालीनध्यतएव 'उत्तराहुंपूर्वाहुंत' उत्तराहुंस्य प्रथमाहुंत 'भूयिष्ठं' बहुतरं 'सकृत्' एकवारम् 'एव' अथयति अवदाय गृह्णाति; तदनन्तरं गृहीतं तं चरुं 'द्विः' द्विवारम् 'अभिघारयेत्' स्रुवाज्यधारया मिञ्चेत्। अत्र विशेषः कल्पते,— 'यदि, उ' 'पञ्चावत्ती' भृगुगोत्रः 'स्यात्' यजमानः, तर्हि 'द्विः' द्विवारम् 'अवदाय' 'उपस्तीर्यं' 'द्विरभिघारयेत्' द्विवारमेवाभिघारणं कुर्यात्। किञ्च स्विकृत्यागे 'यातयामतायै' यागायोग्यताभिषा 'अवदानस्थानं' 'न प्रत्यनक्ति' अस्यैव होमस्थान्त्यनरुहोमत्वान्नष्टेऽपि तस्मिन् क्षत्यभावादिति भावः। स्विकृद्विभक्त्यर्थं मन्त्रं स्थानं 'थ' बोधयति;—'अग्नये स्विकृते स्वाहा'—इति अग्नेन मन्त्रेण 'उत्तराहुंपूर्वाहुं' अग्नेरुत्तराहुंस्य पूर्वाहुं 'जुहुयात्' ॥ गतोऽयं स्विकृद्विभक्तः ॥११—१४॥ अथापरोऽप्यस्ति होमः स्विकर्मसाधारणस्तं विधत्ते—

भा०-(उक्त "उपस्तीर्णाभिचारितहोम" के पीछे प्रकृत होम त्रैप होने

पर *—स्विष्टकृत् होम करने के लिये भी पूर्ववत् स्तुवा के द्वारा आज्य ले कर स्तुच में लेने के अनन्तर उस चरुस्य नी मध्यस्थित चरुके उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध से एकवार मात्र, किन्तु कुछ अधिक परिमाण से चरुग्रहण करे एवं उसके ऊपर पुनः आज्य सिञ्चन करे। विज्ञेयता यही है जो, कर्त्ता यदि भृगुगोत्रोत्पन्न ही तो उसे दो वार 'उपस्तरण' करना पड़ेगा। अनन्तर इस प्रकार चरुग्रहण और इस प्रकार दो वार अभिधारण करे। (और भी जो, स्विष्टकृत् भाग ही शेष अर्थात् इस के पीछे और होम के लिये चरु की आवश्यकता होती नहीं अतएव) स्विष्टकृत् होम के लिये चरुग्रहण करके, उस चरु को ठीक २ रखने के लिये उस में आज्य सिञ्चन करना आवश्यक नहीं। इस गृहीत होमीय को 'अग्रये स्विष्टकृते स्वाहा' इस मन्त्रद्वारा अग्नि के उत्तरार्द्ध के पूर्वार्द्ध में हवन करे। इसी को 'स्विष्टकृतहोम' कहते हैं ॥ ११-१४ ॥

महाव्याहृतिभिराज्येनाभिजुहुयात् ॥ १५ ॥

'महाव्याहृतिभिः' भूर्भुवः स्वरितिमन्त्रेण 'आज्येन' 'अभिजुहुयात्' इति सर्वसाधारणहोमप्रकारः ॥ १५ ॥ इदानीं प्रकृतहोमकालं व्यवस्थापयति—
भा०—'भूर्भुवः स्वाहा' इस मन्त्र से आज्य द्वारा होम करे। इसी को 'महा व्याहृति-होम, कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राक् स्विष्टकृत आवापः ॥ १६ ॥

'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्धोमात् 'प्राक्' पुरस्तादेव 'आवापः' प्रकृतहोम दर्शपौर्णमासीयो वैवाहिकादिश्च कार्यः ॥ १६ ॥

भा०—स्विष्टकृत् होमके पूर्व ही 'आवाप' अर्थात् दर्शपौर्णमास का, या विवाहादि का प्रकृत होम करे ॥ १६ ॥

गणेष्वेकम्परिसमूहनमिध्मोवर्हिःपर्युक्षणमाज्यमाज्य-
भागौ च सर्वभ्यः समवदाय सकृदेव सौविष्टकृतं जुहोति १७,१

'गणेषु' बहुप्रायापेषु कर्त्तव्येषु प्रावापश्रुत्वानुरोधतस्तत् पूर्वोपरकार्या-
णामपि बहुत्वं न भवेदित्याह—'परिसमूहनमित्यादिकम् पूर्वोक्तं समस्तमेव
'एकं' सकृदेव भवति, किञ्च 'सर्वभ्यः' 'समवदाय' अथदानपूर्वकहोमान-
न्तरं 'सौविष्टकृतं' 'सकृत्' एकवारमेव 'जुहोति' न तु प्रावापसहस्रानु-
गुणमिति यावत् ॥१७, १८॥

* दर्शपौर्णमास वा प्रवृत्त होम पीछे वदा नग्रेण (स० २२, २५)। विवाहादि मग्नय कार्यों वा ही प्रकृत होम होना है। प्रवृत्त होम वा ही प्रावाप, वही है। मन्त्र ही १७, १८, के पहले उपवाहोम और उपवा-
मार्ग परिसमूहनमिति—होम एक बार ही और इतने में स्विष्टकृत होम करना होता है। ये चरु प्रकार के होम वा हवनग
निर्देश होते हैं। १७—१८॥

भा०—जित स्थान में बहुत आवाप कर्त्तव्य हों, वहां आवाप के बहुत होने से इधम (लकड़ी) ग्रहण आदि कार्य अनेकवार नहीं किये जावेगे, और सब ही आवाप के लिये पहिले की नाईं चरुग्रहण पूर्वक हीम आदि शेष पीछे सब के अन्त में एकही वार ' स्विष्टकृत् , होन करे ॥१७, १८॥
हुत्वेतन्मेक्षणमनुग्रहरेत्प्रक्षाल्य वैतेनोद्घृत्य भुञ्जीत १९, २०

' एतत् ' स्विष्टकृत् होनं हुत्वा ' अनु ' पश्चात् अनावश्यकमिति मत्वा तद्दोममात्रदोमसाधनं ' मेक्षणं ' ' प्रहरेत् ' प्रक्षिपेत् अग्राविति शेषः । ' वा ' अथवा ' प्रक्षाल्य ' तन्मेक्षणं रक्षेत् यथाकालम् ' एतेन ' मेक्षणैव ' उद्घृत्य ' अन्नं ' भुञ्जीत ' यजमानः । एवञ्च मेक्षणैर्न भोजनं यस्य सुखकरं स न प्रक्षिपेदिति भावः ॥१९, २०॥

भा०—इस ' स्विष्टकृत् ' होम के पीछे मेक्षण, अनावश्यक हो तो, उसे अग्नि में फेंक देवे या भोजनार्थ आवश्यक निश्चित होने पर उसे धो कर रखे एवं यथा समय उस के द्वारा भोजन करे ॥ १९ । २० ॥

न स्तुवमनुग्रहरेदित्येकआहुः ॥ २१ ॥

' एको ' आचार्याः स्तुवं न अनुग्रहरेत्—' इति आहुः ' तदपि सन्मतम् ॥२१॥
अधेदानीमाहिताग्न्यानाहिताग्न्योर्दर्शपौर्णमासावापमन्त्रभेदमाह—

भा०—कोई २ आचार्य कहते हैं कि ' कार्य के अन्त में स्तुवा भी धोकर रखे, उसे अग्नि में न डारे, तौ भी कोई हानि नहीं ॥ २१ ॥

आग्नेय एवानाहिताग्नेरुभयोर्दर्शपौर्णमासयोः स्थालीपाकस्यादाग्नेयो वाग्नीषोमीयो वाऽऽहिताग्नेः पौर्णमास्यायामैन्द्रो वैन्द्राग्नी वा माहेन्द्रो वा अमावास्यामपि वाऽऽहिताग्नेरप्युभयोर्दर्शपौर्णमासयोरग्नेयएव स्यात् ॥ २२-२५

' अनाहिताग्नेः ' अनाग्निहोत्रिणः ' उभयोः, ' कयोरित्याह ' दर्शपौर्णमासयोः ' ' स्थालीपाकः ' स्थालयां पक्कचरुः ' आग्नेयः ' अग्निदेवताकः ' स्यात् ' उपस्तीर्णाभिघारितं धरुं गृहीत्या ' अग्नेये स्वाहा ' इति मन्त्रेणैवापरोहोम आवापो दर्शपौर्णमासयोरनाहिताग्नेरित्येव पर्यवसितार्थः । ' आहिताग्नेः ' नित्याग्निहोत्रिणस्तु ' पौर्णमास्यायाम् ' ' आग्नेयः ' एव ' वा ' अथवा ' अग्निषोमीयः ' किञ्च ' अमावस्यायाम् ' ' ऐन्द्रः वा ऐन्द्राग्रः वा माहेन्द्रः वा ' स्थालीपाकः स्यादिति । ' अपिवा ' ' आहिताग्नेरपि ' ' उभयोः दर्शपौर्णमासयोः ' ' आग्नेयः एव ' ' स्यात् ' ; अस्मिन् पक्षे आहिताग्न्यानाहिताग्न्योर्न

कोऽपि भेदइति फलितम् ॥२२-२५॥ यज्ञवास्तुनामकमपरमपि किञ्चिदुपदिशति—
 भा०:—इस के पीछे दर्शपौर्णमास के 'आवाप-मन्त्र' कहते हैं—यदि
 यजमान 'अग्निहोत्री' हो तो, 'दर्श' और 'पौर्णमास' दोनों याग में
 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से 'उपस्तीर्णाभिघारित' चरु होम करे; और
 यदि अग्निहोत्री हो, तो 'पौर्णमासयाग' के आवाप 'होम' में 'अग्नये
 स्वाहा' या 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' यह मन्त्र व्यवहार करे। और 'अमा-
 वास्यायाग' में 'इन्द्राय स्वाहा' या 'इन्द्राग्नीभ्यां स्वाहा' मन्त्र व्यवहार
 करे। या अग्निहोत्री भी 'दर्श' 'पौर्णमास' दोनों ही याग में, अग्निहोत्री
 की नाई 'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देवे ॥ २२-२५ ॥

समिधमाधायानुपर्युक्ष्यथज्ञवास्तु करोति तत एव बर्हिषः कुप-
 मुष्टिमादायाज्ये वा हविषि वा त्रिरवदध्यादग्राणि मध्यानि
 मूलानीत्यक्तथ्रिहाणा व्यन्तु वय इत्यथैनमद्विरभ्युक्ष्याग्नावप्य-
 र्जयेद्यः पशूनामधिपतीरुद्रस्तन्त्रिचरोवृषापशूनस्माकं माहि-
 थ्रसीरेतदस्तु हुतन्तव स्वाहेत्येतद्यज्ञवास्त्वित्याचक्षते ॥२६-२९॥

'समिधम् आधाय अनु पर्युक्ष्य' पूर्वोक्तप्रकारेण समिदाधानं प्रकृत्य
 पर्युक्ष्याञ्च समाप्य तस्मिन्नेव काले 'यज्ञवास्तु' नाम किञ्चित् कार्यं 'करोति'
 कुर्यात् दर्शपौर्णमासादौ। कथमित्याह—'तत एव बर्हिषः' आस्तृतकुशसमू-
 हदेव 'कुशमुष्टिम्' मुष्टिमितानि कुशतृणानि 'आदाय' संगृह्य 'आज्ये
 वा' पूर्वोक्तान्यतमे या, 'हविषि वा' पक्वचरौ वा 'अग्राणि, मध्यानि,
 मूलानि' 'इति' एवं 'त्रिः' त्रिवारम् 'अवदध्यात्' अज्जयेत् 'अक्तं
 रिहाणा व्यन्तु वयः'—'इति' अनेन मन्त्रेणेति। 'अथ' अनन्तरम्, तानि 'अद्भिः'
 'अभुषद्य' सिकत्वा यः पशूनामित्यादि स्वाहान्तेन मन्त्रेण 'अग्नी' 'अर्जयेत्
 अपि' क्षिपेच्च। 'एतत्' कर्म 'यज्ञवास्तु'—'इति आचक्षते' ॥ २६-२९। ८ ॥

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके अष्टमखण्डस्य व्याख्यानं सप्तमम् ॥ १,८

भा०:—'दर्शपौर्णमासादि' याग में और एक कार्य करना होता
 है, उसे 'यज्ञवास्तु' कहते हैं। वह पूर्वोक्त प्रकार से 'समिदाधान' प्रभृति
 पर्यन्त 'पर्यन्त कर्म' के पीछे किया जावेगा। जैसे—आस्तृत कुशसमूह से एक
 मुष्टी कुश लेकर आज्य या चरु में अथ, मध्य, मूल, इस क्रम से 'अक्तरिहाणा'
 इस मन्त्र को पढ़ कर तीन बार जल सींचे। तत्पश्चात् उसे जल से साफ करके
 'यः पशूनामधिपतिः' इत्यादि मन्त्र पाठ करके उसे अग्नि में छोड़ देवे,
 इसी को 'यज्ञवास्तु' कहते हैं ॥ २६-२९ ॥ १। ८

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१,८॥

[प्र० १ खं० ८ सू० २६-२७, खं० ९ सू० १-१२] दशंपौर्णमासप्रकरणम् ॥ ५१

अथैतद्विस्च्छिष्टमुदगुद्वास्योद्घृता ब्रह्मणे यच्छेत् तं
तितर्पयिषेद् ब्राह्मणस्य तृप्तिं मनु तृप्यामीति ह यज्ञस्य
वेदयन्तेऽथ यदस्यान्यदन्नमुपसिद्धं स्यात् ॥ १-४ ॥

‘अथ’ महाव्याहृतिहोमानन्तरम् । ‘एतत्’ ‘उच्छिष्टम्’ अवशिष्टं
‘हविः’ ‘धर्मं’ ‘उदक्’ अग्नेरुत्तरस्मिन् ‘उद्घास्य’ संस्थाप्य ‘उद्घृत्य’ पात्रान्तरे
गृहीत्वा ‘ब्रह्मणे’ ब्रह्मनागत्विंजे ‘प्रयच्छेत्’ । ‘तं’ ब्रह्मण ‘तितर्पयिषेत्’
अतिशयेन तर्पयितुं तृप्तं कर्तुमिच्छेत् । ‘ह’ यतः ‘ब्राह्मणस्य तृप्तिम् अनु
तृप्यामि’—‘इति’ ‘यज्ञस्य’ यज्ञपुरुषस्य अभिमतं ‘वेदयन्ते’ ऋषयः ;
ब्राह्मणतृप्तयार्थमेव यद्दानुष्ठानगिति भावः । ‘अथ’ किञ्च ‘अन्यत्’ अपरमपि
भक्तादिकं ‘यत् अन्नम्’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘उप’ समीपे ‘सिद्धं स्यात्’
तदपि तस्मै देयमिति ॥ १-४ ॥

भा०—यज्ञ का शेष कार्य कहा जाता है । प्रथम, इस महाव्याहृति
होम के पीछे अवशिष्ट चरु को अग्नि के उत्तर दिशा में रख कर उसी चरु-
स्थाली से दूसरे पात्र में चरु लेकर ब्रह्मा, उसे ऋत्विक् को देवे, उस समय
यजमान के निकट में यदि और भी दूसरा अन्न, भात प्रभृति हो, तो उसे भी
उन को देना चाहिये । जिम किसी प्रकार हो उन्हें तृप्त करने की इच्छा
व्यक्ति; कारण, यह है कि ऋषिगण—कहते हैं कि ब्राह्मण की तृप्ति अनुसार
ही हम तृप्त होते हैं—यही यज्ञपुरुष का अभिप्राय है ॥ १-४ ॥

अथ ब्राह्मणान् भक्तेनोपेप्सेत् । ५ ॥

‘अथ’ अनन्तरं ‘भक्तेन’ अन्नेन ‘ब्राह्मणान्’ निमन्त्रितान् ‘उपेप्सेत्’ सम्बद्धु-
मिच्छेत् भोजयेदित्यर्थः ॥ ५ ॥

भा०—अनन्तर द्वितीय कार्य,—निमन्त्रित ब्राह्मण आदिक को भात
प्रादि खिलाकर ही परितृप्त करे ॥ ५ ॥

पूर्णपात्रो दक्षिणा तं ब्रह्मणे दद्यात् कथं चमसं वा-
न्नस्य पूरयित्वा कृतस्य वाऽकृतस्य वापि वा फलानामेवैतं
पूर्णपात्रमित्याचक्षते ब्रह्मैवैऋत्विक् पाकयज्ञेषु स्वयं होता
भवति पूर्णपात्रोऽवमः पाकयज्ञानां दक्षिणाऽपरिमितं परा-
र्ध्यमपि ह सुदाः पैजवन ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेनेष्ट्वा शतं
सहस्राणि ददौ ॥ ६-१२ ॥

‘पूर्णपात्रः’ पूर्णपात्रम् ‘दक्षिणा’ भवति दर्शपौर्णमासादियागस्येति । ‘तं’ दक्षिणारूपं पूर्णपात्रं ब्रह्मणे ब्रह्मनामस्त्विजे ‘दद्यात्’ । किन्तत् पूर्णपात्रमिति ? वदति—‘कांसं’ कांस्यपात्रम्, ‘धमसं’ पानपात्रं ‘वा’ ‘कृतस्य’ पक्षस्य ‘अकृतस्य’ अपक्षस्य ‘वा’ अन्नस्य समूहैः, ‘अपि वा’ ‘फलानां’ समूहैः ‘पूरयित्वा’; ‘एतम् एव’ पूर्णपात्रम् इति आचक्षते । दर्शपौर्णमासादौ कर्मणि ब्रह्मा एव एकः ऋत्विक् वरणीयः बहुतराणामृत्विजां नापेक्षा । होतृकार्यं कथं भवेदित्याह— ‘पाकयज्ञेषु’ दर्शपौर्णमासप्रभृतिषु ‘स्वयं’ यजमान एव ‘होता’ भवति भवेन्नाम । ननु दर्शपौर्णमासादिपाकयज्ञस्य पूर्णपात्रं दक्षिणा विहिता, ततोऽधिकदाने दोष सञ्जायते किम् ? नेत्याह—‘पाकयज्ञानां’ पाकैः चर्चनैर्यजनीयानां दर्शपौर्णमासादीनां कर्मणां पूर्णपात्रः पूर्णपात्रम् ‘दक्षिणा’ ‘अधमः’ अधमम् अधमं न्यूनकल्पत इति यावत् । ‘अपरिमितम्’ बहुसङ्ख्यकस्वर्णादिकमेव दक्षिणा ‘पराध्यम्’ उत्तमं प्रशस्तमित्यर्थः । अत्र बहुतरदानव्यवहारोऽपि निदर्शयते— ‘ह’ निश्चयम्; ‘पैजयनः’ पिजयनस्य पुत्रः ‘सुदाः’ ऋषिः ‘ऐन्द्राग्नेन स्थालीपाकेन इष्टुः’ शतं शतगुणितं ‘सहस्राणि’ तथा च लक्षं सम्पन्नम् लक्षम् ‘अपि’ दक्षिणाः ‘ददौ’ ॥६-१२॥

भा०—इस दर्शपौर्णमास याग की ‘दक्षिणा’ पूर्णपात्र होगा । वह ‘पूर्णपात्र’ ब्रह्मा नामक ऋत्विक् को देना चाहिये कछुआ या पका अन्न, या कतिपय फलों के द्वारा ‘कांस्यपात्र’ या ‘धमसं’ को भर देने का नाम, पूर्णपात्र है दर्शपौर्णमास प्रभृति कार्य में एक मात्र ब्रह्मा ही ‘ऋत्विक्’ होना चाहिये । पाक यज्ञ में अर्थात् यज्ञपाक मात्र करके जो यज्ञ किया जाता, इन सब यज्ञों में यजमान ही ‘होता’ होवे । इस स्थानमें श्रीर भी जानने की बात है—जो, पाक यज्ञ की, उक्त पूर्णपात्र दक्षिणा न्यून कल्प (अधम) समझना चाहिये । यदि सामर्थ्य ही तो अपरिमित दक्षिणा देना उचित है । पिजयन नामक ऋषि के यंशधर सुदा ऋषि ने, इन्द्राग्नी देवता के उद्देश्य से स्थाली पाक द्वारा याग करके अर्थात् अमायास्या याग के अनन्तर लाल (सुवर्ण, या सुद्रा या गौ) दक्षिणा दीयी थी ॥ ६-१२ ॥

अथ यदि गृह्येऽग्नी सायं प्रातर्होमयोर्वा दर्शपूर्णमासयोर्वा हव्यं वा होतारं वा नाधिगच्छेत् कथं कुर्यादित्यासायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः सायमाहुतिरा-माद्यारयायाः पौर्णमासं नातत्येत्यापौर्णमास्या आमाद्यारय-

मेतेनैवावकाशेन हृष्यं वा होतारं वा लिप्सेतापि वा यज्ञि
यानामेवौपधिवनस्पतीनां फलानि वा पलाशानि वा अप-
यित्वा जुहुयादप्यप एवान्ततो जुहुयादिति ह स्माह पाकयज्ञ
सेडो हुतं होव ॥१३-१७॥

'अथ' प्रकरणान्तरम् । 'यदि' 'गृह्येऽग्नी' 'सायम्प्रातर्होमयोवां' 'दर्शपूर्णमा-
सयोवां, कर्मणोः' 'हृष्यं' हवनीयमाज्यादिकं 'वा' अपि 'होतारं' स्वयमशक्तौ
प्रतिनिधिं 'न अधिगच्छेत्' नाप्नुयात्, तर्हि 'कथं' केन प्रकारेण 'कुर्यात्' सायम्प्रा-
तर्होमौ दर्शपूर्णमासौवे त्याशङ्का । इनामाशङ्कामपनुदति, - 'आ सायमाहुतेः'
सायमाहुतिकालं यावत् 'प्रातराहुतिः' प्रातर्हवनकालो 'न अत्येति' नातिक्रमते,
एवम् 'आ प्रातराहुतेः सायमाहुतिः,' किञ्च 'आ अमावास्यायाः' अमावास्यामा-
रभ्य 'पौर्णमासं' यावत् अमावास्याहवनकालो 'न अत्येति'; एवमेव 'आ पौर्ण-
मास्याः' पौर्णमास्यामारभ्य 'अमावास्ये' यावत् पौर्णमास्याहवनकालो नात्ये-
त्येव । तदित्थं हृष्यहोत्रोरन्वेषणाय सायम्प्रातराहुत्योश्चत्वारि यामा अवकाशः,
दर्शपूर्णमासयोस्तु पञ्चदशाहानि । 'एतेन' चतुर्यामरूपेण पञ्चदशाहात्मकेन वा
'अवकाशेन एव' 'हृष्यं' होतारं वा 'लिप्सेत' लक्ष्मुमिच्छेत् । 'अपिवा' होतृ-
लाभे 'यज्ञियानाम्' औपधिवनस्पतीनां फलानि पलाशानि वा एव अपयित्वा
जुहुयात् । 'अपि' तदलाभे च 'अन्ततः' अपएव उदकान्येव 'जुहुयात्', 'ह'
निश्चयम्, 'पाकयज्ञः' पाकयज्ञनिपलः 'इति' एवं 'दृष्टः' नामर्षिः 'आह स्म', तथा च
फलाद्याहुतो अपि 'हि' निश्चयं 'हुतम् एव' स्वीकार्यमस्माकम् । १३-१७ ॥

भा०:-यदि किसी दैवी दुर्घटना से गृह्याग्नि में सायं और प्रातर्होम और
दर्श पौर्णमास याग करने के लिये 'मामग्री' इकट्ठी न हो, या पीड़ा आदि
निवन्धन से स्वयं और पत्नी दोनों ही असमर्थ हों और उस समय शीघ्र कोई
प्रतिनिधि (बदले में दूसरा व्यक्ति) भी दुष्प्राप्य हो, तो ऐसे दशा में, सायं
होम करने पर्यन्त भी प्रातराहुति का समय अतीत न समझा जायेगा और
प्रातराहुति के समय पर्यन्त भी मायं होम का समय अतीत न समझा जायगा
(ऐसी दशा में) अमावास्या से पूर्णिमा के पूर्व दिन पर्यन्त १५ दिन में चाहे
जिस दिन हो, 'अमावास्या याग' हो सकेगा । और पूर्णिमा से अमावास्या
के पूर्व दिवस पर्यन्त १५ दिन में से चाहे जिस किसी दिन हो 'पौर्णमासयाग'
हो सकेगा इतने समय में जो कुछ मामग्री न हो, उसे इकट्ठी करे और होता
भी कहीं से ढूँढ़ कर लाये । यदि हवनीय अत्रादि इकट्ठा न हो, तो उससे भी

हानि नहीं, फल से भी हवन हो सकता है, यदि यह भी न हो तो धान्य, शस्य, वृक्ष का, या आम्र आदि वनस्पति के पत्र से भी होम का काम पूरा करे, एड नामक ऋषि कहते हैं कि निदान कुछ न मिलने पर केवल जल से भी याग करे (पर नियम न तोड़े) ॥ १३-१७ ॥

अहुतस्याप्रायश्चित्तं भवतीति नाव्रतो ब्राह्मणः स्यादिति ॥ १८, १९ ॥

अथाप्युदाहरन्ति यावन्न हूयेताभोजनेनैव तावत् सन्त-
नुयादथ यदाधिगच्छेत् प्रति जुहुयादेमप्यस्य व्रतं सन्तं
भवतीति ॥ २०-२३ ॥

'अहुतस्य' गृह्येऽग्नौ सायम्प्रातराहुती येन न हुते, नापि दर्शपौर्णमासयो-
हुते येन, तस्य 'प्रायश्चित्तं' कर्त्तव्यं 'भवति'—'इति' हेतोः 'ब्राह्मणः' 'अव्रतः'
नियमाहुतिदानशून्यः 'न म्यात्' 'इति' आदेशः । १८, १९ ॥

'अथ अपि' अपरमपि पक्षम् 'उदाहरन्ति' वदन्ति आचार्याः । तथाच-
'यावत्' कालं 'न हूयेत' सायम्प्रातर्होमौ दर्शपौर्णमासहोमौ वा 'तावत्' 'अभो-
जनेन' भोजनमकृत्वैव 'सन्तनुयात्' कालहरणं कुर्यात् । 'अथ' अनन्तरं काला-
तीतेऽपि 'यदा' यस्मिन्नेव समये 'अधिगच्छेत्' हव्यं होतारं वा, तदैव 'प्रति
जुहुयात्' सायमादिकालं प्रतीदय जुहुयात् । 'एवमपि' अभोजनेन दिनकर्त्तने-
नापि 'व्रतं' नित्यानुष्ठेयं 'सन्ततम्' अविच्छिन्नं 'भवति'; 'इति' गतमिदं प्रक-
रणं नित्यानुष्ठानाय । २०-२३ ॥

भा०—यदि ऐसी कोई घोर आपत्ति हो जावे कि जिससे जल मिलना भी कठिन
हो या न मिले, तो जय तक होम का उपाय न हो, भूरे रहे, पश्चात् जिस समय
हवनीय पदार्थ पावे या 'होता' मिले, उसी समय ठीक समय पर सायं या
प्रातराहुति प्रदान करे और दर्श या 'पौर्णमास याग' करे । इस प्रकार भी
उक्त कार्यों की नियमित-कर्त्तव्यता रक्षा करे परन्तु ब्राह्मण किसी प्रकार भी
बिना 'व्रत' न रहे, व्रतशून्य होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा ॥ १८-२३ ॥

एषोऽत ऊर्ध्वं हविराहुतिषु न्यायः ॥ २४ ॥

'अत ऊर्ध्वं' इतः परं 'हविराहुतिषु' हविर्भिः चरुभिर्निष्पाद्येषु नेमित्ति-
केषु काम्येषु च सर्वेष्वेव होमेषु 'एषः' एष 'न्यायः' प्रकारः, अर्थात्: पृथमुपघा-
तहोमद्वयं ततश्च उपस्तीर्णाभिपारितं प्रकृत्यैव हवनं कार्यमिति ॥ २४ ॥

भा०—इस के पीछे चरुद्वारा होने योग्य जितने याग कहे जायेंगे,
उन सब स्थानों में भी ठीक २ उसी प्रकार बलूखल, मृमल, स्वापनादि कार्य
करना चाहिये ॥ २४ ॥

मन्त्रान्ते स्वाहाकारः ॥ २५ ॥

‘मन्त्रान्ते’ हविःप्रदानमननसाधनवाक्यान्ते पूर्वत्र परत्र च सर्वत्रैव होमे
‘स्वाहाकारः’ स्वाहापदं प्रयोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

भा०—आहुति के सब मन्त्रों ही के अन्त में ‘स्वाहा’ यह पद जोड़ कर
प्रयोग करे (बोले) ॥ २५ ॥

आज्याहुतिष्व्राज्यमेव सत्स्क्रुत्योपघातं जुहुयान्नाज्य-
भागौ न स्विकृदाज्याहुतिष्वनादेशे पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्च
महाव्याहृतिभिर्होमो यथा पाणिग्रहणे तथा चूडाकर्म्मण्युप-
नयने गोदाने च ॥ २६-२८ ॥

‘आज्याहुतिषु’ यत्र हविर्भिर्न हवनं विधेयमपि तु आज्यैरेवाहुतयो विधा-
स्यन्ते, तत्र ‘आज्यमेव संस्कृत्य’ चरुपाकाद्यायोजनमनर्थकमित्युलूखलाद्युपसाद-
नादिकमकृतवैव ‘उपघात’ प्रकृतयागस्योपोद्घातरूपमेकमेवहोमं ‘जुहुयात्’, ‘न
आज्यभागौ’ चतुर्गृहीताद्याज्यभागद्वयात्मकमुपघातसवनं न कार्यम्; ‘न स्विकृद्’
स्विकृदागोऽपि तत्रानावश्यकः । अपिच ‘आज्याहुतिषु’ सर्वत्रैव ‘अनादेशे’
विशेषविध्यभावे सुतरां गर्भाधानादौ ‘पुरस्तात्’ प्रधानकर्म्मणः ‘उपरिष्ठाच्च’ तस्य
‘महाव्याहृतिभिः’ भूर्भुवःस्वरिति ममस्ताभिः ‘होमः’ एकएव कार्यः । ननु चूडा-
करणादावपि नास्ति कश्चिद् विशेषादेशइति तत्रापि किमेकएव होमो महा-
व्याहृतिभिरिति व्युद्स्यत्यनेनातिदेशसूत्रेण,—‘पाणिग्रहणे’ पाणिग्रहणनिमित्ते
सति ‘यथा’ वक्ष्यामो होम-चतुष्टयम् ‘महाव्याहृतिभिश्च पृथक् ममस्ताभिश्च-
तुर्थाम्’ इति ‘चूडाकर्म्मणि, उपनयने, गोदाने च’ ‘तथा’ एव कार्ये होमचतुष्ट-
यमित्यतिदेशसूत्रम् ॥ २६-२८ ॥

भा०—जो २ होम केवल आज्य ही द्वारा होने योग्य हैं, उन में आज्य-
संस्कार मात्र करना योग्य है, उलूखल स्थापनादि की उन में आवश्यकता
नहीं । और ऐसे स्थान में चरु होम की नाई चतुर्गृहीत या पञ्चगृहीत (४ या
५ वार लिया हुआ) आज्यद्वारा दो ‘उपघात’ नामक होम करना आवश्यक
नहीं, एक ही वार ‘उपघात’ होम करे और ‘उपस्तीर्णाभिधारित’ होम भी
अनावश्यक है और ‘स्विकृत’ होम भी न करे । आज्याहुति के बदले और
भी विशेषता है जो जिस किसी स्थान में विशेष विधि नहीं * ऐसे स्थान में
प्रकृत (मुख्य) याग के पहिले और पीछे “भूः, भुवः, और स्यः” इन तीन

उ । तीसदा वृधःस । खा । औ३ हो हाइ । कयार३ शचाइ ।
 ष्यौहो३ हुम्मा २। वार्त्तो३ऽप्र हाइ (१) ॥ काऽप्रस्त्वा ।
 सत्योऽ३ मा३ दानाम् । मा । हिष्टोमात्सादन्ध । सा । औ३
 होहाइ । दृढार३ चिदा । रुजौहो३ । हुम्मार । वाऽ३ सोऽप्र
 हायि ॥ (२) ॥ आऽभी । युणाः सा३ रवीनाम् । आ । विता
 जरायित् । णाम् । औ३ होहायि । शतार३ म्भवा । सि-
 यौ हो३ । हुम्मार । ताऽ२ योऽप्र हायि ॥ (३) सामवेद० उ०
 अ० १ खं० ३ । म० १ । २ । ३ ॥

अथ द्वितीयप्रपाठकः ॥

॥ ओं ॥ पुण्ये नक्षत्रे दारान् कुर्वीत ॥ १

‘पुण्ये नक्षत्रे’ ज्योतिःशास्त्रोक्ते ‘दारान्’ पत्नीं ‘कुर्वीत’ स्वीकुर्वीत । १

भा०:-जिन नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा का समागम उत्तम होता है (‘रोहिणी आदि) ऐसे समय में विवाह करना चाहिये ॥ १ ॥’

लक्षणप्रशस्तान् कुशलेन । २

कीदृशान् दारानित्याह-‘लक्षणप्रशस्तान्’ प्रशस्तलक्षणोपेतान् ‘कुशलेन’ लक्षणाभिन्नजनेन परीक्षयेति । २

भा०:-जो लोग सुलक्षण कुलक्षण समझ सकते, ऐसे एक अभिन्न जन कर्तृक परीक्षा करा कर प्रशस्त लक्षण वाली कन्या से विवाह करे ॥ २ ॥

तदलाभे पिण्डान् । ३

‘तदलाभे’ लक्षणपरीक्षकालाभे लक्षणाविचारेण सुलक्षणयाया अभावे च ‘पिण्डान्’ सृष्टिपण्डप्राहणपरीक्षान् कुर्वीतिति । ३

भा०:-यदि उस समय स्त्री लक्षण पहचानने वाला कोई पुरुष न मिले,

महाव्याहृतियों का पाठ कर एक २ आहुति प्रदान करे, परन्तु विवाह की जिस प्रकार व्यवस्था कियी जावेगी ** चूहाकरण, उपनयन, और गोदान में भी उसी प्रकार होगी ॥ २६-२८ ॥

अपवृत्ते कर्मणि वामदेव्यगानथं शान्त्यर्थं, शान्त्यर्थम् ॥२६६

'कर्मणि' नित्ये, नैमित्तिके, काम्ये वा सर्वत्रैव 'अपवृत्ते' समाप्ते सर्वान्ते-
इति यावत् 'वामदेव्यगानम् वामदेव्यनामकस्य साम्नोगानम् (ऊ० गा० १, १, ५)
कर्त्तव्यम्, तच्च 'शान्त्यर्थं' भवतीति शेषः । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिद्योतिका ॥२६॥ ९

इति गोभिलगृह्यसूत्रे प्रथमप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥

इति गोभिल-गृह्यसूत्रे प्रथमः प्रपाठकः ॥

भा०—क्या नित्य (प्रति दिन करने योग्य), क्या नैमित्तिक, (किसी निमित्त विशेष से करने योग्य), क्या काम्य (किसी कामना से) सब ही प्रकार के होम के अन्त में ' वामदेव्य ' * गान करे, उस से सब प्रकार की आपत्तियों की शान्ति होती है ॥ २६-९ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय के नवमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१॥ ९॥

प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ १ ॥



—०:॥ महावामदेव्य साम ॥००:—

३ २ ४ २ ४ ५

महावामदेव्यम् ॥ काऽध्या । नश्चा३ इत्रा३ आभुवात् ।

* विवाह में विरान विधि यह होगा कि 'भू, भुव, स्व, इन तीन महाव्याहृतियों के द्वारा भिन्न २ तीन और फिर इन को एकत्र बरक पड़े और प्य, सुतरा ४ होम करना चाहिये । उक्त महाव्याहृति आदि भिन्न २ कर होम करने का ही नाम वारतुहोम है और एकत्रित पाठ पूर्वक होम करने को 'समस्तहोम' कहते हैं । विवाहादि में व्यस्त—समस्त (अलग और एकत्र) दोनों प्रकार होम होते हैं ॥

* छंद आचिंचक के दिवतीय प्रपाठक के दिवतीयाद में तृतीय दशति के पथम 'वयानश्चित्र आ, शकू अवलम्बन वरके तीन साम मत्र गाये गये हैं, वह 'गेव गान, के पथम प्रपाठक के प्रथमाद में २३, २४, २५ हैं उन में तृतीय आर्षेय ब्राह्मणेय (१, १६) श्रुतिअनुसार 'वाम देव्य, । उत्तराचिंचक के प्रथम प्रपाठक के प्रथमाद में द्वादश सूक्त के प्रथम भी 'वयानश्चित्र आ, शकू एव इस सूक्त के इस छंद के और भी दो 'कक, है, 'वद यो वा तदुत्तरयोगायति ॥ तारुष्य ब्राह्मणेय इस श्रुति के अनुसार इन दो में भी 'वामदेव्य ॥ गान होता है । इन वामदेव्य वा एवत्र गान होने से महावामदेव्यगान कहता है । यह महावाम देव्य उद्घान के प्रथम प्रपाठक के प्रथमाद में पथम साम है ॥

‘हे अमुकि ! इन पिण्डों में से जिसे तुम्हारी इच्छा हो उसे उठा लो । इस प्रकार कहने पर वह, यदि उक्त चार में से एक अर्थात् वेदी, कृष्टभूमि, हृद्, या गोशाला का पिण्ड लेवे तो उस को सुलक्षण समझ कर विवाह करे । कोई २ कहते हैं कि, नवम पिण्ड अर्थात् आठ प्रकार की सृत्तिका जिस में इकट्टी हैं उसे जो ग्रहण करे, तो उस कन्या के साथ भी विवाह कर सकते हैं, किन्तु चतुष्पद, द्यूत स्थान, श्मशान, या उपर सृत्तिका के ग्रहण करने से कदापि विवाहने योग्य नहीं ॥ कन्यापरीक्षा पूरीहुई ॥ ७-९ ॥

ऋतिकैर्यवैर्मर्मापैर्वाऽऽप्नुताथ् सुहृत् सुरोत्तमेन सशरीरां त्रिर्मूर्द्धं न्यभिपिञ्चेत् कामवेद ते नाम मदीनामासीति समानयामुमिति पतिनाम तृह्णीयात् स्वाहाकारान्ताभिरुपस्थमुत्तराभ्यां प्लावयेत् ज्ञातिकर्मैतत् । १०, ११ ॥

‘ऋतिकेः’ चूर्णोक्तैः ‘यवैः मासैः वा’ ‘आप्लुताम्’ मर्दिताङ्गां कन्यां ‘सुहृत्’ कन्यायाएव काचित् सखी ‘सुरोत्तमेन’ उत्कृष्ट जलेन ‘सशरीरां’ शरीरसहितां तां ‘मूर्द्धनि’ मस्तके ‘त्रिः’ त्रिवारम् ‘अभिपिञ्चेत्’ । तत्र “काम वेद ते नाम मदी नामासि समानयामुत्तरा ते अभवत् । परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोसि स्वाहा ॥२॥ इमन्त उपस्थं मधुना सथ्सृजामि प्रजापतेमुखमेतद् द्वितीयम् । तेन पुथ्सोऽभिभवासि सर्वानवशान्वशिन्वसि राक्षी स्वाहा ॥३॥ अग्निं क्रव्यादकृषवन् गुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणाः । तेनाज्यमकृणथ्छैशृङ्गत्वाट्टं त्वयि तद्घातु स्वाहा” ॥ ४ ॥ (मं० ब्रा० १, १,) अग्भिरभिपिञ्चनम् तत्र च समानयामुमिति मन्त्रे अमुमित्यस्य स्थाने ‘पतिनाम’ भाविभर्तृनाम ‘तृह्णीयात्’ । किञ्चोक्ताभिपिञ्चनमन्त्राणाम् ‘उत्तराभ्यां’ द्वाभ्याम् ‘उपस्थं’ कन्याया विशेषेण ‘प्लावयेत्’ धावयेत् । ‘एतत्’ अभ्यङ्ग-मर्दनं पूर्वकमुपस्थधावनान्तं स्नानं ‘ज्ञातिकर्म’ इत्युच्यते-इति गतं ज्ञातिकर्म ॥१०, ११॥

भा०—यद्य चूर्णं, या उहृद्, फलाहं के चूर्णं से कन्या का सर्वाङ्ग मर्दन कर कन्या ही की किसी सखी द्वारा उनी कामवेद प्रभृति स्वाहा कारान्त मन्त्रत्रय पढ़ कर कन्या के साथे पर तीन बार उत्तम जल ढाल दे, इस प्रकार जल ढाल देवे जिस से कन्या का शरीर अच्छे प्रकार धो जाये, विशेषतः इन तीन के शेष (३ व शरीर ४ वं) दो का पाठ कर इन कन्या के उपस्थ इन्द्रिय (मज्जन-प्रदेग) अच्छे प्रकार धो दे । इमी को ‘ज्ञातिकर्म’ कहते हैं ॥१०, ११॥

या लक्षणा देखने से सब लक्षणों से सुसम्पन्न कन्या न पाई जावे, तो कन्या को डेला छेला कर उस की इस प्रकार परीक्षा करे कि ॥ ३ ॥

वेद्याः सीताया हृदाद्गोष्ठाच्चतुष्पथादादेवनादादहनादीरिणात्सर्वेभ्यः सम्भार्यं नवमं, समान् कृतलक्षणान् ॥ ४-६

‘वेद्याः’ ‘यज्ञीयवेदीतः’ ‘सीतायाः’ लाङ्गलकृष्टस्थानात्. ‘हृदात्’ अगाध-जनस्थानात्. ‘गोष्ठात्’ गोस्थानात्, ‘चतुष्पथात्’ ‘आदेवनात्’ देवनं द्यूतस्थानं तस्मात्, ‘आदहनात्’ श्मशानात्, ‘ईरिणात्’ उपरप्रदेशात् सुदो गृहीत्वा ‘समान्’ तुल्यप्रमाणादिकान् किञ्च ‘कृतलक्षणान्’ यतश्च यो मृत्पिण्डो गृहीतः तद्द्यूतकचिन्हीकृतान् पिण्डान् कुर्वीतेति अष्टौ पिण्डाः सम्पन्नाः । ‘सर्वेभ्यः’ पिण्डेभ्यएव ‘सम्भार्यं’ किञ्चित् किञ्चिदाहतमपि पिण्डमेकं कुर्वीत, तदेव ‘नवमं’ पिण्डानां भवेत् ॥ ४-६ ॥

भा०:-यज्ञवेदी से, जोती हुई भूमि से, अगाधि जल स्थान से, या गोशाला से, चतुष्पथ से, या द्यूतस्थान से, श्मशान से, उपर भूमि में से कुछ २ मिट्टी लेकर आठ स्थानों में भिन्न २ उस गिट्टी को पिण्ड बनाकर रखे, और इन पिण्डों में से कुछ २ मिट्टी निकाल कर एक पिण्ड रखे इस प्रकार ९ पिण्ड रखे ॥४-६॥

पाणावाधाय कुमार्या उपनामयेदतमेव प्रथम-मृतं नात्येति कश्चनर्त्तइयं पृथिवी श्रिता सर्वमिदमसौ भूयादिति तस्या नाम गृहीत्वैपामेकं गृहाणेति द्रूयात्पूर्वपां चतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् सम्भार्यमपीत्येके ॥ ७-९ ॥

उक्तान् पिण्डान् ‘पाणौ’ ‘आधाय’ ‘कुमार्याः’ विवाहार्थपरीक्षणीयायाः ‘उप’ समीपे ‘नामयेत्’ स्थापयेत् । तत्र मन्त्रः—ऋतमेवेत्यादिर्भूयादित्यन्तः । ततश्च ‘तस्याः’ कुमार्याः ‘नाम’ गृहीत्वा तां सम्बोधयित्वेति यावत्, ‘एषा’ पिण्डानां नवानाम् ‘एकं’ यं कसपि ‘गृहाण’—‘इति’ द्रूयात् । तथाचोक्ते—‘पूर्वपां चतुर्णां’ वेदी-सीता-हृद-गोष्ठीयमृत्निर्मितानां यं कसपि ‘गृह्णन्तीम्’ ताम् ‘उपयच्छेत्’ उद्गृहेत् । ‘एके’ आचार्याः ‘सम्भार्यं’ नवमं पिण्डं गृह्णन्तीमपि उपयच्छेत् इत्याहुः । चतुष्पथ-देवन-श्मशानोपरस्थानीयमृत्निर्मितपिण्डानामेकतमं गृह्णन्तीं दुर्लक्षणेति नोद्वाह्येति सुतरां फलितम् । इति कन्यापरीक्षणम् ७-९

भा०:-उक्त नव पिण्डों को हाथ में लेकर जो कन्या विवाह के लिये हो उग के निकट लावे, और ‘ऋत’ प्रभृति मन्त्रों का पाठ कर बोले कि

भा०:-उस के बाद, वर जिस कन्या का पाणिग्रहण करे, उस को मस्तक पर्यन्त स्नान करा देवे। यह विवाह के दिन कन्या का स्नान होता है ॥१७॥

अहतेन वसनेन पतिः परिदध्याद् या अकृन्तन्नित्येतयञ्चा
परिधत्त धत्त वाससेति च ॥ १८ ॥

एतत्स्नानानन्तरं 'पतिः' भावी "या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत, याञ्च
द्व्यो अन्तानभितो ततन्ध। तास्त्वा देव्यो जरसा संव्यन्त्वायुष्मतीदं, परिधत्स्व
शसः" ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० १, १, ५)-'इत्येतया ऋचा' "परिधत्त धत्त वाससेनाथं,
गतायुपीथं कृणुत दीर्घनायुः। शतं च जीव शरदः सुवर्षां, वसूनि चार्ये विभृजासि
जीवन्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, १, ६)-'इति' अनया ऋचा 'च' 'अहतेन' अख-
ण्डेन 'वसनेन' परिदध्यात्' अहतं वसनं तां परिधापयेदित्यर्थः। इति कन्या-
शसःपरिधापनम् ॥ १८ ॥

भा०:-इस स्नान के पीछे भावी-पति 'या अकृन्तन्' यह मन्त्र एवं 'परि धत्त
यत्त वाससा" यह मन्त्र पढ़ कर उस कन्या को अखण्ड वस्त्र (किसी पूरे वस्त्र
में से फाड़ कर न लिया हो) पहनावे। यही "कन्यापासपरिधापन" है ॥१८॥

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत् सोमोऽददद्ग-
न्धर्वायेति पश्चादग्नेः संवेष्टितकटमेवञ्जातीयं वाऽन्यत् पदा
प्रवर्त्तयन्तीं वाचयेत् प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पतामिति
त्रयञ्जपेदजपन्त्याम्प्रास्याइतिवर्हिपोऽन्तङ्कटान्तम्प्रापयेत् १९-२२

तत्र 'प्रावृतां' आच्छादितां किञ्च 'यज्ञोपवीतिनीं' यज्ञोपवीतयुतां तां
कन्याम् 'अभि' अभिमुखम् 'उत्' उत्कृष्टरूपेण 'आनयन्' समीपमानीय भावी
पतिः"सोमोऽददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वोऽददद् अये रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो-
इमाम्" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० १, १, ७)-'इति' मन्त्रं 'जपेत्' पठेत्। अपिच 'अग्नेः
पश्चात्' 'संवेष्टितं कटम्' एवञ्जातीयं कटतुल्यम् 'अन्यत्' आस्तरणं वा 'प्रवर्त्त-
यन्तीं' पदा चालयन्तीं 'प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताथं शिवा अरिष्टा पति-
लोकं गमेयम्" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, १, ८)-'इति' यधू 'वाचयेत्'। 'अजपन्त्यां'
तस्यां"प्रास्याः पतियानः पन्थाः कल्पताथं शिवा अरिष्टा पतिलोकं गम्याः" ॥९॥
(म० ब्रा० १, १, ९)-'इति' इमं मन्त्रं 'स्वयम्' एव जपेत्। एवमेव चाले-
यन्तीं कटान्तं 'वर्हिषः' आस्तृतस्य 'अन्तं' समीपं 'प्रापयेत्' ॥ १९-२२ ॥

भा०.-पीछे उस कन्या को कपड़ा से ढाक कर, यज्ञोपवीतिनी (कनेड

पाणिग्रहणे पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरूपसमा-
हितो भवति । १२

‘पाणिग्रहणे’ करणीये ‘शालायाः’ मध्ये ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि
‘अग्निः’ ‘उपसमाहितः’ सस्थापितः ‘भवति’ भवेत् । १२

भा०—पाणि-ग्रहण करने में अग्नि शाला के, या घर के बीच पूर्व दिशा
में अग्नि स्थापन करना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ जन्यानामेको ध्रुवाणामपाङ्कलशं पूरयित्वा सहोदकुम्भः
प्रावृत्तो वाग्यतोऽग्नेणाग्निम्परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽव-
तिष्ठते प्राजनेनान्यः शमीपलाशमिश्रात्थञ्च लाजात्थञ्चतुर-
ञ्जलिमात्राञ्चूर्णेणोपसादयन्ति पश्चादग्नेर्दृशत् पुत्रञ्च १३-१६

‘अथ’ अनन्तरं ‘जन्यानां’ कन्याज्ञातिजनाना मध्ये ‘एकः’ अन्यतमः
‘ध्रुवाणां’ अतिप्रखरतापेऽप्यशुष्कजलाशयोत्थितानाम् ‘अपां’ कलशं पूरयित्वा
‘प्रावृत्तः’ वस्त्राच्छादितः, ‘वाग्यतः’ अनियमितवाक्शून्यः, ‘अग्निम्’ तम् ‘अग्नेण’
कृत्वा ‘परिक्रम्य’, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यामग्नेः ‘उदङ्मुखः’ उत्तराभिमुखश्च मन्
‘अवतिष्ठते’ अवतिष्ठेत अवस्थितिं कुर्यात् । ‘अन्यः’ तथैवैकः पुरुषः ‘प्राजनेन’
गवादिचालनदण्डेन साकं प्राजनहस्तइति यावत् अवतिष्ठेतेत्येव । ‘शमीप-
लाशमिश्रान्’ ‘चतुरञ्जलिमात्रान्’ ‘लाजान् च’ सूर्णेण, कृत्वा तत्रैव ‘अग्नेः
पश्चात्’ प्रदेशे ‘उपसादयन्ति’ स्थापयन्ति स्थापयेयुः ये के चात्मीयजनाइति ।
‘दृशत्पुत्रं’ दृशदः पेयणाधारस्य शिलाखण्डस्य क्रोडे पुत्रवत् श्रेते य उपलः
पेयणकरः तम् ‘च’ अपि उपसादयन्तीत्येव ॥ १३-१६ ॥

भा०—इस के अनन्तर कन्या के अःत्मीय कोड़े एक जन, जिस जलाशय
का जल कभी न सूखे ऐसे जल में कलश भर कर कपड़े से ढाक कर एकाग्र
हो, अग्नि को सम्मुख रक्ख कर प्रदक्षिण क्रम से अग्नि के दक्षिण में उत्तर
मुख होकर बैठे । और भी एक व्यक्ति इसी प्रकार डंडा हाथ में लेकर रहे ।
अग्नि के पश्चात् भाग में शमी पत्र मिला चार अञ्जलि परिमित लाजा रखे
और एक पेयणकर (लोढ़ा) भी वही रसना चाहिये ॥ १३-१६ ॥

अथ यस्याः पाणिं ग्रहीष्यन् भवति सशिरस्काप्लुताभवति । १७

‘अथ’ अनन्तरं ‘यस्याः’ कन्यायाः ‘पाणिं’ ‘ग्रहीष्यन् भवति’ घरः, मा
कन्या ‘सशिरस्का, शिरःमहिता’ आप्लुतां म्नाता ‘भवति’ भवेत् । इति विद्या-
हृदियमीपकन्याखानम् । १७

भाः०-उस पैर से चलाई हुई चटाई के पूर्व प्रान्त में पाणिग्रहण के लिये प्रवृत्त पति के दाहिनी ओर बधू बैठे ॥ २३ ॥ कन्या अपने दहिने हाथ के द्वारा, वर के दक्षिण स्कन्ध छू लेवे, एवं वर, कन्या के ग्रहण द्योतक कल्याण प्रार्थना करने में प्रवृत्त होकर 'अग्निरेतु प्रथमः', प्रभृति छः मन्त्र द्वारा छः आहुति प्रदान करे ॥२४॥ पीछे 'भूः', भुवः और स्वः' इन तीन महाव्याहृतियों का पाठ कर, भिन्न २ तीन होम करे ॥ २५ ॥ एवं इन तीन को एकत्र 'भू भुवः स्वः' पढ़ कर चतुर्थ होम सम्पन्न करे ॥ २६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथम खण्डका भाषानुवाद पूराहुआ ॥२.१॥

हुत्वोपोत्तिष्ठतः ॥ १ ॥

'हुत्वा' महाव्याहृत्यन्तम् 'उपोत्तिष्ठतः' उपोत्थानं मिथः पृष्ठतः स्कन्धा-
पित्तहस्तौ सन्तौ उत्थानं कुर्वतः दम्पतीति ॥ १ ॥

भाः०-उस महाव्याहृति होम के अनन्तर दोनों एकत्र 'उपोत्थान' करे । अर्थात् उत्थान काल में वर के दहिने हाथ में, कन्या के पीठ पर होकर दहिने कन्धे पर, और कन्या के बायें हाथ, वर के पीठ पर होकर बायें कन्धे पर रहे ।

अनुपृष्टं पतिः परिक्रम्य दक्षिणत उदङ्मुखोऽवतिष्ठते

वध्वञ्जलिं गृहीत्वा ॥ २ ॥

'पतिः' 'अनुपृष्टं' परिक्रम्य' पृष्ठपरिक्रमणेन 'दक्षिणतः' पत्न्या दक्षिणस्यां
गतः पतिः "वध्वञ्जलिं गृहीत्वा" 'उदङ्मुखः' सन् 'अवतिष्ठते' ॥ २ ॥

भाः०-पति, बधू के पीठ की ओर हो कर दहिने ओर चल कर, वधू की अञ्जलि पकड़ कर उत्तर मुंह हो बैठे ॥ २ ॥

पूर्वा माता लाजानादाय भ्राता वा वधूमाक्रामयेद-
श्मानं दक्षिणेन प्रपदेन ॥ ३ ॥

'माता भ्राता वा' 'लाजान्' 'आदाय' गृहीत्वा स्वान्तिके 'वधू' 'दक्षिणेन
प्रपदेन' 'अश्मानं' सोपलशिलापट्टकम् 'आक्रामयेत्' प्यारोहयेत् ॥ ३ ॥

भाः०-माता, या भ्राता लाजा लेकर वधूको दहिने पैरके सप्रभागसे 'अश्मा-
क्रामण' (शिलाहोहण) करावे । अर्थात् लोढ़ा सहित शिला पर (चलावे) ॥ ३ ॥

पाणिग्रही जपतीममश्मानमारोहेति ॥ ४

उत्तिष्ठेवाक्रमणकाले "इममश्मानं मारोहामि मेव त्वथं स्थिरा भव । द्विपः

पहना कर) करके पति अपने सामने निकट लाकर 'सोमोददद्' यह मन्त्र पढ़े, एवं अग्नि के पीछे स्थापित 'कट' या इसी प्रकार का अन्य आसन, उस कन्या के पैर से चलाकर अग्नि के सगीप विछाया हुआ 'बहि' तक ले आवे। उस समय इस भावी वधू को "प्र मे" मन्त्र पाठ करावे, वह यदि पाठ न कर सके तो भावीपति 'प्रास्या' मन्त्र स्वयं ही पढ़े ॥ १९-२२ ॥

पूर्वं कटान्ते दक्षिणतः पाणिग्राहस्योपविशति दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्वारवधायाः पडाज्याहुतीर्जुहोत्यग्निरेतु प्रथम इत्येतत्प्रभृतिभिर्महाव्याहृतिभिश्च पृथक् समस्ताभिश्चतुर्थीम् ॥ २३-२६ ॥

'पूर्वं कटान्ते' कटस्य पूर्वप्रान्ते 'पाणिग्राहस्य' पाणिग्रहणे प्रवृत्तस्य भाविपत्युः 'दक्षिणतः' दक्षिणस्याम् 'उपविशति' वधूरितिशेषः (२३) । दक्षिणेन पाणिना' वरस्य 'दक्षिणम् अंसम्' 'अन्वारवधायाः' अन्वारम्भसं पृष्ठतः स्पर्शनं तत् कुर्वाणायाः वध्वाः ग्रहणद्योतकमङ्गलकामनया "अग्निरेतु प्रथमो देवताभ्यः, सोस्यै प्रजां मुञ्जातु मृत्युपाशात्, तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां । यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा ॥ १० ॥ इमानग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः, प्रजामस्यै जारदष्टिं कृणोतु । अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता, पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियथं स्वाहा ॥ ११ ॥ द्यौस्ते पृष्ठथं रञ्जतु वायुरूरूँ अश्विनौ च स्तनन्धयन्ते पुत्रांतसविताभिरक्षत्वप्रासथं परिधानाद्, वृक्षपतिर्विश्वेदेवा अभिरक्षतु पद्मात् स्वाहा ॥ १२ ॥ मा ते गृहेषु निशि घोष उत्पादन्वत्र त्वद्गुदत्यः संविशन्तु । मा त्यथं रुदत्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके घिराज, पश्यन्ती प्रजाथं सुमनस्यमानाथं स्वाहा ॥ १३ ॥ अमजस्यं पौत्रमस्यं पाप्मानमुत वा अपम् । शीर्ष्णः स्त्रजगियोन्मुच्य द्विपद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशथं स्वाहा ॥ १४ ॥ परैतु मृत्युरमृतं ग आगाद्, वैवस्वतो नो अभयं कृणोतु परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र नो अन्यं इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ध्रुवीमि मानः प्रजाथं रीरियो मोत धीरांत स्वाहा" ॥ १५ ॥ १ (म० ब्रा० १, १, १०-१५)—इत्येतत् प्रभृतिभिः पद्भिर्मन्त्रैः 'षट् शाब्द्याहुतीः' 'जुहोति' जुहुयात् पाणिग्राह इति शेषः (२४) । 'महाव्याहृतिभिः' तिसृभिः 'पृथक्' टिभिर्वाः तिस्र आहुतीर्जुहुयात् (२५) । समस्ताभिः' ताभिः 'चतुर्थीम् आहुतिं' 'च' जुहुयात् (२६) ॥ २२-२६ ॥ इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमसकस्यव्याख्यानसमाप्तम् २, १

कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवी अर्यमा प्रेतो मुञ्चातु मा मुत स्वाहा” ॥३॥
 (स० ब्रा० १, २, ३) — “पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत । स इमां देवः पूषा प्रेतो
 मुञ्चातु मा मुत स्वाहा” ॥ ४ ॥ (स० ब्रा० १, २, ४) — “इति एतौ मन्त्री यथा-
 क्रमेण प्रयोक्तव्यावित्येव विशेषः (७) । ‘एवम्’ प्रथमलाजाहोमेनोत्तरलाजाहो-
 मद्वयमेलनेन सङ्कलनया ‘त्रिः’ होमत्रयं सम्पन्नम् । (१०) । इति गता परिण-
 यक्रिया ॥ ५-१० ॥

भा०—कन्या का भाई, एक ही घर एक अञ्जलि लाजा लेकर अपनी
 बहिन की अञ्जलि में देवे, उस भाई की दियी हुई लाजा की अञ्जलि को
 पूर्वपदेशानुसार (१८३-४) ‘उपस्तीर्णाभिधारित’ कर अञ्जलि अलग २ न हीं
 जावे, इसप्रकार सावधानी से “ इयं नार्युपव्रूते ” इस मन्त्र से, वधू अग्नि में
 आहुति देवे । ६ । इस प्रकार आहुति देने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण पति ने जिस
 प्रकार गमन किया था, उसी प्रकार । अर्थात् कन्या को आगे लेकर अग्नि की
 प्रदक्षिणा कराते हुये, पुनः आकर ‘कन्यला पितृभ्यः’ इस मन्त्र का पाठ करके
 उस कन्या को ‘परिणीता’ करे । अर्थात् कन्या जो पति लोक पाती है, यह
 बात उसे समझा देवे ॥ ८ ॥ इस प्रकार वधू परिणीता होने पर और भी दो
 बार उसी प्रकार अवस्थान (सू० २), अश्माक्रामण (३ सू०), मन्त्र पाठ,
 (सू० ४), लाजा घपन (सू० ५), और लाजाहोम करे । (८) किन्तु इन
 दोनों होम में पूर्वमन्त्र नहीं पढ़े । प्रत्युत उसके बदले में ‘अर्यमणं नु देवं’
 एवं ‘पूषणं’, इन दो मन्त्रों का पाठ यथा क्रम से करे ॥ ७ ॥ इस प्रकार तीन
 लाजा होम सम्पन्न होंगे । इसी को ‘परिणय’ कहते हैं ॥ ५-१० ॥

शूर्पेण शेषमग्नावोप्य प्रागुदीचीमभ्युत्क्रामन्त्येकमिप-
 इति दक्षिणेन प्रक्रम्य सव्येनानुक्रामेन्मा सव्येन दक्षिण-
 मतिक्रामेति ब्रूयात् ॥ ११-१३ ॥

‘शेष’ लाजानम्, ‘शूर्पेण’ गृहीत्वा ‘अग्नी’ ‘ओप्य’ अमन्त्रकमेव निक्षिप्य
 ‘प्रागुदीचीम्’ ऐशानो विदिशम् “ एक मिपे विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ६ ॥ द्वे ऊर्जे
 विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ७ ॥ त्रीणि व्रताय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ८ ॥ चत्वारि मयो
 भयाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ९ ॥ पञ्च पशुभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १० ॥ षड् रायस्पो-
 घाय विष्णुस्त्वा नयतु ॥ ११ ॥ सप्त सप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वा नयतु ॥ १२ ॥
 सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमय३ सख्यं ते मायोपाः सख्यं ते मायोष्टयाः ॥
 १३ ॥ (१, २, ६-७) — “इति सप्तभिः यजुभिः सप्तवारमुत्तरीत्तरम् अभ्युत्क्रामन्ति

जनपवाधस्व मा च त्वं द्विपतामथः" ॥ १ ॥ (स० ब्रा० १, २, १) 'इति' इमं मन्त्रं 'पाणिग्राहः' पाणिग्रहणकारी पतिः 'जपति' जपेत् पठेदित्यर्थः ॥४॥

भा०:-उक्त 'अंशमाक्रान्ता' काल में पाणिग्रहणकारी 'इममशमानमारोह' इय मन्त्र को पढ़े ॥ ४ ॥

सकृत् संगृहीतं लाजानामञ्जलिं भ्राता वध्वञ्जलावाव-
पति तथ्सोपस्तीर्णाभिधारितमग्नौ जुहोत्यविच्छिन्दत्यञ्ज-
लिमियं नार्युपद्रूतेऽर्यमणं नु देवं पूषणमित्युत्तरयो हुंते
पतिर्यथेतं परिव्रज्य प्रदक्षिणमग्निं परिणयति, मन्त्रवान्
ब्राह्मणः कन्यलापितृभ्यइति परिणीता तथैवावतिष्ठते तथा
ऽऽक्रामति तथा जपति तथाऽऽवपति तथा जुहोत्येवं त्रिः ५-१०

'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतं' 'लाजानाम् अञ्जलिं' 'भ्राता' 'वध्वञ्जली'
स्वभगिन्या अञ्जली "आवपति" प्रयच्छति (५) । 'सा' वधूः 'तम्' भ्रातृदत्तम्
'अञ्जलिं' लाजाञ्जलिम् 'उपस्तीर्णाभिधारितं' पूर्वोक्तप्रकारेण (१।८।४) प्रकृत्य
'अविच्छिन्दती' विच्छेदनञ्जलिभेदनकुर्वन्ती "इयं नार्युपद्रूते उग्नौ लाजा-
नावपन्ती । दीर्घायुरस्तु मे पतिः । शतं वर्षाणि जीवत्वधन्तां ज्ञातयो मम
स्वाहा" ॥ २ ॥ (स० ब्रा० १, २, २)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'अग्नौ' 'जुहोति'
शुहुयात् (६) 'हुते' लाजाहोमे सम्पन्ने अनन्तरं 'मन्त्रवान्' अधीतवेदो 'ब्रा-
ह्मणः' * 'पतिः' 'यथा' येन प्रकारेण पत्नीपृष्ठदेशेन 'इतं, गतं, तथैव' 'अग्निं,
'प्रदक्षिणं' यथास्यात् तथा 'परिव्रज्य, प्रत्यागत्य' "कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं
यत्क्षेपमपदीक्षामयत् । कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि
द्विपः" ॥ ५ ॥ (स० ब्रा० १, २, ५)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'परिणयति'
तां कन्या मिति शेषः; पतिलोकप्रापणं घोषयति कन्या मिति भावः; (८)
'परिणीता' च मा पत्नी 'तथैव' पूर्वोक्तप्रकारेणैव (२ सू०) 'अवतिष्ठते'; 'तथा'
एय 'आक्रामति' अरमनम् (३ सू०); 'तथा' एय 'जपति' (४ सू०) 'पतिः';
'तथा' एय (५ सू०) 'आवपति' भ्राता; 'तथा' एय (६ सू०) 'जुहोति' धार-
द्वयम् कन्या स्थयमेव (८) । अत्र च 'उत्तरयोः' लाजाहोमयोः "अर्यमणं नु देवं

* मन्त्रसूत्रेणैव आह्वयत्त पतिर्वाप्युत्तने तदा येन पितृ मिह एतुर्देव शिवायत्तद्वयम् । इति' इह 'सा,
इति' इह, पर मन्त्रेण 'जुहोति' शिवायत्त 'सा, परमन्त्रेणान् परिणयति' यथापि एतन्पुत्रविधेत्तमन्त्रान्
मन्त्रेणैव 'जुहोति' इति' इह, पर मन्त्रेणान् परिणयति' यथापि एतन्पुत्रविधेत्तमन्त्रान्
२. ६. १. ५ ॥

पाणिग्रहणीया जपति गृभ्णामि त इति ॥ १६ ॥

‘अवसिक्तायाः’ बध्वाः ‘अञ्जलि’ ‘सव्येन पाणिना’ ‘उपोद्गृह्य’ स्वसमीपे कर्तुर्ध्वीकरणपूर्वकं प्रगृह्य, तस्याएव ‘साङ्गुष्ठम्’ अङ्गुष्ठसहितम् ‘उत्तानं’ पृष्ठ-निम्नं ‘पाणिं’ आमणिवन्धाङ्गुलिचयं ‘दक्षिणेन पाणिना’ ‘गृहीत्वा’ “गृभ्णामि ते सौभागत्वाय हस्तं मया पत्या जरदृष्टियंथासः। भगो अर्थेना सचिता पुरन्धि मंच्यं त्वा दुर्गाहंपत्याय देवाः ॥१६॥ अघोरचक्षुरपतिप्रियधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्णाः। वीरसूर्ज्जीवसूर्देवसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१७॥ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनकत्वर्थमा । अदुर्मङ्गलीः पतिलोक माविश शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१८॥ इमां त्वमिन्द्रमीद्वः सपुत्रां सुभगां कृधि । दशास्यां पुत्रानाघेहि पति मेकादशं कुरु ॥ १९ ॥ संस्राञ्जी श्वशुरे भव संस्राञ्जी श्वश्र्यां भव । ननान्दरि संस्राञ्जी भव संस्राञ्जी अधिदेवेषु ॥ २० ॥ मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्तं मनुचित्तं ते अस्तु । मम वाच मेकमना जुषस्व वृहस्पतिस्त्वा नियुक्तु मद्यम्” ॥२१॥ (१, २, १०-१५)–‘इति’ ‘पुताः’ ‘पाणिग्रहणीयाः’ पाणिग्रहणार्थबोधिकाः ऋचः षट् ‘जपति’ जपेत् प्राणिग्राह इति शेषः । इति गतं पाणिग्रहणम् ॥ १६ ॥

भा०:-पति, उस जल सिक्त बधू के अञ्जलि को वायें हाथ से ग्रहण कर, अपने निकट कुछ ऊपर लेकर दहिने हाथ से तदीय साङ्गुष्ठ उत्तान दहिना हाथ (मणिवन्ध अर्थात् हाथ के पहुंचे से अञ्जलि तक) पकड़, कर “गृभ्णामि ते” इत्यादि विवाहार्थ बोधक मन्त्र पढ़े। इसी का नाम विवाह है ॥ १६ ॥

समाप्तसूद्रहन्ति ॥ १७ ॥ २ ॥

‘समाप्तासु’ पाणिग्रहणान्तक्रियासु ‘उद्ग्रहन्ति’ पतिलोकं प्रापयन्ति बधूम स्वजनाः रथादयो वा करणादीनामपि कर्तृत्व्यं भवत्येव, कारकाणां विवक्षाधीनत्वात् ‘काष्ठाः पचन्ति’ इत्यादि भाष्यमेव निदर्शनमिति । इत्युद्वाहः ॥१७॥

इति सामवेदवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे द्वितीयप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य

ट्यास्यान् समाप्तम् ॥ २, २ ॥

भा०:-पाणिग्रहण के अन्त तक सय क्रिया समाप्त होने पर, उम बधू को स्वजनगण, रथ आदि पर, सवार करा पति के घर पहुंचावें। यही “उद्वाह” है १७

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीयखण्ड का

भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २ । २ ॥

सात्रादिपरिजना वधूमिति (११) तत्र चाक्रामणक्रममुपदिशति;—‘दक्षिणेन पादेन’ ‘प्रक्रम्य’ भूमिम्, ‘अनु’ पश्चात् ‘सद्येन’ पादेन ‘क्रामेत्’ तामेव स्थलीम् (१२) । परं तत्रापि ‘सव्येन दक्षिणं सा अतिक्राम’—‘इति’ इमं मुपदेशं ब्रूयात् ताम् (१३) एवञ्च प्रथमं सव्यपादक्षेपण, सव्येन पादेन दक्षिणपादाक्रमणञ्च निषिद्धमिति । गतगिदं सप्तपदीगमनम् ॥ ११—१३ ॥

भा०:—तीन वार हुतावशिष्ट लाजा आदि सूय में लेकर बिना मन्त्र पढ़े, अग्नि में डाले । ईशान कोण में ‘एक मिये’ प्रभृति सात मन्त्र पढ़ २ कर वधू को यथा क्रम से, सात पग चलावे । उस में विशेष लक्ष्य यह है कि पहिले बायां पैर आगे न रखे, और बायें पैर से दक्षिण पग आक्रान्त भी न हो । इसी को सप्तपदीगमन कहते हैं ॥ ११—१३ ॥

ईक्षकान् प्रतिमन्त्रयेत् सुमङ्गलीरियं वधूरिति ॥१४॥

तदनन्तरम् “सुमङ्गली रियं वधूः रिमौ समेत पश्यत । सौभाग्य मस्यै दद्यात् याथास्तं विपरेतन” ॥१४॥ (म० ब्रा० १,२, ८)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् पाणिग्राहः ‘ईक्षकान्’ विवाहदर्शकान् सर्वानेवाविशेषेण ‘प्रति मन्त्रयेत्’ आशीः प्रार्थयेत् । इदमेव प्रेक्षकामन्त्रणम् ॥ १४ ॥

भा०:—उस के अनन्तर ‘सुमङ्गलीरियं वधू’ इस मन्त्र को पढ़ कर दर्शकों के निकट आशीर्वाद लेने का पात्र होवे ॥ १४ ॥ यही निरीक्षण (प्रेक्षण) है ।

अपरेणाग्निमौदकोऽनुसंब्रज्य पाणिग्राहं मूर्द्धदेशेऽवसिञ्चति तथेतराथ्समञ्जन्त्वित्येतयर्च्चा ॥ १५

ततश्च ‘श्रीदकः उदककुम्भयुक्तः कश्चन पुरुषः ‘अग्निम् अपरेण’ अग्नेः पश्चिमतः दम्पतीस्थानं ‘अनुसंब्रज्य’ रुमागत्य ‘ पाणिग्राहं’ वरं ‘तथैव इतरा’ यधूञ्च “समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापोः हृदयानि नौ । सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु” ॥१५॥ (म० ब्रा० १,२,९) ‘इति एतया ऋचा’ दम्पतीभ्यामुच्यमानया स्वपनकालं संलक्ष्य ‘ मूर्द्धदेशं’ तथोरुभगोरेव ‘अवसिञ्चति’ आ सिञ्चेत् उदकेनैवेत्यासिञ्चनम् ॥ १५ ॥

भा०:—अनन्तर कोई जलवाहक व्यक्ति अग्नि के पश्चिम भाग में आकर विवाह के लिये उद्यत पर और कन्या के माथे पर जल डाल कर स्नान करावे और, उसी समय दम्पती एक याक्ष से ‘समञ्जन्तु’ मन्त्र पढ़े ॥ १५ ॥

अवसिक्तायाः सव्येन पाणिनाञ्जलिमुपोद्गृह्यदक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिथं साङ्गुष्टमुत्तानं गृहीत्वैताः पद

तानि ते पूष्णाहुत्या सर्वाणि शनयाम्पहम् ॥ ४ ॥ ऊर्ध्वरूपस्ये जड्वयोः
सन्धानेषु च यानि ते । तानि ते पूष्णाहुत्या सर्वाणि शनयाम्पहम् ॥ ५ ॥
यानि कनि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन् । पूष्णाहुतिभि राज्यस्य सर्वाणि
तान्पशीशमम् ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ३, १-६),—‘इत्येतत्प्रभृतिभिः मन्त्रैः पङ्क्तिः
‘षट्’ ‘आज्याहुतीः’ ‘जुहोति’ जुहुयात् पतिरिति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—यदि मेघ आदि के कारण नक्षत्रोदय दीख न पड़े, तो किन्हीं प्राञ्ज
ज्योतिषी के यतलाये हुए नक्षत्रोदय काल में ‘लेखासन्धिषु’ इत्यादि छः मन्त्रों
से छः आहुति देवे ॥ ५ ॥

आहुतेराहुतेस्तु सम्पातं मूर्द्धनि वध्वा अवनयेत् ॥ ६ ॥

‘आहुतेः आहुतेः’ प्रत्याहुतेः ‘सम्पातं तु अवशिष्टघृतधारां वध्या मूर्द्धनि
‘अवनयेत्’ ॥ ६ ॥

भा०—उन प्रत्येक छः आहुतियों के अन्त में उस वधू के साथे परघृत
का ढार गिरावे ॥ ६ ॥

हुत्वोपोत्यायोपनिष्क्रम्य ध्रुवं दर्शयति ॥ ७ ॥

‘हुत्वा’ एतत् पडाज्याहुतिहवनानन्तरं दम्पती ‘उपोत्थाय’ सहैत्रीत्तिष्ठन्ती
‘उपनिष्क्रम्य’ सहैव होमस्थानान्निर्गत्य ‘ध्रुवं’ ध्रुवसङ्घे नक्षत्रं दर्शयति पतिः
पत्नीमिति ॥ ७ ॥

भा०—ये छः आहुति और आहुति शेष ग्रहण के पीछे, बर कन्या उठकर
एकत्र होमस्थान से बाहर होकर पति, पत्नी को ध्रुव नामक नक्षत्र दिख नावे ॥७॥

ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयास ममुष्यासाविति पतिनाम
गृह्णीयादात्मनश्च ॥ ८ ॥

तत्र ध्रुवदर्शनकाले ‘ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासममुष्यासौ’—‘इति’
इमं मन्त्रं वधूः पठेत् । ‘च’ अपि अमुष्यइत्यस्य स्थाने स्वपतिनाम पठयन्तम्
असौ स्थाने ‘आत्मनः’ नाम प्रथमान्तम् ‘गृह्णीयात्’ ॥ ८ ॥

भा०—उस ध्रुव दर्शन के समय ‘हे नक्षत्र । तुम स्थिर स्वभाव वाले हो,
इसी कारण ‘ध्रुव’ (अबल) नाम से विख्यात हो । मैं भी जिनसे पति कुल
में स्थिरप्रकृति हीऊँ ? मैं अमुक नामवाली, अमुक नामक व्यक्ति की पत्नी
हूँ” इस मन्त्र को वधू पढे । इस मन्त्र के मध्यगत ‘अमुक’ इस पद के बदले
निज पति का नाम और “अमुक नाम वाली” के बदले अपनी नाम कहे ॥८॥

अरुन्धतीञ्च ॥ ९ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि यद्ब्राह्मणकुलमभिरूपन्तत्राग्नि-
रूपसमाहितो भवति ॥ १ ॥

‘प्रागुदीच्यां’ ऐसान्यां ‘दिशि’ ‘यत्’ ‘अभिरूपं’ तपःस्वाध्याययुतं ‘ब्राह्म-
णकुलम्’ ‘तत्र’ ब्राह्मणकुले ‘अग्निः’ वैवाहिकः ‘उपसमाहितः’ यथाविधि स्था-
पितः ‘भवति’ भवेत् ॥ १ ॥

भा०—यदि आपना मकान दूर हो, तो समीपस्थ ईशान कोण स्थित किसी
उपयुक्त ब्राह्मण के घर में उत्तरविवाह सम्पादनार्थ यथाविधि अग्निस्थापन करे।
अपरेणाग्निमानडुहं रोहितं चर्म प्राग्ग्रीवमुत्तर-
लोमास्तीर्णं भवति ॥ २ ॥

‘अग्निम् अपरेण’ अग्नेः पश्चात् ‘रोहितं’ लोहितम् ‘आनडुहं चर्म’ गोचर्म
‘प्राग्ग्रीव’ ‘उत्तरलोम’ उपरिष्ठाल्लोमपृष्ठम् ‘आस्तीर्णं’ पातितम् ‘भवति’ भवेत् ॥ २ ॥

भा०—उस स्थापित अग्नि के पश्चिम भाग में लोहित वर्ण गौ का चमड़ा
लेकर, इसप्रकार विछावे कि जिस में लोमपृष्ठ (रोम ऊपर हो) तो ऊपर
को हो और पूर्व-पश्चिम लम्बा हो, चमड़े का शिरो देश पूर्वभाग में हो
और इस का नीचे का हिस्सा पश्चिम दिग्गत हो ॥ २ ॥

तस्मिन्नेनां वाग्यतामुपवेशयन्ति ॥ ३ ॥

‘तस्मिन्’ आस्तृते आनुडुहे चर्मणि ‘एनां’ वाग्यतां ‘नियमितवाचाम्’
‘उपवेशयन्ति’ आत्मीयजनाः ॥ ३ ॥

भा०—उस डाले हुए गौ-चर्मके ऊपर वधू को नियमित वाक्य कर बैठावे ॥ ३ ॥

सा खल्वास्तएवानक्षत्रदर्शनात् ॥ ४ ॥

‘सा’ वधूः ‘खलु’ निश्चयम् ‘आनक्षत्रदर्शनात्’ अस्तमिते दिवाकरे यावत्
नक्षत्रैकमपि दृश्यते तावत् तथा ‘एव’ ‘अस्ते’ ॥ ४ ॥

भा०—वह वधू नक्षत्र के उदय पर्यन्त उसी प्रकार बैठी रहे ॥ ४ ॥

प्रोक्तेनक्षत्रेपडाज्याहुतीर्जुहोतिलेखासन्धिष्वित्येतत्प्रभृतिभिः ५

‘नक्षत्रे प्रोक्ते’ मेघाच्छन्नादिहेतुभिः नक्षत्रोदयादर्शनेऽपि ‘उदितमेव नक्ष-
त्रमण्डलं यतस्तत्कालोऽयमागतः’—इत्येवमभिजनैः कथिते ‘लेखासन्धिषु पद्म-
स्वायत्तेषु च यानि ते । तानि ते पूरुणाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ १ ॥
केशेषु यच्च पापक मीक्षिते रुदिते च यत् तानि पूरुणाहुत्या सर्वाणि शमया-
म्यहम् ॥ २ ॥ शीलेषु यच्च पापकं भापिते हसिते च यत् । तानि ते पूरुणा-
हुत्या सर्वाणि शमयाम्यहम् ॥ ३ ॥ आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत् ।

और पत्नी दोनों ही क्षार लवण को छोड़, हविष्य भोजन करे, किन्तु ब्रह्मक्षय नष्ट न हो, * और भूमि में शयन करे ॥ १४ ॥

अत्रार्घ्यमित्याहुरागतेष्वित्येके ॥ १५ । १६ ॥

‘अत्र’ तिसृषु रात्रिषु यस्मिन् कस्मिन्नपि काले यथावसरं कन्यापित्रा वराय ‘अर्घ्यं’ अर्हणीयवस्तुजातं मधुपर्कादिकम् प्रदातव्यम् ‘इत्याहुः’ प्राचीना-
चार्याः (१५) । ‘आगतेषु’ वराद्यर्चनीयजनेषु तस्मिन्नेव काले अर्घ्येषु एव अर्घ्यं
दानं कर्तव्यम् ‘इत्येके’ नव्याः (१६) ॥ १५, १६ अनयोर्भोजननियमोव्यवस्थाप्यते,-

भा०:-इन तीन दिनों में जिस किसी दिन में,जित्त किसी समय हो,कन्या
का पिता अपने अवसरानुसार वर की ‘मधुपर्क’ आदि वस्तुओं से पूजा करे,
यही प्राचीन मत है । किन्तु कित्ती २ का मत है कि जिन लोगों की पूजा
करनी हो उनके आने के समय ही करे। इसी को ‘अर्घ्यदान’ कहते हैं ॥ १५।१६॥

हविष्यमन्नं प्रथमं परिजपितं भुञ्जीत श्वोभूते वा सम-
शनीयथ्, स्थालीपाकं कुर्वीत तस्य देवता अग्निः प्रजाप-
तिर्विश्वेदेवा अनुमतिरित्युद्धृत्य स्थालीपाकं व्यूह्यैकदेशं
पाणिनाभिमृशेदन्नपाशेन मणिनेति भुवत्वोच्छिष्टं वध्वै
प्रदाय यथार्थम् ॥ १७-२१ ॥

‘हविष्यं’ क्षारादिवर्जितम् ‘अन्नम्’ ‘प्रथमं’ पत्नीभोजनात् पूर्वं ‘परिजपि-
तं’ वक्ष्यमाणप्रकारेण विधास्यमानमन्त्रेण च (२० सू०) ‘ भुञ्जीत’ पतिः (१७)
‘वा, अथवा ‘श्वोभूते’ तत्परदिने ‘समशनीयं’ सन्ध्यगभोजनयोग्यं ‘स्थालीपाकं’
स्थाल्यां पक्कमन्नं ‘कुर्वीत’ (१८) । ‘तस्य’ अन्नस्य भोजनाय ‘अग्निः प्रजापतिः
विश्वेदेवाः अनुमतिः’-‘इति’ इमाः चतस्रो देवताः’ रतुत्याः (१९) । ‘स्थाली-
पाकम्’ ‘उद्धृत्य’ पाकस्थानात् ‘एकदेशं’ तदीयं किञ्चिदंशं स्वभोजनयोग्यं
‘व्यूह्य’ पात्रान्तरे निक्षिप्य अन्नपाशेन मणिना प्राणमूत्रेण पृश्निना । वध्नामि
सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥ ८ ॥ यदेतद्दृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिदथ्
हृदयं मम तदस्तु तव ॥९॥ अन्नं प्राणास्य पद्भुवथ्शस्तेन वध्नामि त्वासी” ॥१०॥
म० ब्रा० १, ३, ८-१०’ ‘इति’ इसाम्मन्त्रान् पठन् ‘पाणिना’ ‘अभिमृशेत्’

* वभी जिस कन्या का राज प्रवेश न हुआ हो ऐसी कन्या गोभिलाचार्य के मत से एव अन्यत्र सूत्रार
ण्य रमूषिकारदि के मत से भी सम्भोग योग्या नहीं, और इस स्थान में आचार्य ब्रह्मचर्य नष्ट होने के डर से तीन
रान में भी सम्भोग निषेध करते हैं । तो इस में भी स्पष्ट प्रकाशन होता है कि राजकन्या होने ही पर कन्या विवाह
योग्य उत्तम होती है कन्या नहीं ॥

'ष' अपि 'अरुन्धती' नक्षत्रविशेषं दर्शयति तां पतिरिति ॥ ८ ॥

भा०:-उसी समय पति, वधू को "अरुन्धती" नामक नक्षत्र दिखलावे ॥८॥

रुद्धाहमस्मीत्येव मेव ॥ १० ॥

तत्रारुन्धतीदर्शनकाले 'रुद्धाहमस्मि'-'वति' । 'एवमेव'-

पूर्वाक्षप्रकारेण पत्युः स्वत्य च नामग्रहणपूर्वकेमेव वधूः पठेदिति ॥१०॥

भा०:-इस अरुन्धती के दर्शनसमय वधू कहे कि 'अमुक नाम्नी मैं, अमुक नामक पति की आज्ञा में चढ़ा होती हूँ' ॥ १० ॥

अथेनामनुमन्त्रयते ध्रुवाद्यौरित्येतयर्च्चा ॥ ११ ॥

'अथ' अनन्तरम् 'एनां' वधू "ध्रुवा द्यौरिंध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्" ॥११॥ म० ब्रा० १, ६, ६)- इत्येतया अथा 'अनुमन्त्रयते' पतिरिति ॥११॥

भा०:-उसके पश्चात् पति वधू को 'ध्रुवा द्यौः' इस मन्त्र को पढ़ावे ॥११॥

अनुमन्त्रिता गुरुं गोत्रेणाभिवादयते ॥ १२ ॥

'अनुमन्त्रिता' सा वधूः 'गोत्रेण' प्राप्तगोत्रं पतिगोत्रम् उच्चरन्ती 'गुरुं' पतिम् 'अभिवादयते' ॥१२॥

भा०:-इस मन्त्र को पढ़ने वाली वधू 'अमुक गोत्रा, अमुक नाम्नी मैं, तुम्हें अभिवादन करती हूँ' यह कर पति के दोनों पैर पकड़ प्रणाम करे ॥१२॥

सौऽस्त्या वाग्विसर्गः ॥ १३ ॥

'सः' कालः 'अस्त्याः' वध्वाः 'वाग्विसर्गः' नियमित वाक्यप्रयोग-नियम विसर्जनस्येति ॥१३॥

भा०:-यहाँ तक वधू नियमित वाक्य (आवश्यकतानुसार बोले) रह कर इस के बाद वह नियम त्याग कर अपनी इच्छानुसार बोल सकता है ॥१३॥

तावुभौ तत्प्रभृति त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणौ भूमौ सह शयीयाताम् ॥१४॥

'तत्प्रभृति' विवाहकार्मदिनतः 'त्रिरात्रं' त्रीण्यहोरात्राणि 'तावुभौ' दम्पती 'अक्षारलवणाशिनौ' क्षारलवणातिरिक्तभोजिनौ हविष्याशिनाविति यावत् 'सह' सहैव तिष्ठन्तावपि 'ब्रह्मचारिणौ' सङ्गमशून्यौ 'भूमौ' पद्मपङ्कादि वर्जितशय्यायाम् 'शयीयाताम्' ॥१४॥

भा०:-जिस दिन पहिले विवाह कार्य में प्रवृत्त हो, उस दिन तक पति

इमं मन्त्रं पठन् 'प्रति' प्रतिवारं यदा यदा . उपनिष्ठेत तदा तदेव 'मन्त्रयेत्'
ममननीश्वरचिन्तनं कुर्यात् । २

भा०:—मार्ग में चीराहा नदी, या किसी प्रकार का सडूट स्थान, बड़ा वृक्ष,
श्रीर श्मशान, जय २ मिलं तद्य २ 'मा विदन् परिपन्थिनो' इस मन्त्र को पढ़ते
हए ईश्वर का चिन्तन करे ॥ २ ॥

अक्षभङ्गे नहुविमोक्षे यानविपर्यासेऽन्यासु चापत्सु,
यमेवाग्निं हरन्ति तमेवोपसमाधाय व्याहृतिभिर्हुत्वान्यद्रव्य
माहृत्य यऋतेचिदभिश्चिपइत्याज्यशेषेणाभ्यञ्जेत् ॥ ३

'अक्षभङ्गे' रथचक्रे भग्ने, 'नहुविमोक्षे' नहुत् प्रच्युतेऽश्वादी 'यानविप-
यांसे' वाहनदौरात्न्येन रथस्य पश्चात् पार्श्वयोर्वा गमने सति, 'च' अपि
'अन्यासु आपत्सु' ममापतितासु किंकर्तव्यमित्याह,—तदा 'यमेवाग्नि' लौकिकम-
लौकिक (१, १, १५-१९ सू०) वा 'हरन्ति' आहरन्ति विपत्पातदर्शनसञ्जातादयः
स्वजनाः पान्यास्तद्राम्या वा 'तमेव, अग्निम् 'उप' समीपे 'समाधाय'
सम्यक् प्रज्वाल्य तत्रैवाग्नौ 'व्याहृतिभिः' तिसृभिः आज्यतन्त्रेण 'हुत्वा' ततः
'अन्यद्रव्य' अन्यद्रव्यादिकं यानान्तरं वा 'आहृत्य' समीपतो यद्यालभ्यं संगृह्य
'यऋतेचिदभिश्चिपे (मा० छ० आ० ३, २, १, २)—'इति' ऋद्धमूलकं साम (गे०
गा० ६, २, २२) गायन् [अनादिष्टपरिभाषयात्र साम्न एव द्योषः सूत्रे ऋगा-
दिपदानुज्ञेयात्] 'आज्यशेषेण' हुत्वावशिष्टेनाज्येन तं चक्रादिकं यथास्थानं
'अभ्यञ्जेत्' चक्षयेत् ॥ ३ ॥

भा०:—यदि मार्ग में रथ का पहिया टूट जावे, या रथ हांकने वाला रथ
से गिर जावे, या मार्ग से भिन्न, या पीछे रथ को गिरा देवे, तो इस से अशुभ
होने का सन्देह करके, इस दोष को शान्ति के लिये समी स्थान में अग्नि
स्थापन कर तीन नहाव्याहृति का पाठ कर जाहुति देवे। यह अग्नि पूर्वोक्त
विधानानुसार (प्र० १ खं० १ सू० १५-१९) संगृहीत करने से अच्छा होगा।
यदि किसी कारण ऐसा न हो, तो चाहे जिस प्रकार का ही, क्षति नहीं।
पीछे पहिया, या दूसरी सवारी मिलने पर 'य ऋतेचिदभिश्चिपे (मा० छ०
आ० ३, २, १, २)' ऋद्धमूलकसाम (गे०गा० ६, २, २२) गान करके होमावशिष्ट
पूत, उस चक्रादिक के उचित स्थान में लगा देवे ॥ ३ ॥

वामदेव्यं गोत्राऽऽरोहेत् प्राप्तेषु वामदेव्यम् ॥ ४, ५ ॥

परिवेशयेत् (२०) । ' भुक्त्वा ' स्वभोजनानन्तरम् ' उच्छिष्टं ' तत्र ' यध्यै ' तस्यै ' प्रदाय ' यद्यार्थं ' यथाप्रयोजनं ' विहरेदिति शेषः (२१) ॥ १७-२१ ॥

भा०:-अत्र प्राये हुए नये पति एवं भार्या के भोजन की व्यवस्था कही जाती है ।-पहिला दिन तो ' अर्घ्या ' के आस्यादन में उन की तृप्ति हो सकती, दूसरे दिन वधू अहन्धती नक्षत्र के देखने पर्यन्त व्याकुल रहेगी, विशेषतः मार्ग में दूसरे के घर पर ऐसी व्याकुलता में पाक की सान्ग्री होनी भी कठिन होगी; यदि हो तो उमी दिन, अन्यथा, उस के दूसरे दिन प्रभात होने ही से, अपना अच्छे प्रकार भोजन योग्य पाक प्रस्तुत करे । पाक प्रस्तुत होने पर, अग्नि, प्रजापति, विश्वेदेवा, और अनुमति देवता क्रम से आराध्य होंगी । उस के अनन्तर अपने खाने योग्य दूसरे पात्र में ढाल कर 'अन्न पात्रेन भणिना' इस मन्त्र को पढ़ कर 'परिवेशन' कर भोजन करे । पीछे खाने पर बचे अन्न वधू को देकर स्वयं पषेच्छ विचरणा करे ॥ १७-२१ ॥

गौर्दक्षिणा ॥ २२ ॥ ३

अस्य कर्मणः ' दक्षिणा ' गौः एकेति ॥ २२ ॥ ३

इतिसागवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेद्वितीयखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम् ॥ २३

भा०:-इस विवाह कार्य में दक्षिणा एक गौ देवे ॥ २२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के तीसरे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ २३ ॥

—:—

यानमारोहन्त्याथ सुक्रिथं शुक्रथं शाल्मलिमित्येतामृचं जपेत् ॥ १

' यानं ' रथादिकम् ' आरोहन्त्या ' तस्यां वध्वा सुक्रिथं शुक्रथं शल्मलिं विश्वरूपं सुयर्णवर्णं सुकृतं सुचक्रम् । आरोह सूर्यं असृतस्य नाभिं स्वोर्न परमे बहत्तुं कृणुष्व ॥ ११ ॥ (न० ब्रा० १, ३, ११) - ' इत्येताम् अर्घं ' जपेत् ' पतिरिति शेषः । १

भा०:-पति के घर जाने के लिये वधू को रथ आदि सवारी पर विठलावे एवं वधू के चढ़ते समय पति ' सुक्रिं शुक्रं शाल्मलिं ' यह मन्त्र पढ़े ॥ १ ॥

अध्वानि चतुष्पथान् प्रतिमन्त्रयेत् नदीश्च विपमाणि च महावृक्षाञ्छूमाशानञ्च मा विदन् परिपन्थिन इति ॥ २ ॥

' अध्वानि ' पथि ' चतुष्पथान्, नदीश्च ' विपमाणि ' च ' सद्भूटस्थानानि ' च, ' महावृक्षान् ' रमशानं ' च ' प्राप्य " मा विदन् परिपन्थिनो या आसीदन्ति दम्पती सुगेभि दुर्गेनतीता सपद्रान्त्वरतयः " ॥ १२ ॥ (न० ब्रा० १, ३, १२) - ' इति

भा०-पश्चात्, पति उस वधू के गोद में दिये हुए बालक को उठा कर 'इहृष्टि' प्रभृति आठ यजुर्वेद के मन्त्रद्वारा ध्रुव नाम से प्रसिद्ध आठ आहुति, अन्य तन्त्र से प्रदान करे ॥ १० ॥

समाप्तासु समिधमाधाय यथावयसं गुरुन् गोत्रेणाभि-
वाद्य यथार्थम् ॥ ११ ॥ ४.

'समाप्तासु' ध्रुवाहुतिषु 'समिधम्' तत्राग्नौ अमन्त्रकमेव 'आधाय' प्रदाय 'यथावयसं' वयोऽनुसारेणोत्तरोत्तरं गुरुन् मान्यान् तत्रोपस्थितान् 'गोत्रेण' गो-
त्रोच्चारणपूर्वकम् 'अभिवाद्य' पादग्रहणेनप्रणम्य 'यथार्थम्' स्वप्रयोजनानुसारतो-
विहरेत् ११ । ४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् २, ४
भा०-उक्त ध्रुवाहुति पूरी होने पर, उसी अग्नि में बिना मन्त्र पढ़े एक
समिधा डालकर पश्चात् उस स्थान में उपस्थित गुरु गण (मान्य लोगों) के
वयसानुसार अर्थात् बड़ी उमर वाले पहिले, पीछे छोटी उमर वाले को इस
क्रमसे घेर पकड़ कर अभिवादन करे और साथ २ अपना गोत्रभी कहता जावे ॥११॥
गोभिलगृह्यसूत्रकेद्वितीयअध्यायकेचतुर्थखण्डकाभाषानुवादपूरादुआ २, ४ ।

—:०:—

अथातश्चतुर्थीकर्मम् ॥ १ ॥

'अथ' अनन्तरम्, 'अतः' इतश्चाभ्य 'चतुर्थीकर्मम्' विवाहारात्रितः चतुर्थ्यां
तिथौ करणीयम् वध्मीति शेषः ॥ १ ॥

भा०-इसी प्रकार विवाह की रात्रि से तीन रात्रि धीतने पर चतुर्थ
दिन में जो २ कार्य करने होंगे उन्हीं का वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

अग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुतीर्जुहोत्यग्ने प्राय-
श्चित्त इति चतुरग्नेः स्थाने वायुचन्द्रसूर्याः समस्य पञ्चमीं
बहुवदूह्याहुतेराहुतेः स्तुवसम्पातमुदपात्रेऽवनयेत्तेनैनाथ्सकै-
शनखामभ्यज्य हासयित्वा प्लावयन्ति ॥ २-६ ॥

'अग्निम्' 'उपसमाधाय' "अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्ति रसि
ब्राह्मणस्त्या नाथकाम उपधावामि यास्याःपापी लक्ष्मी स्तानस्या अपजहि ॥१॥
वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्या नाथकाम उपधावा-
मि यास्या पतिभी तनूस्ता मस्या अपजहि ॥२॥ चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां
प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्या नाथकाम उपधावामि यास्या अपुज्यातनूस्ता मस्या

ततः वामदेव्यं वामदेव्यनामकं साम 'गीत्वा' 'आरोहेत्' पुनरपि रथादि यानं, पतिः वधूसहितः(४)। 'प्राप्तेषु' स्वगृहेषु पुनरपि 'वामदेव्यं' गायेदिति शेषः॥४,५॥

भा०—सवारी के दीप दूर होने और दूसरी सवारी आ जाने पर। उस में वधू सहित पति के उठते समय 'वामदेव्यं सामगान' करे और पीछे अपने घर आने पर सवारी से उतरते समय भी 'वामदेव्यं' गान करे ॥ ४, ५ ॥

गृहगतां पतिपुत्रशीलसम्पन्ना ब्राह्मण्योऽवरो प्यानहुहे चर्मण्युपवेशयन्तीह गावः प्रजायध्वमिति तस्याः कुमारमुपस्थ आदध्युस्तस्मै शकलोदानञ्जलावावपेयुः फलानि वा ॥६-९॥

ततः 'गृहगतां' पतिभवनद्वारोपनीयां तां वधूं 'पतिपुत्र-शीलसम्पन्नाः' 'ब्राह्मण्यः' तस्मात् यानात् 'अवरोप्य' अवतार्य 'आनहुहे चर्मणि' पातितगोचर्मोपरि "इह गावः प्रजायध्वमिहाश्व इह पूरुषः। इहो सहस्र दक्षिणोपि पूया निपीदतु" ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ३, १३) - 'इति' मन्त्रं पठन्त्याः ता एव तां तत्र 'उपवेशयन्ति' (६) । तस्याः 'उपस्थे' क्रोडे ता एव ब्राह्मण्यः 'कुमारम्' यं कमपि 'आदध्युः' स्थापयेयुः (७) । 'तस्मै' कुमाराय क्रीडार्थं 'शकलोदानं' कर्तृमनिर्मितसुपक्वगोलकान् क्रीडनकान् 'अञ्जली' 'आवपेयुः' प्रदद्युः (८) । 'वा' अथवा 'फलानि' आम्रादीनि आवपेयुरित्येव (९) ॥ ६-९ ॥

भा०—इस के बाद पति के घर के द्वार पर लायी हुई उस वधू को, पति पुत्र वाली और शील सम्पन्ना ब्राह्मणी गण, सवारी से उतार कर 'इह गावः प्रजायध्वं' इस मन्त्र को पढ़ कर विद्याए हुए गो-चर्म के ऊपर उसे विठलावे। ६। उस वधू के गोद में उन्हीं ब्राह्मणी गण में से, कोई एक हो, एक लड़के को अर्पण करे। ७। और उस बालक की अञ्जलि में कई एक मही का थना सुन्दर अग्निपक्व (गेन्द के समान) खेलने के लिये देवे। ८। या खाने के लिये आम्र आदि मधुर फल भी दे सकते हैं। ९। ६-९ ॥

उत्थाप्य कुमारं ध्रुवा आज्याहुतीर्जुहोत्यष्टाविहधृतिरिति ॥१०॥

ततश्च तस्याः उत्तमङ्गतः 'कुमारं' पूर्वदत्तम् 'उत्थाप्य' 'ध्रुवाः' ध्रुवनान्तः प्रसिद्धाः 'अष्टौ' सङ्ख्याकाः 'आज्याहुतीः' आज्यतन्त्रेण आहुतीः "इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्ति रिह रमस्व मयि धृतिर्नयि स्वधृतिर्नयि रमो मयि रमन्व ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १, ४) - 'इति' एतत्प्रभृतिभिरष्टाभिर्जुभिः यथाक्रमतः जुहोति जुहुयात् पतिः ॥ १०

‘कृद्ध्यं त्रिरात्रात् सम्प्रदानरात्रितः त्रिरात्रेऽतीते ‘सम्भवः’ सम्भवति गर्भाऽस्मादिति सम्भवः सङ्गमः ‘इति’ एवम् ‘एके’ केचिदाचार्याः आहुः । एवञ्च विवाहात् प्राग् दृष्टरजस्काया ऋतुमत्या नवोढायाः पतिगृहे आद्यर्तुप्रकाश-मनपेक्षैव तस्यां चतुर्थ्या मेव रात्रौ गर्भाधानाय सङ्गमः कार्यः इत्येव केपाञ्चि-दाचार्याणां मतम् (७) गोभिलस्य स्वप्नते तु,—नवोढा पत्नी पतिगृहं समागत्य ‘यदा’ पुनः ‘ऋतुमती’ सती ‘उपरत-शोणिता’ शोणितवेगप्रवाहशून्या ‘भवति’ भवेत् ‘तदा’ तस्मिन्नेव पतिगृहागताद्यर्तुकाले सम्भवकालः * (८) ॥ इति गतं चतुर्थीकर्म, समाप्तञ्च विवाहप्रकरणम्, निर्णीतथाद्यगर्भाधानकालः ॥ ७, ८ गर्भाधानप्रकारमाह,—

भा०—‘सम्प्रादन रात्रि से तीन रात्रि ब्रह्मचर्यं में व्यतीत कर’ उस के अनन्तर चतुर्थ रात्रि में स्त्री प्रसङ्ग करे—यही कई एक आचार्यों का मत है । इस से उन लोगों के मत में विवाह के पूर्व ही दृष्ट रजस्का, ऋतुमती नवोढा के गर्भाधान पक्ष में, पुनः पति के घर में ऋतु-प्रकाश की अपेक्षा नहीं ॥ ७ ॥ किन्तु गोभिलाचार्य का यह स्वकीय मत नहीं है, इन के मत से नवोढा पत्नी, तपि के घर पर आने से पुनः ऋतुमती होने पर जिस समय उस का शोणित वेग (भासिकधर्म) न्यून होगा, वही पति के घर पर प्रकाशित आद्य ऋतु प्रथम सङ्गम काल होगा ॥७॥ चतुर्थी कर्म शेष हुआ और विवाह प्रकरण भी पूरा हुआ ॥

दक्षिणेन पाणिनोपस्थमभिमृशेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्ये-
तयर्ज्ञागर्भन्धेहिसिनीवालीतिचसमाप्यर्ज्ञीसम्भवतः । ९, १० । ५

प्रथमतः पतिः “विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिथंशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते” ॥६॥ (मं० ब्रा० १ । ४ । ६) ‘इत्येतयर्ज्ञां, “गर्भन्धे हिसिनीवालि गर्भन्धेहि सरस्यति । गर्भन्ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ” ॥७॥ (मं० ब्रा० १, ४, ७) —(मं० ब्रा० १, ४७) —‘इति च मन्त्राभ्यां स्वकीयेन ‘दक्षिणेन हस्तेन’ उपस्थं पत्न्याः प्रजननदेशम् ‘अभिमृशेत्’ (९) । ‘ऋधौ’ पूर्वोक्ते ‘समाप्य’ पाठेन मननेन अभिनर्शनफलदर्शनेन च ततः ‘सम्भवत’ मिथः सङ्गमं कुरुतः दम्पतीति (१०) । गतं गर्भाधानम् ॥ ९, १० ॥ ५

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेषुमखण्डस्यव्याख्यानसमाप्तम् २, ५

भा०—पहिले पति, “विष्णुर्योनिं कल्पयतु” ऋक् एवं ‘गर्भन्धेहि सिनी-वालि’ ‘यह’ ऋक् पाठ कर पत्नी की योनि प्रदेश मार्जन करे । इन्हीं दो

* अनप्य वक्ष्यति स्त्रीयं “मानुरमपिण्डानश्रिवा तु धेष्ठा, —इति शारकर्मणि अनश्रिवाया प्य प्रारत्त्यम् । परिशिष्टे च “ऋतुमती स्वनशिका ता प्रपद्येत्पुनश्चिकायम्, —इति गृह्यम् ॥

अपजहि ॥ ३ ॥ सूर्यं प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथ-
 काम उपधावामि यास्या अवश्यातनूस्ता मस्या अपजहि ॥ ४ ॥ अग्निवायु
 चन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्य ब्राह्मणो वो नाथकाम
 उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीर्या पतिघ्नी या पुत्र्या या पाशव्या ता अस्या
 अपहत ॥५॥ (म० ब्रा० १, ४ १)—'इति' एभिर्मन्त्रैः पतिः 'घतुः' सङ्ख्याः
 प्रायश्चित्ताहुतीः' प्रायश्चित्ताय वधूपापप्रशमनाय आज्यतन्त्रेण आहुतीः 'जुहो-
 ति' जुहुयात् (२) । सत्र च द्वितीयादिषु तिसृष्वहोतिषु 'अग्ने'—इति पदस्य
 स्थाने क्रमेण 'वायुचन्द्रसूर्याः' ऊह्याः (३) । किञ्च 'पञ्चमीम्' 'समस्य' सर्वस्य
 आहुतीम् अग्न्यादिपदचतुष्टयस्य मेलनेन 'अग्निवायुचन्द्रसूर्याः'—इत्येवं सम्बुध्य
 अपिच 'बहुवद् ऊह्य' एकवचनस्थाने बहुवचनप्रयोगेण मन्त्रपाठं विपरिणम-
 य्य जुहुयादित्येव (४) । 'आहुतेराहुतेः' प्रत्याहुतेरेव 'स्रुवस्रुपातं' अवशिष्ट
 घृतधाराम् 'उदपात्रे' घमसे 'अचनयेत्' स्थापयेत् (५) । 'तेन' रक्षितसम्पात-
 समुदायेन 'एनां' वधू 'सकेशनखां' आपादमस्तकां सर्वतएव 'अभ्यज्य' स्रुयि-
 त्वा 'ह्रासयित्वा' यानागमनादिजनितक्लेशान् शरीर व्यथारूपान् लाघवयित्वा
 'आलावयन्ति, प्रवाहादिषु सन्तरणादिना स्नापयेयुः सख्यादयः स्वजना
 इति यावत् (६ ॥ २-६ चतुर्थीरात्रिकर्तव्यं गर्भाधानमाहः—

भा०—पति, पत्नीके पूर्वकृत पाप के प्रायश्चित्त के लिये अग्नि स्थापन कर
 'अग्नेप्रायश्चित्ते' इन मन्त्रों द्वारा आज्य तन्त्र से चार आहुति देवे (२) उनमें
 से द्वितीय आदि आहुति में इस मन्त्रस्य अग्नि के बदले 'वायु' 'चन्द्र'
 और 'सूर्य' पढ़ना चाहिये, यही इसमें विशेषता है। और पांचवी आहुति में
 'अग्नि', 'वायु', 'चन्द्र' और 'सूर्य' इन्हीं चार देवताओं को एककाल में सम्बो-
 धन करे, सुतरां मन्त्रस्य जितने एक वचन हैं, उन सब को बहु वचन करके
 पढ़े । ४ । इन पांच प्रायश्चित्त आहुति की प्रत्येक आहुति के अन्त में
 घृत के धारणापात क्रमसे घम से में रक्षित रखते । ५ । इस रक्षित आज्य के द्वारा
 उस वधू के पैर से मस्तक तक सर्वाङ्ग में अच्छे प्रकार लगा देवे, उस से मार्ग
 की यकावट दूर होगी, पीछे सखी आदि मिल कर नदी आदि की धारा में
 तेरने रूप जल क्रीड़ा आदि करके नई बहू को स्नान करावे ॥ ६ ॥ २-६ ॥
 इस के अनन्तर चतुर्थीरात्रि में कर्तव्य गर्भाधान की व्यवस्था कही जाती है ॥

ऊर्द्धं त्रिरात्रात् सम्भव इत्येके यदर्त्तुमती भवत्युपरतशी-

णिता तदा सम्भवकालः ॥ ७, ८ ॥

और अर्थात् उस को गोद में लेकर पति भी बैठे । उस के अनन्तर दहिने हाथ से वधू के दक्षिण कांधा अपने गोद की ओर कुछ ऊपर को खींचकर रखे, और बायें हाथ से उस के कांधनी को खोल कर उस के नाभि प्रदेश को अच्छे प्रकार स्पर्श करे और झूते समय 'पुमां भी मित्रा वरुणौ, इस ऋद्धमन्त्र से स्मरणीय देवताका स्मरण करे । उसके बाद स्वेच्छया विद्यरे॥२-४॥

अथापरम् ॥ ५

'अथ' तत्कालान्तरम् 'अपरम्' अपि एकमस्ति कार्यं पुंसवनस्येति । तदपि पूर्वोक्तकालान्तरम् [सू० १] एव कर्तव्यं परं यस्मिन् दिने नाभिमर्शनं कृतं तस्मिन्नेव, तत्परदिने, तत्पर परदिने वेति नायं नियमः । ५। किन्तु-दपरं कार्यमिति स्फुटयति,-

भा०:-इस नाभिमर्शन काव्य के पीछे पुंसवन संस्कार करने में एक काव्य होता है वह भी पूर्वोक्त ही कालमें होगा । (सू० १) किन्तु जिस दिन नाभि-मर्शन हो उसी दिन, या उस के दूसरे तीसरे दिन करे इस का नियम नहीं ॥ ५ ॥

प्रागुदीच्यां दिशि न्यग्रोधगुह्यासुभयतः फलामक्षामा-
मकृमिपरिसृष्ट्वां त्रिःसप्तैर्यवैर्मापैवर्वा परिक्रीयोत्थापयेद्य-
द्यसि सौमी सोमाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वारुणी
वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि यद्यसि वसुभ्यो वसुभ्य-
स्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि रुद्रेभ्यो रुद्रेभ्यस्त्वा परिक्रीणामि
यद्यसि मरुद्भ्यो मरुद्भ्यस्त्वा परिक्रीणामि यद्यसि विश्वे-
भ्यो देवेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा परिक्रीणांभ्योपधयः सुम-
नसो भूत्वाऽस्यां वीर्यं समाधत्तेयं कर्म करिष्यतीत्युत्थाप्य
तृणैः परिधाय हृत्य वैहायसीं निदध्याद्दृष्टुं पदं प्रक्षाल्य ब्रह्मचारी
व्रतवती वा ब्रह्मवन्धूः कुमारी वाऽप्रत्या हरन्ती पिनाष्टि प्रातः
सशिरस्क्राऽऽप्सु नोदग्रेषु दर्भेषु) पश्चादग्ने रुदग्रेषु दर्भेषु
प्राक्शिराः संविशति) पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणस्य पाणे-
रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसद्गृह्य दक्षिणे
नासिकास्रोतस्यवनयेत् पुमानग्निः पुमानिन्द्र इत्येतयर्थाथ
यथार्थम् ॥ ६-१२ ॥ ६

ऋचाओं का पठन, मनन और उस के साथ अभिमर्शन फल दर्शन होने पर दोनों सङ्गम करे * ॥ १० ॥

गोभिलगृहसूत्र के द्वितीय अध्याय के पांचमे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ । २५।

—:०:—

५. तृतीयस्य गर्भमासस्यादिसदेशे पुंश्वनस्य^१कालः ॥१

‘गर्भमासस्य तृतीयस्य’ गर्भमाससम्बन्धितृतीयस्य मासस्य ‘आदिसदेशे’ आद्यर्द्धस्य प्रथमपक्षस्येति यावत् सदेशे समीपे अष्टम्यभ्यन्तरे एव व्यवहारः ‘पुंसवनस्य’ संस्कारविशेषस्य ‘कालः’ ज्ञातव्यवति शेषः । १ पुंसवनप्रकारमाह;—
भा०:—जिस मास में गर्भाधान हो, उस मास से तीसरे मास के आदि पक्ष के निकट ही अर्थात् अष्टमीके भीतर पुंसवन नामक संस्कार काल जानो ॥१॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदगग्रेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्ववमृश्यानन्तर्हितं नाभिदेशमभिमृशेत् पुमाथ्सौ मित्रावरुणावित्येतयर्च्चाथ यथार्थम् ॥२-४॥

‘प्रातः’ समये ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उपनीता बधूः ‘सशिरस्काऽऽप्लुता’ शिरः प्रभृतिसर्वाङ्गजलसिक्ता स्नाता सती ‘अग्नेः’ ‘पश्चात्’ पश्चिमस्या दिशि तथैव ‘प्रागग्रेषु’ दर्भेषु पातितेषु उपरि ‘प्राची प्राङ्मुखी पुरतोऽग्निं कृत्विति फलितम् ‘उपविशति’ उपविशेत् (२) । ततः पश्चात् ‘पतिः’ ‘अवस्थाय’ तां बधू क्रीड़ी कृत्विति यावत्, ‘दक्षिणेन पाणिना’ तस्याएव वध्वाः ‘दक्षिणम् अंसम्’ ‘अन्ववमृश्य’ किञ्चिदुत्तानायथास्यात्तथा पश्चादाकृष्य “पुमाथ्सौ मित्रावरुणौ पुमाथ्सौव-श्विनावुभौ । पुमानग्निश्च वापुश्च पुमान् गर्भस्तद्योदरे” ॥८॥ (म०ब्रा०१.४.८)”—इति एतया ऋचा स्नत्तव्यं देव संस्मरन् तस्याएव ‘नाभिदेशम्’ ‘अनन्तर्हितं’ यस्माद्यावरणशून्यं प्रकृत्य ‘अभिमृशेत्’ विशेषेण स्पृशेत्, शेषेण सव्येनैव हस्तेनेति गम्यते (३) । अथ तदनन्तरं ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेत् सः (४) ॥ २-४

भा०:—प्रातःकाल उत्तराय कुश सन पर उस तीन मास की गर्भवाली बधू को बैठावे एवं मस्तक आदि सर्व शरीर जल में आप्लुत कर अग्नि के पश्चिम और दायीं हुए उत्तराय कुश के आसन पर बैठावे, और उस के पीठ की

* यह समाधान मेस्वर आश्वलायन, आपतम्ब, वात्स्यायन प्रभृत गृहसूत्र वारों के मत से ऋतु मती क्या के विवाह के पीछे चौथी राति में मा हो सकता है । परन्तु गोभिलाचार्य के मत से वैसा क्या के विवाह के पीछे पति के घर फिर रजोदर्शन होने पर, उसी आद्य ऋतु अनिषिद्ध बाल में वक्तव्य है । गर्भ ग्रहण बाल मालूम हो जाने पर प्रतिगम के आधान बाल ग वर मरवाव करे, अतः पति के घर पहिले रजो दर्शन में तो अवश्य करे ।

(१०) । ततः 'पश्चात्' पतिः 'अवस्थाय' 'दक्षिणस्य' पाणोः 'अङ्गुष्ठेन' 'उपक
निष्ठकया' अनामिकया 'अङ्गुल्या' अङ्गुष्ठानामिकाभ्यामिति यावत् 'अभि'
अभितः सर्वतोव्याप्य 'संगृह्य' तत् पिष्टशुङ्गारसं' तस्या वध्वाः 'दक्षिणे' 'नासि-
कास्त्रोत्सि' नासिकारन्ध्रे 'अवनयेत्' अवतिपेत् आघ्रापयेद्वा; "पुमानग्निः
पुमानिन्द्रः पुमान्देवो गृहस्पतिः । पुमाथंसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्" ॥९॥
(म० ब्रा० १, ४, ९) - 'इति' एतया ऋचा' इष्टं संस्मरन्निति शेषः (११) । अथ
अनन्तरं 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः (१२) ॥ गतमिदं पुंसवनकर्म ॥ ६-१२ ॥ ६
इति सामवेदीये गोभिलशुद्धसूत्रे द्वितीयप्रपाठके पष्ठखण्डस्य ट्याख्यानां समाप्तम् ॥ २६

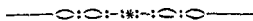
भा०:-इशान कोण में जो कोई वड़ का वृक्ष हो, उस से शुङ्ग,
वृक्ष के स्वामी को २१ यव, या २१ उड़द मूल्य देकर (खरीद कर) उसे तोड़े।
इस शुङ्ग के दोनों ओर फल होना "चाहिये, वह सूखा न हो और उस में
कीड़े लगे न हों। ६। इस शुङ्ग के मोल लेते समय ७ मन्त्रों का पाठ कर जैसे;
हे शुङ्गे ! तुम यदि सोम देवता का प्रिय हौ, तो उस राजा की प्रीति के लिये
ही तुम को मोल लेता हूँ। १। तुम यदि राजा वरुण देवता का प्रिय
हौ, तो उसी वरुण राजा के प्रीत्यर्थ तुम्हें मोल लेता हूँ ॥२॥ तुम यदि आठो
वसु का प्रिय हौ, तो उन्हीं वसुओं की प्रीति के लिये तुम्हें मोल लेता हूँ
। ३। यदि एकादश रुद्रगण का प्रिय हौ, तो उन्हीं ग्यारह रुद्रों के प्रीत्यर्थ
तुम्हें मोल लेता हूँ। ४। 'यदि तुम बारह आदित्य गण के प्रिय हौ,
तो उन्हीं बारह आदित्य गण की प्रीति के लिये तुम्हें मोल लेता हूँ। ५।
'यदि तुम ४९ सरुद्र गण का प्रिय हो, तो उन्हीं ४९ सरुद्रगण की प्रीति के
लिये तुम्हें मोल लेता हूँ ॥ ६ ॥ 'यदि तुम विश्वे देवा देवगण का प्रिय हौ,
तो उन्हीं विश्वेदेवा गण की प्रीति के लिये तुम्हें मोल लेता हूँ" ॥ ७ ॥ तत्प-
श्चात् इन मन्त्रों को पढ़ कर उस शुङ्ग को वृक्ष से उखाड़, या तोड़ लेवे यह कह
कर कि हे श्रीपथि गण ! तुक सब प्रसन्न होकर इस वधू में वीर्य साधन करो, जिसे
यह वधू कष्ट रहित होकर गर्भ प्रसव करे उस। उखाड़े हुए शुङ्ग को पृष्ठा
से ढाक कर अमरवेल, या सूक्ष्म जटामांसी संग्रह कर इस की रक्षा करे
॥ ८ ॥ अनन्तर शिल (पेपयाधारशिला) को अच्छे प्रकार धोकर उस में
कोई ब्रह्मचारी (जो गृही ऋतु काल ही में अपनी भार्त्या के पास गमन
करता हो, ऐसे गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी कहते हैं) या कोई पति व्रता,
या ब्राह्मण वंश की कोई कुमारी, उसे अविश्राम हो पीसे। अर्थात् पीसते
समय ही ओषधि का सब गन्ध हवा द्वारा सींच न जाये इस लिये शीघ्र पीस

‘प्रागुदीच्यां’ ऐशान्यां दिशि सञ्जातां ‘न्यग्रोधशुङ्गां’ न्यग्रोधस्य घटस्य शुङ्गां
 अस्फुटितपत्रमिति यावत् ‘त्रिः सप्तैः यवैर्माषैर्वा’ एकविंशतिमाषान् एकविंशति-
 यवान् वा वृक्षस्वामिने मूल्यं दत्त्वा तत्सकाशात् ‘परिक्रीय’ ‘उत्थापयेत्’ । शुङ्गां
 विशिनष्टि—‘उभयतः फलाम्’ यस्या उभयोः पार्श्वयोरेव फले विद्येते तादृशीः
 किञ्च ‘अस्तामाम्’ अस्तानाम्, किञ्च ‘अकृमिपरिसृष्टां’ कृमिभिः पत्रकीटैः परि-
 सृप्ता परिव्याप्ता, अतादृशीम् (६) । तत्परिक्रयणमन्त्राः सप्त । तानाहः—हे
 शुङ्गे ! त्वं यदि ‘सौमी’ सोमदेवतायाः प्रिया ‘असि’ तर्हि ‘सोमाय राज्ञे’ सोम-
 राजप्रीत्यर्थमेव ‘त्वा’ त्वां ‘परिक्रीणामि’ १ । त्वं ‘यदि’ ‘वारुणी’ वरुणादेव-
 तायाः प्रिया ‘असि’ तर्हि तस्मै ‘वरुणाय राज्ञे’ एव ‘त्वा’ परिक्रीणामि २ ।
 त्वं ‘यदि’ ‘वसुभ्यः’ वसुष्टकानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘वसुभ्यः’ एव
 ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ३ । त्वं ‘यदि’ ‘रुद्रेभ्यः’ रुद्राणामेकादशानां प्रीत्यर्थमेवो-
 त्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘रुद्रेभ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ४ । त्वं ‘यदि’ ‘आदित्येभ्यः’
 द्वादशादित्यानां प्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘आदित्येभ्यः’ एव ‘त्वा’
 ‘परिक्रीणामि’ ५ । त्वं ‘यदि’ ‘मरुद्भ्यः’ एकोनपञ्चाशतां मरुतां प्रीत्यर्थमेवोत्प-
 न्ना ‘असि’ तर्हि ‘मरुद्भ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परिक्रीणामि’ ६ । ‘यदि’ ‘विश्वेभ्यो देवेभ्यः’
 सर्वदेवप्रीत्यर्थमेवोत्पन्ना ‘असि’ तर्हि ‘विश्वेभ्यो देवेभ्यः’ एव ‘त्वा’ ‘परि-
 क्रीणामि’ ७ । इति सप्त परिक्रयणमन्त्राः (७) । अथोत्थापनमन्त्रः ;—हे
 ‘ओषधयः’ ! यूयं ‘सुमनसः’ प्रसन्नाः सन्तः ‘अस्यां’ वध्यां ‘वीर्यं समाधत्त’ वीर्यस-
 माधानं कुरुत, किन्निमित्तमित्याह—‘ इयं’ वधूः ‘ कर्म’ गर्भप्रसवनं ‘ करिष्यति’
 ततएव वीर्यस्य प्रयोजनम् ; ‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘उत्थाप्य’ ताः ‘तृणैः’ यथा-
 लभ्यैः ‘परिधाय’ वेष्टयित्वा ‘वैहायसीं’ आकाशसम्बन्धिनीं लतामंभरवलेति
 प्रसिद्धाम् ‘ आहृत्य’ तदुपरि ‘ निदध्यात्’ स्थापयेत् (८) । ततश्च ‘दृपदं’
 शिलापट्टकं ‘प्रक्षाल्य’ अपरवस्तुकणासंसर्गं यथान स्यात् प्रक्षालनेनैवं विधाय तत्र
 ‘ब्रह्मचारी’ ऋतावन्यत्र स्वभाषायां यानपि यो न सङ्गच्छते सः, ‘व्रतवती वा’
 पातिव्रत्यं व्रतं यया पाल्यते विशेषेण सा, ‘ब्रह्मबन्धुः’ ब्राह्मणजातीया ‘कुमा-
 री वा’ अनूढा ब्राह्मणकन्येति यावत् ‘अप्रत्याहरन्ती’ प्रत्याहारस्त्यागस्तमकु-
 यन्ती अविश्रामेणैव ऋटित्वेवेति यावत् अन्यथा वाट्वादियोगात् ओषधिवीर्यं
 नष्टं स्यादेव ‘पिनष्टि’ पेपणं कुर्यात्, ताः शुङ्गाः इत्यर्थादागतम् उपलेनेति च
 (९) । ततश्च ‘प्रातः’ ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उपस्थिता सा वधुः ‘सशिरस्का आप्रुता’
 सती, ‘अग्नेः’ ‘पश्चात्’ पश्चिमस्यां दिशि ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ पातितेषु ‘प्राक्-
 शिराः’ पूर्वदिग्गतमस्तका भवन्ती ‘संविशति’ संवेशनमदृश्यनमिश्रोपवेशनं कुर्यात्

‘प्रातः’ पूर्वाह्ण, ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ उत्तराग्रीकृतपातितकुशासने उपविष्टा सती ‘सशिरस्का आप्लुता’ स्नाता भवती ‘अग्नेःपश्चात्’ ‘उदगग्रेषु दर्भेषु’ ‘प्राची’ प्राङ्मुखी ‘उपविशति’ (३) । ‘पतिः’ तस्या वध्वाः ‘पश्चात्’ ‘अवस्थाय’ ‘युग्मन्तम्’ युग्मानि फलानि यस्मिन् तादृशम् ‘श्रौदुम्बरम्’ उदुम्बरगुच्छं शलाटुप्ररनम्’ शलाटुनामफलविशेषस्य स्तवकञ्च “अथ मूर्जावती वृक्ष ऊर्जाव फलिनी भव । पूर्णं वनस्पतेर्जन्तवानुत्वा सूयताश्रयिः” ॥१॥ (म० ब्रा० १, ५, १) इति’ इमं मन्त्रमुच्चरन् ‘आवध्नाति’ वध्वाः मस्तके कण्ठे वाहौ कट्यां नाभीं अञ्चले वेति न नियमः (४) । ‘अथ’ अनन्तरम् । ‘सीमन्तम्’ केशरचनाविशेषम् ‘ऊर्ध्वम् उन्नयति’ उन्नयेत् पतिरेव । तत्र ‘ दर्भपिण्डजूलीभिः ’ शुष्कैः गर्भसारैश्च कुशसमूहैः ‘ भूः’-‘इति’ मन्त्रेण ‘प्रथमम्’ उन्नयनम्; ‘भुयः’-‘इति’ मन्त्रेण ‘द्वितीयम्’ उन्नयनम्, ‘स्वः’-‘इति’ मन्त्रेण तृतीयम्’ उन्नयनम्’ (५) । ‘वीरसरेण’ शरवृणविशेषेण “येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सीमगाय तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि” ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ५, २)-‘इत्येतया ऋचा’ च सीमन्तमूर्ध्वमुन्नयति पतिः (६) । ‘अथ’ तदनन्तरम् “राकामहश्चं सुहवां सुष्टुतीहुवे ऋणुत नः सुभगा वोधतु आत्मना । सीव्यत्वपः सूच्या च्छिद्यमानया ददातु वीरश्चं शतदायुमुख्यम्” ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ३)-‘इत्येतया ऋचा’ ‘पूर्णाचात्रेण’ सूत्रपूर्णातर्कुणा सीमन्तोन्नयनम् (७) । ‘च’ किञ्च “ यंस्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुपे वसूनि । ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्र पोषश्चुभगे रराया” ॥४॥ (म० ब्रा० १, ५, ४)-‘इति’ मन्त्रं पठन् पतिः ‘ त्रिश्वेतया ’ त्रिपस्थानेषु श्वेतवर्णया ‘ शलस्या ’ शङ्खकी-कण्ठकेन सीमन्तमूर्ध्वमुन्नयेत् (८) । ततश्च; ‘स्थालीपाकः’ स्थाल्यां पक्कः ‘उत्तरघृतः’ पाकान्ते घृतमिश्रितः ‘कूसरः’ तिलतण्डुलसमूहः ‘कूसरः’ इति कूसरलक्षणम्; ‘राम्’ तादृशं कूसरम् ‘अथैन्नयेत्’ दर्शयेत् पत्नी पतिरिति (९) । यदा सा तं पश्यति, तदैव पतिः पृच्छेत् ‘किम् पश्यसि ?-इति’ ‘उक्ता’ पतिर्नैवं पृष्टा सा, “(किं पश्यसि ?)-प्रजां पशून्तसौभाग्यं मत्तं दीर्घायुद् पत्युः” ॥५॥ (म० ब्रा० १, ५, ५)-‘इति’ इमं मन्त्रं ‘वाचयेत्’ पत्नी पतिः (१०) । ‘तं’ कूमरं ‘सा’ वधूः ‘ स्वयं भुञ्जीत ’ (११) । तस्मिन्नेव भोजनकाले ‘ ब्राह्मणयः ’ ‘वीरमूर्ध्वसूर्जावपत्नी’-‘इति’ एवमादिभिः ‘मङ्गल्याभिर्गीर्भिः’ आशीर्वाक्यैः ‘उपासीरन्’ ईश्वरमिति शेषः (१२) । इति सीमन्तोन्नयनम् । ३-१२ ॥

भा०-अथ सीमन्तोन्नयन संस्कार का विधि कहा जाता है, प्रातःकाल उत्तराग्र दिशाये हुए कुग के आसन पर वधू को बैठा कर माथे तक भिंगीकर

लेवे । प्रातःकाल वधू उत्तराय कुशाओं पर बैठ कर माघे तक जल में गोता लगा स्नान कर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराय डाले हुए कुशासन पर पूर्व की ओर शिर कर आधा सोवे (जागता हुआ लेटा रहा) ॥१०॥ पति उस के पीछे रह कर अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुलि द्वारा पीसा हुआ गुड लेकर उस के दहिने नाक के छिद्र में उस का रस डाले, या मूँचावे । उसी समय “पुनानग्निः पुमानिन्द्रः” इस मन्त्र का पाठ करते हुए पति अपने इष्ट का स्मरण करे ।
(११) अनन्तर जहां इच्छाहो भ्रमणकरे यही पुंसवन कर्म है ॥६-१२ । ६ ॥
गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्यायके छठे स डका भाषानुवाद पूराहुआ ॥२६॥



अथ सीमन्तकरणम् ॥ १

‘अथ’ प्रकरणान्तरं द्योतयति । ‘सीमन्तकरणम्’ नाम कर्म, संस्कारविशेष । तदधिकृत्य वच्नोति । १ । तस्य कालं विधत्ते,—

भा०—अथ ‘सीमन्तोन्नयन’ नामक संस्कार का वर्णन किया जाता है ॥१॥

प्रथमगर्भे चतुर्थे मासि पष्ठेऽष्टमे वा ॥२॥

‘प्रथमे गर्भे’ एष हि संस्कारः प्रथमे एव गर्भे कार्यः न तु प्रतिगर्भम् । तत्र च ‘चतुर्थे पष्ठेऽष्टमे वा मासि’ कुर्यादिति तत्कालविधिः । २ तत्रैतिकर्तव्यतां विधत्ते

भा०—यह सीमन्तोन्नयन संस्कार केवल प्रथम गर्भाधान समय कर्तव्य है इसे प्रति गर्भाधान में करना ठीक नहीं। इस का समय चौथा ‘छठा’ या आठवां मास है ॥ २ ॥

प्रातः सशिरस्काऽऽप्लुतोदगग्रेषु दर्भेषु पश्चादग्नेरुदग-
ग्रेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति पश्चात् पतिरवस्थाय युग्मन्तमौ-
दुम्बरथं शलातुग्रथनमावन्धाति अयमूर्ज्जावतो वृक्ष इत्यथ
सीमन्तमूढध्वमुन्नयति भूरिति दर्भपिञ्जलीभिरेव प्रथमं भुव-
रिति द्वितीयथं स्वरिति तृतीयमथ वीरतरैण येनादितेरित्ये
तथर्चाऽथ पूर्णचात्रेण राकामहमित्येतथर्चा त्रिश्वेतया च
शलल्या यास्ते राके सुमतय इति कृसरः स्थालीपाक उत्तर-
घृत स्तमवेक्षयेत् किम्पश्यसोत्युक्त्वा प्रजामिति वाचयेत्
तं सा स्वयं भुञ्जीत वीरसूर्जोवसूर्जोवपत्नीति ब्राह्मण्यो मङ्ग-
ल्याभिर्वाग् भिरुपासीरन् ॥ ३-१२ ॥

‘अग्निम् परिस्तीर्य’ तत्र, या तिरश्ची निपद्यते अहं धिधरणी इति । तां स्वा घृतस्य धारया यजे सथंराधनी महम् (‘सथंराधन्यै देव्यै देष्ट्र्यै ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० १, ५, ६) - ‘इत्येतपर्चा’, विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्वाता पुनराहरत् । परेहि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम ॥७॥ (म० ब्रा० १, ५, ७) ‘इति’ अनया च ‘आज्याहुती’ आज्यतन्त्रेण आहुतिद्वयम् ‘जुहोति’ जुहुयात् (१५) । अपरस्य ‘अयं’ गर्भः ‘पुमान् जनिष्यते’ चेत् ‘असौ नाम’ - ‘इति’ ‘नामधेयं’ जनिष्यमाण पुत्रास्यां ‘गृह्णाति’ प्रकल्प्य रक्षति (१६) । ‘यत् नामधेयं मनसि निश्चितम्, तत् नामधेयं गुह्यम्’ गोप्यमेव भवति भवेत्, अन्यथा कन्याजाते हासाय स्याच्छ-श्रूयामिति (१७) । गतोऽयं सोष्यन्तीहोमसंस्कारः । १५-१७ अथ जातकर्माच्यते; -

भा०=पूर्वं उपदेश के अनुसार अग्नि स्थापनादि “परिस्तरण” कार्य के पीछे ‘या तिरश्ची’ इस मन्त्र से और ‘विपश्चित् पुच्छमभरत्’ मन्त्र से आज्य तन्त्रद्वारा दो आहुति देवे । (१५) उस समय, - यदि पुत्र जन्म लेवे तो यही नाम रक्खुंगा इस प्रकार मन ही मन एक नाम स्थिर कर रखे । अर्थात् पुत्र की आशा करे (१६) परन्तु उसे प्रकाश न करे । अर्थात् प्रकाश करने से यदि पुत्र न हो तो शत्रु लोग हंस सकते हैं १५-१७ ॥

यदाऽस्मै कुमारं जातमाचक्षीरन्नथ ब्रूयात् काङ्क्षत नाभिकृन्तनेन स्तनप्रतिधानेन चेति ॥ १८ ॥

‘यदा’ यस्मिन् काले प्रसवगृहस्थाः धात्रीप्रभृतयः सर्वे ‘कुमारं जातम्’ - ‘इति’ समाचारम् ‘अस्मै’ पित्रे ‘आचक्षीरन्’ ‘अथ’ तदव्यवहितमेव पिता ‘ब्रूयात्’ - ‘नाभिकृन्तनेन’ नाभिलग्ननाडीच्छेदनेन ‘च’ अपि स्तनप्रतिधानेन स्तनपायनेन एनं पालयितुं ‘काङ्क्षत’ इच्छां कुरुत यूयम् ‘इति’ ॥ १८ ॥

भा०:- इस के अनन्तर जात-कर्म संस्कार होता है जैसे; जिस समय सूतिका गृह में रहनेवाली धाई प्रभृति धोल उठे कि लड़का पैदा हुआ तो इस पर पिता धोले कि ‘नाभि से लगी हुई नाड़ी काटी और स्तन आदि पिला कर रखा करो ॥ १८ ॥

ब्रीहियवौ पेपयेत्तयैवाऽऽवृता यया शुङ्गान्दक्षिणस्य पाणे रङ्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया चाङ्गुल्याभिसङ्गृह्य कुमारस्य जिह्वायां निर्माष्टीयमाज्ञेति तथैव मेधाजननं सर्पिः प्राशये ज्जातरूपेण वादाय कुमारस्य मुखे जुहोति मेधान्ते मित्रा-

ज्ञान करावे । पीछे अग्नि के पश्चिम भाग में विछाये हुये उत्तराय (उत्तर की ओर कुश की चोटी एवं दक्षिण की ओर उस की जड़) कुशासन पर पूर्वाभिमुख उसे बैठावे, पति भी उस के पीछे रहे । अनन्तर यज्ञ गूलर (उदुम्बर) का गुच्छा और एक शलाटुका, उस वधू के अश्रुत में, या शरीर के जिस किसी बान्धने योग्य (कटिके ऊपर) अङ्ग में बान्ध देवे । दोनों गुच्छाओं के बांधते समय 'अयमूर्जांघतो वृक्षः, इस मन्त्र का पाठ करे । उस के पश्चात् सारगर्भ सूखा कुशा समूल निर्मित पिङ्गुलि से उस वधू का केश सम्हारे 'भूः' इस मन्त्र से प्रथम बार, भवः' मन्त्र से द्वितीयवार और 'स्वः' मन्त्र से तृतीय वार सीमन्त के केश आदि पिङ्गुलि द्वारा बढ़ा देवे । 'येनादिते' इस मन्त्र का पाठ करता हुआ जिस 'ग्र' का वाक्य तैयार होता हो उसी ग्र से सीमन्त को बीच से चाँड़ कर शोभायमान करे । 'राकामहम्' इस मन्त्र का पाठ करके जिस, स्याही (शूल की जन्तु) के कांटे में तीन स्थान श्वेत हों ऐसे कांटे से छोटे २ केशों को ऊपर को ठठा देवे । उस के अनन्तर घृत संवरा देकर आग का पका तिल तबहुल उसे देखावे और उस के दर्शन समय उसे पति पूछे कि 'तुम उस में क्या देखती हो ?', इस के उत्तर में वधू बोले कि 'प्रजा' इत्यादि, अनन्तर उस दिन वधू उसी को भोजन करे और उस भोजन करते समय ब्राह्मणीगण इस वधू को 'वीर-प्रसविनी होओ' इत्यादि मङ्गल सूचक वाक्यों से ईश्वरीपासना करे । यही सीमन्तोन्नयन संस्कार है । ३. १२॥

अथ सोप्यन्तीहोमः ॥ १३ ॥

'अथ' प्रकरणान्तरं श्रौतयति । 'सोप्यन्तीहोमः' एतन्नामकश्चापरः संस्कारः कार्यः ॥ १३ । तस्य कालं विधत्ते :-

भा०-इस सीमन्तोन्नयन संस्कार के पीछे 'सोप्यन्ती-होम', नामक और एक संस्कार करना पड़ता है ॥ १३ ॥

प्रतिष्ठिते वस्तौ ॥ १४ ॥

'वस्तौ' योनिप्रदेशे 'प्रतिष्ठिते' गर्भे समुपस्थिते सोप्यन्ती होमः कार्यः इति तत्कालनिर्देशः । १४ तत्रैतिकसंख्यातां विधत्ते :-

भा०-जिस समय प्रभव के द्वार देश में गर्भ आ पड़े उसी समय प्रथात् प्रसव के अव्यवहित (लगेहुए) यह 'सोप्यन्तीहोम' संस्कार करना चाहिये ॥ १४ ॥

परिस्तीर्याग्निभाज्याहुती जुहोति या तिरश्चीत्येतय-
र्त्वा विपश्चित्पुच्छमभरदिति च पुमानयं जनिष्यतेऽसौ ना-
मेति नामधेयं गृह्णाति यत्तद् गुह्यमेव भवति ॥ १५-१७ ॥

जननाद्यस्तृतीयोज्योत्स्नस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं
कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिम्न्यञ्जलिः पितोप-
तिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत
उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्मनुष्यपृष्ठपरिक्रम्योत्तरतोऽव-
तिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रसीयेतपुत्रो
जनित्र्या अधीत्युदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१-५॥

'जननात्' जन्मतः आरभ्य 'यः' 'तृतीयः' 'ज्योत्स्नः' ज्योत्स्नायुक्तः पक्षः,
'तस्य' पक्षस्य 'तृतीयायां' तिथौ 'प्रातः' 'कुमारं' 'सशिरस्कम्' आप्लाव्य 'शिरसि'
जलदानेन स्नापयित्वा 'अस्तमिते' सूर्ये 'वीते' विगते च 'लोहितिम्नि', 'पिता'
कुमारजनकः 'अञ्जलिः' पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जलिः सन् 'उपतिष्ठते'
उत्थितस्तित्ठते (१) । 'अथ' तदनन्तरं 'माता' कुमारप्रसूतिः 'शुचिना' शुभ्रेण
निर्मलेति यावत् 'वसनेन' 'कुमारम्' 'आच्छाद्य' 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां
दिशि गत्वा 'उदञ्चं' उत्तानम् 'उदक्शिरसं' कुमारं 'पित्रे' कुमारजनकाय तस्मि
'प्रयच्छति' प्रयच्छेत् (२) । इत्या च सा 'अनुपृष्ठं' परिक्रम्य स्वपतिपृष्ठदेशे-
नागत्य 'उत्तरतः' उत्तरस्यां सुतरां पत्युर्वागभागे 'अवतिष्ठते' अवस्थिता भवेत्
(३) । 'अथ' दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः "यत्ते सुसीमे
हृदयथं हितमन्तः प्रजापती । वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्र मघं निगाम्" ॥१०॥
यत् पृथिव्या समृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम् । वेदासृतस्याहं नाम माहं पौत्र-
मघथं रिपम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापतिः । यथार्थं न प्रसी-
यते पुत्रो जनित्र्या अधि" ॥१२॥ (म० ब्रा० १, ५, १०-१२) 'जपति' जपेत् (४)
जपित्वा च 'उदञ्चं' उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रसूत्यै 'प्रदाय' प्रदानं कृत्वा
समाप्तं ज्योत्स्नोपस्थानमिति मत्वा 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५) ॥१-५॥

भा०:-जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार
को मस्तक पर्यन्त धोकर स्नान करावे । अनन्तर सूर्योस्त के पीछे अर्थात्
ऐसे समय जब कि सूर्य मगडल की लालिमा पर्यन्त दीख न पड़े, उस नव-
कुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जलि पसार कर सड़ा हो और
नवकुमार की माता उस कुमार को साफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के
दक्षिण और आकार इस बालक को उत्तर शिरा और उत्तानभाव से (चित्त)
उस की अञ्जलि में प्रदान करे। स्वयं अपने पीठ पर होकर वाम दिशा आकर-
गुम्न रूप से अवस्थित हो । पीछे इस बालक के सारे पिता 'यत्ते सुसीमे'

वरुणावित्येतयञ्चासदसस्पतिमद्भुतमिति च कृन्तत नाभि-
मिति ब्रूयात् स्तनञ्च प्रतिधत्तेति ॥ १९—२२ ॥

नाभिकृन्तनात् पूर्वकृत्यमाह,—‘यया’ पूर्वोक्तया ‘आवृता’ परिपाठ्या ‘शुद्धा’
पूर्वोक्ता ‘पेषयेत्’ ‘तथैव’ ग्रीहियधौ पेषयेत् (१९) पिष्टौ च ग्रीहियधौ ‘दक्षिणस्य
पाशोः अद्गुष्ठेनोपकनिष्ठिकया च अद्गुल्या अभिसद्गृह्य’ “इयमाहोद मन्मिद
सांयुरिदनघृतम्” ॥८॥ (म० ब्रा० १, ५, ८)—‘इति’ इमं मन्त्र मुञ्चरन् ‘कुमारस्य’
तस्य ‘जिह्वाया’ ‘निर्नाष्टि’ नियच्छति (२०) । ‘तथैव’ तेनैव प्रकारेण दक्षिणस्य
पाशोः अद्गुष्ठानामिकाभ्या गृहीत्वेति यावत् ‘मेधां ते मित्रावरुणौ मेधा मग्नि-
दंघातु ते । मेधां ते अश्विनौ देवा वाधता पुष्करस्त्रजौ’ ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १-
५, ९)—‘इत्येतयञ्चां’ ‘च’ अपि ‘सदसस्पतिमद्भुतम्’ (छ० ब्रा० २, २, ३, ७)—
‘इति’ अनया ‘मेधाजननं सर्पिः’ ‘प्राशयेत्’ । ‘वा’ शयवा ‘जातरूपेण’ ‘हिर-
ण्येन’ हिरण्यमयशलाकादिना ‘आदाय’ गृहीत्वा सर्पिः ‘कुमारस्य’ तस्य ‘मुखे’
‘जुहोति’ जुहुयात् क्षिपेत् (२१) । एतदनन्तरम् ‘नाभिमृ कृन्तत’—‘इति’, ‘स्तनं
प्रतिधत्त’—‘इति’ ‘च’ ‘ब्रूयात्’ आदिश्यात् पितेति शेष । पित्रादेशग्रहणपूर्वकमेव
नाभिकृन्तनं स्तनप्रतिधानञ्चेति गतं जातकर्म ॥२२ ॥

भा०—पहिरो जो शुद्धा पीसने का नियम कहा गया है उसीप्रकार धान्य
तण्डुल और यवतण्डुल पीसकर नाड़ी छेदनके पूर्व ही दहिने हाथ से अनामिका
और अद्गुठे के द्वारा ग्रहण करते ‘यही ईश्वर की आज्ञा है’ यह मन्त्र
पढ़कर उस नव बालक की जीभ में घटा देवे और बुद्धि बढ़ने की इच्छा से
‘मेधान्ते मित्रावरुणौ’ मन्त्र और ‘सदसस्पति मद्भुतम्’ (छ० ब्रा० २, २, ३, ७)
मन्त्र, इन दो मन्त्रों का पाठ कर, दो बार उसी प्रकार अद्गुठा, अनामिका
द्वारा घृत भी घटावे, या सुवर्ण की शलाकादि के अग्रभाग से लड़के के मुख में
देवे । अनन्तर नाड़ी काट कर स्तन पिलावे ॥१९, २२॥ यही जातकर्म संस्कार है ॥

अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् ॥ २३ ॥

‘अत ऊर्ध्वम्’ नाभिकृन्तनात् परस्तात् ‘आदशरात्रात्’ दशरात्रिशेषं यावत्
‘असमालम्भनम्’ अस्पर्शनम् कुमारमातुरित्यशीचविधिः ॥२३॥

प्रतिशामयेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेप्रथमखण्डस्थव्याख्यानंसमाप्तम् ॥२७

भा०—इस नाड़ी छेदन के पीछे से दश दिन प्रभृति स्पर्श योग्या न होगी
अर्थात् ये दश दिन भर्षा स्वीय पत्नी को स्पर्श भी न करे ॥२३॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२७॥

जननाव्यस्तृतीयोज्यौत्स्त्रस्तस्य तृतीयायां प्रातः सशिरस्कं
कुमारमाप्लाव्यास्तमिते वीते लोहितिग्न्यञ्जलिकृतः पितोप-
तिष्ठतेऽथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य दक्षिणत
उदञ्चं पित्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसम्भनुपृष्ठम्परिक्रम्योत्तरतोऽव-
तिष्ठतेऽथ जपति यत्ते सुसीमइति यथाऽयन्नप्रभीयेतपुत्रो
जनित्र्या अधीत्युदञ्चं मात्रे प्रदाय यथार्थम् ॥१-५॥

‘जननात्’ जन्मतः आरभ्य ‘यः’ ‘तृतीयः’ ‘ज्यौत्स्त्रः’ ज्योत्स्नायुक्तः पक्षः,
‘तस्य’ पक्षस्य ‘तृतीयायां’ तिथौ ‘प्रातः’ ‘कुमारं’ ‘सशिरस्कम्’ आह्लाप्य ‘शिरसि
जलदानेन स्नापयित्वा ‘अस्तमिते’ सूर्ये ‘वीते’ विगते च ‘लोहितिग्नि’, ‘पिता’
कुमारजनकः ‘अञ्जलिकृतः’ पुत्रग्रहणाय प्रसारिताञ्जलिद्वयः सन् ‘उपतिष्ठते’
उत्थितस्तिष्ठेत (१) । ‘अथ’ तदनन्तरं ‘माता’ कुमारप्रसूतिः ‘शुचिना’ शुश्रेण
निर्मलेनेति यावत् ‘वसनेन’ ‘कुमारम्’ ‘आच्छाद्य’ ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां
दिशि गत्वा ‘उदञ्चं’ उत्तानम् ‘उदक्शिरसं’ कुमारं ‘पित्रे’ कुमारजनकाय तस्मै
‘प्रयच्छति’ प्रयच्छेत् (२) । दत्त्वा च सा ‘अनुपृष्ठं’ परिक्रम्य स्वपतिपृष्ठदेशे-
नागत्य ‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां सुतरां पट्पुर्वाभभागे ‘अवतिष्ठते’ अवस्थिता भवेत्
(३) । ‘अथ’ दम्पत्योर्यथोक्तभावेन सकुमारावस्थानानन्तरं पतिः “यत्ते सुसीमे
हृदयथं हितमन्तः प्रशापती। वेदाहं मन्ये तद्ब्रह्म माहं पौत्र मघं निगाम्” ॥१०॥
यत् पृथिव्या मसृत् दिवि चन्द्रमसि अितम् । वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्र-
मघथं रिपम् ॥११॥ इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजापते ने प्रजापतिः । यथायं न प्रगी-
यते पुत्रो जनित्र्या अधि” ॥२॥ (स० ब्रा० १, ५, १०-१२) ‘जपति’ जपेत् (४)
जपित्वा च ‘उदञ्चं’ उत्तानमेव तं कुमारं मात्रे तत्प्रमूत्यै ‘प्रदाय’ प्रदानं कृत्वा
समाप्तं ज्यौत्स्त्रोपस्थानमिति मत्वा ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (५) ॥२-५

भा०:-जन्म से तृतीय शुक्लपक्ष की तृतीया में प्रातःकाल ही नवकुमार
को मस्तक पर्यन्त धोकर स्नान करावे । अनन्तर सूर्यास्त के पीछे सर्पात्
ऐसे समय जब कि सूर्य मण्डल की लालिमा पर्यन्त दीख न पड़े, उस नव-
कुमार का पिता, पुत्र ग्रहण के लिये दोनों अञ्जलि पमार कर सड़ा हो और
नवकुमार की माता उस कुमार को माफ वस्त्र से ढाक कर अपने स्वामी के
दक्षिण और आकार इम बालक को उत्तर गिरा और उत्तानभाव से (चित्त)
उस की अञ्जलि में प्रदान करे। स्वयं अपने पीठ पर हीकर बाप दिशा आकर-
पुनः रूप से अवस्थित हो । पीछे इम बालक के सार्व पिता ‘यत्ते सुसीमे’

एवं से 'यथा अयं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्रया अधि' पच्यन्ततीन मन्त्रों का पाठ करे । अनन्तर गृहीत पुत्र को उस की माता को पुनः प्रदान करे और प्रयोजन के अनुसार अन्य कार्य करे, या विश्राम करे ॥ १-५ ॥

अथ येऽत ऊर्ध्वं ज्यौत्स्नाः प्रथमोद्दिष्टएव तेषु पितो-
पतिष्ठतेऽपामञ्जलिं पूरयित्वाऽभिमुखश्चन्द्रमसं यददश्चन्द्रम-
सीति सकृद्यजुषा द्विस्तूष्णीमुत्सृज्य यथार्थम् ॥६॥ ७॥

'अथ' प्रकरणान्तरं द्योतयति । 'अतः' जननात् तृतीयज्यौत्स्नातः 'ऊर्ध्वं' उपरिष्ठात् परस्तादिति यावत्, 'ये' 'ज्यौत्स्नाः' ज्यौत्स्नायुक्ताः कालाः शुक्लपक्षाः, 'तेषु' ज्यौत्स्नेषु कालेषु 'प्रथमोद्दिष्टे' प्रथमागते ज्यौत्स्ने जननाद्यतुर्थे शुक्लपक्षे, यस्यां कस्यामप्येकस्यां तिथौ सम्भवतश्चन्द्रोदये 'पिता' कुमारजनकः 'अपाम-
ञ्जलिं पूरयित्वा' 'चन्द्रमसम् अभिमुखः' सन् 'उपतिष्ठते' उपतिष्ठेत उत्थित-
स्तिष्ठेत (६) । ततश्च " यदहश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयश्च अतम् ।
सदहं विद्वान्शस्तत् पश्यन् माहं पौत्रमपश्चुदम् " ॥१३॥ (म० ब्रा० १, ५, १३)
'इति' अनेन 'यजुषा' छन्दःशून्यमन्त्रेण 'सकृत्', 'तूष्णीं' अमन्त्रकं 'द्विः' द्विवा-
रम् 'उत्सृज्य' गृहीतोदकाञ्जलिमिति यावत्; समाप्त मध्मर्जनं कृत्य मिति
नत्या 'यथार्थं' यथाप्रयोजनं विहरेदिति शेषः ॥६॥ ७॥ अथ नामधेयं विधत्ते—

भा०—पूर्वोक्त इत्त तृतीय शुक्लपक्ष के पीछे जो प्रथमोपस्थित ज्यौत्स्ना
अर्थात् जन्म से चतुर्थं शुक्ल पक्ष, उस की प्रतिपदा से पूर्वोक्ता पच्यन्त १५ रात्रि
के जिस किसी रात्रि में चन्द्रोदय समय कुमार का पिता खड़ा होकर चन्द्रमा
के सम्मुरा हो 'यदहश्चन्द्रमसि' मन्त्र पढ़ कर एकवार एवं अपर दोवार बिना
मन्त्र साकल्य में तीन अञ्जलि जल छोड़ देवे ॥ ६, ७ ॥

✓ जननाद्दशरात्रे व्युष्टे शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम् ॥८॥

'जननात्' जननदिनमारभ्य 'दशरात्रे' शतरात्रे संवत्सरे वा 'व्युष्टे' अतीते
एकादशदिनादौ 'नामधेयकरणम्' कुमाररूपेति ॥८॥ तत्रैतिकर्तव्यतां विधत्ते—

भा०—जन्म दिन से दस दिन, या १०० दिन, या सम्भरसर वीतने पर
ग्यारहवें दिन में नयकुमार का नाम कारण करे ॥ ८ ॥

अथ यस्तत् करिष्यन् भवति पश्चादग्ने रुद्रग्रेषु दर्भेषु
प्राहुःपविशत्यथ माता शुचिना वसनेन कुमारमाच्छाद्य-
दक्षिणतउदञ्चं कर्त्रे प्रयच्छत्युदक्शिरसमनुपृष्ठं परिक्रम्यो-

त्तरतउपविशत्युदगग्रै ष्वेव दर्भेष्वथ जुहोति प्रजापतये तिथये
नक्षत्राय देवतायाइति तस्य मुख्यान् प्राणान्त्सम्मृशन्कोऽसि
कतमोऽसीत्येतंमन्त्रं जपत्याहस्पत्यं मासंप्रविशासावित्यन्तेच
मन्त्रस्य घोषवदाद्यन्तरस्थन्दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतत्वाम
दध्यादेतदतद्वितमयुग्दान्तंस्त्रीणाम्मात्रे चैव प्रथमं नामधे-
यमाख्याय यथार्थङ्गौर्दक्षिणा ॥ ९-१८ ॥

‘अथ’ प्रक्रमार्थः । ‘यः’ पुरुषः पिता पुरोहितो वा ‘तत्’ नामधेयं कर्म ‘करिष्यन्
भवति’, सः ‘अग्नेः अद्यात्, उदगग्रेषु दर्भेषु’ ‘प्राङ्मुखः सन् ‘उपविशेत् (९) ।
‘अथ’ तदनन्तरं ‘माता’ दक्षिणतः दक्षिणस्यां कर्तुर्दक्षिणभागे गत्वा ‘शुचिना यस्नेन
कुमारम् आच्छाद्य’ ‘उदक्षिरसम्’ उत्तरशिरस्कम् किञ्च’ उत्तानं शिशुं ‘कर्त्रे’
नामधेयकर्मणोऽनुष्ठात्रे प्रयच्छति (१०) । दत्त्वा च ‘अनुपृष्टं परिक्रम्य’ स
‘उत्तराग्रेषु दर्भेषु’ ‘उत्तरमः’ उत्तरस्यां दिशि कर्तुर्वागभागे ‘उपविशति’ उपविष्टा
भवेत् (११) । ‘अथ’ तदनन्तरं, क्रोडीकृतकुमारः सः ‘प्रजापतये’ प्रजापतिदे-
वतामनुकूलयितुं तथैव ‘तिथये’, तथैव ‘नक्षत्राय’, ‘जुहोति’ हवनं कुर्यात् (१२) ।
एवं होमानन्तरं ‘तस्य’ कुमारस्य ‘मुख्यान् प्राणान्’ मुखगतश्वासान् ‘सम्मृशन्’
अङ्गुलीभिः स्पृशन् ‘कोऽसि कतमोऽसि रूपोऽस्यामृतोऽसि आहस्पत्यं मासं
प्रविशासौ ॥१४॥ सत्याह्ने परिददात्वहस्त्वारात्र्यै परिददातु रात्रि स्त्वाहोरात्राभ्यां
परिददात्वहोरात्रौ त्वाहुंमासेभ्यः परिदत्तामहुंमासास्त्वामासेभ्यः परिददतु
मासास्त्वहंभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वामुपे जरायै
परिददात्वहंभ्यः ॥१५॥ (म० ब्रा० १, ५, १४-१५)—‘इत्येतं मन्त्रं ‘जपति’ जपेत्
(१३) । ‘मन्त्रस्य’ तस्य ‘आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ’—‘इति’ अत्र ‘च’ अपि
‘अन्ते’ अन्ते असी इत्यस्य स्थाने ‘कृत’ नगरचितं ‘नाम’ आह्वानाद्यप्यवधार्य
पदं ‘दध्यात्’ स्थापयेत् व्यवहयांदिति । तच्च नाम ‘घोषवदाद्यम्’ आदितएष
घोषसंज्ञकाक्षरपुक्तम्, ‘अन्तरन्तस्यं’ अन्तस्यसंज्ञकाक्षरमध्यं, ‘दीर्घाभिनिष्ठा-
नान्तं’ दीर्घसंज्ञकाभिनिष्ठानसंज्ञकाक्षरयोरन्यतरायसानकं भवेत् (१४) । ‘एतत्’
नाम ‘अतद्वितं’ तद्वितप्रत्ययरहितमेव कार्यम् (१५) । ‘स्त्रीणाम्’ कन्यानां तु
‘अयुग्दान्तम्’ अयुग्माक्षरान्तं दान्तव्यतिरिक्तञ्च नाम दध्यादित्येव तत्र विद्या-
यम् (१६) । ‘च’ पुनः तत् ‘नामधेयं’ मात्रे एव’ प्रथमं ‘आरुपाय’ परिज्ञाप्य
नामधेयकरणं समाप्तमिति मत्या ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेदिति (१७) ।
अस्य कर्मणः ‘गौः’ एका ‘दक्षिणा’ देयेति (१८) । समाप्तं नामधेयकरणम् ॥१८-१८

भा०—यह नामकरण संस्कार जो करे सो पिता, या पुरोहित अग्नि की पश्चिम में उत्तराय ढाले हुए कुश के आसन पर पूर्वमुख बैठे कुमार की प्रसूति, साफ वस्त्र में शिशु को ढांक कर ले आवे और नामकरण संस्कार करने के लिये प्रवृत्त कुमार के पिता, या अपर ब्राह्मण के दहिने ओर आकर उत्तर शिरा और उत्तानभाव से उसे देकर नामकरण करने में प्रवृत्त पिता या ब्राह्मण के पीठ के रास्ते आकर कुशपुत्र के ऊपर बैठे । अनन्तर इस नामधेय कारी कुमार को गोद में ले कर पहिले प्रजापति देवता की तुष्टि के लिये होम करे पीछे शिम तिथि में कुमार का जन्म हुआ है, उस तिथि का नाम ले कर दूसरी आहुति प्रदान करे, उसके बाद जिस नक्षत्र में कुमार का जन्म हुआ है उसका नाम कहकर तीसरी आहुति देवे । फिर उस बालक के मुख में हाथ देकर श्वास, स्पर्श कर "कोऽसि कृतमोसि" मन्त्र पढ़कर एवं इस मन्त्र के पाठ समय दो स्थान में स्थित 'असौ' पदके बदले नूतन नाम रख कर व्यवहार करे । इस नामके आदि अक्षर घोष वर्ण, मध्यमें अन्तस्थ वर्ण, एवं अन्त्य वर्ण दीर्घ या विसर्ग होगा । विशेषतः इस नाम में तद्धित न रहे । कन्या सन्तान का नाम युग्म अक्षर अन्त में, और दकारान्त न हो यही देखना चाहिये । इस प्रकार नाम युक्त मन्त्र के दोनों स्थान में 'असौ' पद के स्थान में निला कर पाठ समाप्त होने पर उस नाम का सब से पहिले उस की प्रसूति को अयगत करावे । इस प्रकार नामकरण संस्कार शेष कर, पिता, या पुरोहित यथा प्रयोजन अन्यान्य कार्य करे। या विश्रान करे । नामकरण संस्कार की दक्षिणा एक गौ देवे ।

✓ कुमारस्य मासिमासि संवत्सरे सांवत्सरिकेपु वा पर्व-
स्वग्नीन्द्रौ द्यावापृथिवी विश्वान्देवाथ्श्च यजेत दैवतमिष्टा
तिथिं नक्षत्रञ्च यजेत ॥ १९-२० ॥

'कुमारस्य' नवजातस्य 'संवत्सरे' प्रथमे 'मासि मासि' प्रति जन्मतिथी, 'वा' अथवा 'सांवत्सरिके' जन्मतिथावेव प्रथमे एव च' अथवा 'पर्वञ्च' पीठ-मास्यामावास्याञ्च प्रथमे संवत्सरे एव 'अग्नीन्द्रौ' 'द्यावापृथिवी' 'च, अपि विश्वान् देवान्' 'यजेत' यागेनेष्टं भावयेत् (१९) 'दैवतमिष्टा' अग्नीन्द्रादियामं प्रकृत्य 'तिथिं' जन्मनः 'च' अपि 'नक्षत्रं' जन्मन एव 'यजेत' (२०) । गत-मिदं पौष्टिकं कर्म जन्मतिथिकृत्यं वा । १९, २० अथ सूद्धाभिप्रायाम्;—

भा०:—प्रथम वर्ष प्रति मास की जन्मतिथि में किम्वा प्रति पूर्णिमा

श्रीर अमावास्या पक्षे में अग्नीन्द्र, द्यावापृथिवी, श्रीर विश्वेदेवा देवता की अर्चना करे एवं इस प्रकार देवार्चना के पीछे तिथि और नक्षत्र की भी अर्चना करे । यही जन्मतिथिकृत्य है ॥ १९, २० ॥

विप्रोप्य ज्येष्ठस्य पुत्रस्योभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेद् यदा वा पिता मइति विद्यादुपेतस्य वाङ्गादङ्गात् सत्स्रवसीति पशूनां त्वा हिङ्गारेणाभिजिघ्रामीत्यभिजिघ्रय यथार्थमेवमेवावरेपां यथाज्येष्ठं यथोपलम्भं वा स्त्रियास्तूप्णीं मूर्द्धन्यभिजिघ्रणम् ॥ २१-२५ ॥ ८ ॥

‘विप्रोप्य’ प्रधासादागत्य, ‘वा’ अथवा ‘यदा’ यस्मिन् काले ‘मे पिता इति विद्यात्’ बालकः तदैव, ‘या’ अथवा ‘उपेतस्य’ सन्निहितस्य यदैव सन्निहितो भवेत् तदैव, ‘ज्येष्ठस्य पुत्रस्य मूर्द्धानं पाणिभ्यां परिगृह्य’ “अङ्गादङ्गात् सत्स्रवसि हृदयादधिजायसे। प्राणं ते प्राणोऽस्य सन्ध्यामि जीय मे यावदायुषम् ॥१६॥ अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। वेदो वै पुत्रनामासि स जीय शरदः शतम् ॥ १७॥ अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्त्वत्तं भव । आत्मासि पुत्र मासृषाः स जीय शरदः शतम्” ॥ १८ ॥ (१, ५, १६, १८),—‘इति’ तृचं ‘जपेत्’ (२१), ततः “पशूनां त्वा हिङ्गारेणाभिजिघ्रान्यसी ॥१९॥ ५ (१, ५, १९)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘अभिजिघ्रय’ आघ्राय समाप्तं मूर्द्धांघ्राणं कर्मेति मत्या ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं विहरेत् (२२) । ‘अवरेपा’ तत्कर्मिष्ठानामपि पुत्राणाम् ‘एवमेव’ मूर्द्धांघ्राणं कर्तव्यम् (२३) । तत्र च ‘यथाज्येष्ठं’ ज्यैष्ठानुक्रमेणैव मूर्द्धांघ्राणं कार्यम् । ‘वा’ अथवा ‘यथोपलम्भं’ येन क्रमेण पितृसन्निधौ ते उपस्थिताः स्युस्तेनैव क्रमेणेति (२४) । ‘स्त्रियाः’ कन्यायाः ‘मूर्द्धानि’ मस्तके ‘अभिजिघ्रणं’ आघ्राणग्रहणं ‘तूप्णीम्’ अमन्त्रकमेव कार्यम् (२५) । समाप्तं मूर्द्धांघ्राणम् । द्विव्यंघनं क्षुद्रकर्मप्रकरणसमाप्तिद्योतकम् ॥ २१-२५ ॥ ८

इतिसामवेदीयेगोभिलागृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेअष्टमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥२०॥

भा०—पिता जिस समय प्रदेश से अपने घर आवे, तब या जिस समय पुत्र ‘मेरा पिता यही है ऐसा समझ ले, या जिसी समय निकट आकर उपस्थित हो, उसी समय ‘अङ्गादङ्गात् सम्भवसि’ इन तीन मन्त्रों को पढ़कर हाथ में दृष्टे पुत्र का मस्तक पकड़ कर ‘पशूनांतया’ मन्त्र पढ़ कर सूपे, पीछे यथेच्छ विधरे । अपर पुत्रादि का मस्तक भी इसी प्रकार सूपे । जो जिस के पीछे उत्पन्न

हुआ, ही उसे उसके पीछे या जो जिस समय निकट आवे तदनुसार मूर्ध्वाप्राण करे। कन्या के मूर्ध्वाप्राण में मन्त्र पाठ न करे ॥ २१-२५ । ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय अध्याय के अष्टमखण्ड का भाषानुवादपूरा हुआ ॥२८॥

—:०:—

अथातस्तृतीये वर्षे चूडाकरणम् ॥१॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरतां द्योतयति। ‘अतः’ आरभ्य ‘चूडाकरणं’ कर्म वक्षतीति । तच्च ‘तृतीये वर्षे’ कार्यमिति चूडाकरणकालः ॥१॥ तस्येति कर्तव्यतां विधत्ते;—

भा०:—यह चूडाकरण कार्य बालक वा बालिका के तृतीय वर्षकी आयु में करे ॥१॥

पुरस्ताच्छालायां उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति तत्रै-
तान्युपकृतानि भवन्त्येकविंशतिर्दर्भपिञ्जल्य उष्णोदकक-
थंस औदुम्बरः क्षुरजादर्शो वाक्षुरपाणिर्नापित इति दक्षिणत-
आनदुहो गोमयः कृसरः स्थालीपाको वृथापक्व इत्युत्तरतो-
ब्रीहियवैस्तिलमापैरिति पृथक् पात्राणि पूरयित्वा पुरस्ता-
दुपनिदध्युः कृसरोनापिताय सर्वबीजानि चेति ॥२-७॥

‘शालायाः’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्मिन् भागे ‘उपलिप्ते’ स्थाने ‘अग्निः उप समा-
हितः भवति’ (२) । ‘तत्र’ ‘एतानि’ अनुपदं वक्ष्यमाणानि ‘उप कृतानि’
आसाद्य सज्जितानि ‘भवन्ति’ (३) । तान्येवाह—‘एकविंशतिः दर्भपिञ्जल्यः’,
‘उष्णोदककंस’ उष्णोदकसहितकांस्यपात्रम्, ‘औदुम्बरः’ उदुम्बरकाष्ठनिर्मितः
‘क्षुरः’ ‘वा’ अथवा ‘आदर्शः’ दर्पणः, ‘क्षुरपाणिर्नापितः’—‘इति’ चत्वारि वस्तूनि
सम्पाद्य ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां अग्नेः स्थाप्यानीति (४) । किञ्च आनदुहः
गोमयः वृथापक्वः अमन्त्रपक्वः ‘कृसरः स्थालीपाकः’ इति द्वे वस्तूनी सम्पाद्य
‘उत्तरतः’ उत्तरस्यां अग्नेरेव सर्वत्र पूर्वाभिमुख एव कर्ता सुतरां कर्तुर्वाग्भागे
(५) । ‘ब्रीहियवैः’ मिश्रितैः ‘तिलमापैः’ मिश्रितैरेव ‘पृथक्’ ‘पात्राणि’ ‘पूर-
यित्वा’ ‘पुरस्तात्’ अग्नेरेव पूर्वस्यां परस्तादिति यावत्, ‘उपनिदध्युः’ स्थाप-
येयुः (६) । एषु च उक्तः ‘कृसरः’ ‘च’ अपि ‘सर्वबीजानि’ ब्रीहियवैस्तिलमा-
पैश्च पूरितपात्राणि ‘नापिताय’ तस्मै देयानि (७) ॥ २-७ ॥

भा०:—जिस स्थान में चूडा कर्म करना ही, उसे गोमय से लीप कर पूर्व
भाग में यथा विधि अग्नि स्थापन करे (२) ये सब ग्रंथ कर उस स्थापन में
उपस्थित करे (३) जैसे—इक्कीच दर्भपिञ्ज, गर्भ जल से भरा कांसे का पात्र,

गूलर के काष्ठ का द्वारा, या दर्पण, एवं लोहे का द्वारा सहित नापित, ये चार वस्तु दक्षिण दिशा में उपस्थित रखे (४) सांड का गोबर, अनन्तर पक्क कूसर अर्थात् सिद्ध तण्डुल, ये वस्तु उत्तर में रखे (५) पूर्व दिशा में एक पात्र में धान्य, यव एवं दूसरे पात्र में तिल और माप (उड़द) रखे, (६) ये कूसर और धान्यादिपूर्ण दोनों पात्र नापित की देवे ॥ २-७ ॥

अथ माता शुचिना वसनेन कुस्मारमाच्छाद्य पश्चादग्ने-
रुदगग्नेषु दर्भेषु प्राच्युपविशति ॥६॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘माता’ बालकस्य, ‘शुचिना वसनेन कुस्मारम् आच्छाद्य, अग्नेः पश्चात् उदगग्नेषु’ ‘प्राची’ प्राङ्मुखी सती ‘उपविशति’ ॥ ६ ॥

भा०:-उस के अनन्तर बालक को माता बालक को माफ वस्त्र में लपेट कर अग्नि के पीछे उत्तराय रखे हुए कुशामन पर पूर्व मुख ही बैठे ॥ ६ ॥

अथ यस्तत्करिष्यन् भवति पश्चात् प्राड्वतिष्ठते ॥६॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘यः’ पुरुषः ‘तत्’ घृहाकरणं नाम संस्कारकार्यं ‘करिष्यन् भवति’ पिता पुरोहितोद्यः सः ‘पश्चात्’ उपविष्टायाः सपुत्रायाः, ‘प्राक्’ प्राङ्मुखः सन् ‘अवतिष्ठते’ अवस्थानं कुर्यात् ॥६॥

भा०:-पीछे पिता, या पुरोहित, जो कोई घृहाकरण संस्कार करने को मवृत्त हो, वह उस के पश्चात् भाग में पूर्वोभिमुख हो कर बैठे ॥ ६ ॥

अथ जपत्यायमगात् सविता क्षुरेणेति सवितारं मनसा ध्यायन् नापितं प्रेक्षमाण उष्णेन वाय उदकेनैधीति वायुं मनसा ध्यायन्नुष्णोदककथं सं प्रेक्षमाणो दक्षिणेन पाणिनाऽप आदाय दक्षिणां कपुष्णिकामुन्दत्याप उन्दन्तु जीवस इति विष्णोर्दंष्ट्रोऽसीत्यौदुम्बरं क्षुरं प्रेक्षत आदर्शं वौपथे त्राय-स्वैनमिति सप्तदर्भपिञ्जलीर्दक्षिणायां कपुष्णिकाया मभि शिरोग्रा निदधाति ता वामेन पाणिना निगृह्य दक्षिणेन पाणिनौदुम्बरं क्षुरं गृहीत्याऽऽदर्शं वाऽभिनिदधाति स्वधिते मैनं हिंसीरिति येन पूषा वृहस्पतेरिति त्रिः प्राञ्जं प्रोह-त्यप्रच्छिन्दन् सकृद् यजुषा द्विस्तूष्णीमथायसेन प्रच्छिद्यान-डुहे गोमये निदधाति ॥ १०-१७ ॥

‘अथ’ तदनन्तरम् । ‘नापितं प्रेक्षमाणः’ ‘सवितारं मनसा ध्यायन्’, ‘आप गमात् सविता क्षुरेण ॥१॥ (म० ब्रा० १, ६, १)”—‘इति’ इमं मन्त्रं ‘जपति’ जपेत् (१०) “उष्णेन वायुदकेनैधि ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ६, २)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘वायुं मनसा ध्यायन् उष्णोदककंसं प्रेक्षमाणः’ भवति सः (११) । “आप उन्दन्तु जीवुसे” ॥३॥ (म० ब्रा० १, ६, ३)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘दक्षिणेन पाणिना अप ‘आदाय’ ‘कपुणिकां’ शिरःपोषिकां शिरःपार्श्ववर्तिकेशजुटिकां ‘उन्दति’ क्लेदयति (१२) । “विष्णोर्दंष्ट्रोग्गसि” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ४)”—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘श्रीदुम्बरं क्षुरमादशं वा’ ‘प्रेक्षते’ (१३) । “श्रीपथे त्रायस्वेनम्” ॥५॥ (म० ब्रा० १, ६, ५)—‘ इति ’ इमं मन्त्रं पठन् ‘ अभिशिरोघ्राः ’ शिरोऽभिमुखायाः ‘ दर्भपिञ्जलीः ’ ‘ दक्षिणायां कपुणिकायां ’ ‘ निदधाति ’ धारयति (१४) । ‘ ताः ’ कपुणिकासहिता दर्भपिञ्जलीः ‘ वामेन पाणिना ’ ‘ निगृह्य हृदतया गृहीत्वा “स्वधिते मैनशं हि शंसीः” ॥६॥ (१, ६, ६)—‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘दक्षिणेन पाणिना’ ‘श्रीदुम्बरं क्षुरम् आदशं वा’ ‘गृहीत्वा’ अभिनिदधाति’ यत्रतो धारयेत् (१५) । ततश्च तेनैवौदुम्बरेण क्षुरेण दर्पणेन वा ‘प्राञ्चं’ प्राग्गतं चालयन् परन्तु ‘अप्रच्छिन्दन्’ यथा च केशान् न छिन्द्यादेवं कृत्वा त्रिवारं ‘प्रोहति’ कथङ्कारं वपनं कर्त्तव्यमिति सवितकं पश्यति । तत्र च ‘सकृत्’ “ एकवारं येन पूषा गृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुषाय वर्चसे” ॥७॥ (म० ब्रा० १, ६, ७)—‘इति’ अनेन ‘यजुषा’ गद्यात्मकमन्त्रेण ‘द्विः’ वारद्वयं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेवेति (१६) ‘अथ’ तदनन्तरम् ‘आयसेन’ लौहमयेन क्षुरेण सपिञ्जलीं दक्षिणकपुच्छिकां ‘प्रच्छिद्य’ पूर्वासादिते ‘आनक्षुद्दे’ गोमये, ‘निदधाति’ स्थापयति (१७) ॥१०-१७॥

भा०:-अनन्तर, पिता या पुरोहित जो कोई कार्य करे, वे इस क्षुरहस्त नापित को देख कर मन ही मन जगत्प्रसविता देवता को ध्यान कर ‘आय-गमात्’ इस मन्त्र का पाठ करे ॥१०॥ गर्म जल के साथ कांसे के पात्र में देखकर मन ही मन वायु देवता का ध्यान कर ‘उष्णेन वाय’ इस मन्त्र को पढ़े ॥११॥ दहिने हाथ से ‘कपुणिका’ * ग्रहण कर ‘आप उन्दन्तु’ इस मन्त्र का पाठ करके उसमें वही गर्म जल भीच कर गीला करे ॥१२॥ ‘विष्णोर्दंष्ट्रोग्गसि’ इसमन्त्रकापाठ करते हुए उसमें वही गर्म जल सीच गुलार के काठ का क्षुरा या दर्पण देखे ॥ १३ ॥

* मल्लक के ऊपर दोनों पार्श्व के केशों को कपुण्ड्रिका कहते अर्थात् ‘क’ शब्द का अर्थ शिर, एवं बेशादि उस से पीचक होने से ‘क-पुण्ड्रिका’ नाम हुआ ॥

'ओषधे त्रायस्वेन' इस मन्त्र का पाठ कर सात दर्भ-पिञ्जली नीचे की जड़ एवं ऊपर की कुनगी इस भान्ति उस कपुष्पिका में धारण करावे ॥१४॥ पीछे उसी दर्भ पिञ्जली के साथ दहिने कपुष्पिका आदि बांधे हाथ में रख कर 'स्वधितेभैर्नहिंसोः' यह मन्त्र पढ़कर दहिने हाथ में उस गूलर के काष्ठ का छुरा या दर्पण लेकर उसी कपुष्पिका में अच्छे प्रकार धारण करे ॥ १५ ॥ एवं उस को पूर्वाभिमुख कर तीनवार चला कर किस प्रकार छेदित होगा, तर्क करके देखे । उस तीनवार के चलाने में एकवार 'येन पूषा' अथवा दो वार में किसी मन्त्र के पाठ करने की आवश्यकता नहीं । इस गूलर के छुरा, या दर्पण चलाने में केश छिन्न नहीं होता ॥१६॥ अनन्तर लोहे के छुरे से उसी दर्भ पिञ्जलीके साथ दक्षिणकपुष्पिका को छेदकर सांड के गोबर में स्थापन करे ॥१७॥

एतयैवावृता कपुच्छलम् ॥१८॥ एतयोत्तरां कपुष्पिकाम्

॥ १९ ॥ उन्दनप्रभृति त्वेवाभिनिवर्त्तयेत् ॥ २० ॥

'एतया एव आवृता' कथितपरिपाटयैव 'कपुच्छलं' शिरःपुच्छसदृशं पद्या-
रकेशकलापम् आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आनडुहे गोमये निदधाति ॥ १८ ॥

'एतया' परिपाटया उत्तरां कपुष्पिकाम्, अपि आयसेन क्षुरेण प्रच्छिद्य आन-
डुहे गोमये निदधाति ॥ १९ ॥ कपुच्छलच्छेदने उत्तरकपुष्पिकाच्छेदने च 'उन्दन-
प्रभृति' पूर्वोक्तक्रेदनादि गोमये निधानान्तं (१२-१७ सू०) कर्मजातम् 'अभि-
निवर्त्तयेत् निष्पादयेत्; न तत्पूर्वतनं नाथैतत्परतनञ्च तत्र पृथक्त्वेनानुष्ठेयम् २०

भा०:-पूर्वोक्त प्रकार से कपुच्छल को लोहे के छुरे से काटे ॥ १८ ॥ उत्तर
'कपुष्पिका' कटवाने में भी यही नियम समझना ॥ १९ ॥ 'कपुच्छल' काटन
में और उत्तर 'कपुष्पिका' काटने में दोनों ही स्थान गर्म जल से भिंंगाना आदि
सम्पूर्ण कार्य भिन्न २ करना होगा, उस के पूर्व, या पीछे का कार्य सब, प्रत्येक
घार काटने के लिये भिन्न २ न होंगे ॥२०॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां मूर्द्धानं परिगृह्य जपेत् त्र्यायुपं जमद-
गौरिति ॥ एतयैवावृता स्त्रियास्तूष्णीम् मन्त्रेण तु होमः ॥२१-२४॥

इत्थं बालकस्य कपुष्पिकाद्वयं कपुच्छलञ्च छेदयित्वा उभाभ्यां पाणिभ्यां
मूर्द्धानं परिगृह्य 'त्र्यायुपं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुपं मगस्त्यस्य त्र्यायुपम् । यद्दे-
वानां त्र्यायुपं तप्ते अस्तु त्र्यायुपम्' ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ८)-'इति' इमं
मन्त्रं 'जपेत्' (२१) 'स्त्रियाः' कन्याया अपि कपुष्पिकादिच्छेदनम् 'एतया'
'आवृता' परिपाटया 'एव' कार्यम् (२२) । तत्रायं विशेषः-'तूष्णीम्' अमन्त्र-

किञ्च 'एभिः सह' न विवहेयुः' कन्योद्वाहसम्बन्धं न कुर्युः॥ इति गतः कालनियमः।३।

भा०—उक्त सावित्रीपतित लीगों को पुनः उपनयन नहीं हो सकता । ऐसों को कोई अध्ययन भी न करावे, कोई यज्ञ भी नहीं करावे, इन का विवाह भी समाज में निषिद्ध समझे । यही उपनयन काल का नियम है ॥६॥

यदहरुपैष्यन्माणवको भवति प्रगएवैनं तदहर्भोजयन्ति
कुशलीकारयन्त्याप्लावयन्त्यलङ्कुर्वन्त्यहतेन वाससाऽऽच्छा
दयन्ति ॥ ७ ॥

'माणवकः' अनधीतवालकः 'यदहः' यस्मिन्नहनि 'उपैष्यन्' उपनीती' वियन् भवति, 'तदहः' तस्मिन्नहनि 'प्रगे एव' प्रातरैव 'भोजयन्ति' मात्रादयः, यान् कानप्याहार्यान् प्रातराशमात्रं वा तं माणवकमिति शेषः । ततः 'कुशली-कारयन्ति' मुषडयन्ति । ततः 'आप्लावयन्ति' स्नापयन्ति । ततः 'अलङ्कुर्वन्ति' शोभयन्ति । ततः 'अहतेन वाससा आच्छादयन्ति' । सर्वदैव तं माणवकम् मात्रादय इति । ७ ॥

भा०—जिस दिन अनुपनीत बालक का उपनयन होवे, उस दिन प्रातः काल उसे प्रातराश (दोपार दिन से पहिले का भोजन) या और अन्यखाद्य भोजन करावे । पीछे उस को मुषिहत कर स्नान करावे एवं, भूषणादि पहनावे और उसे अखण्ड वस्त्र से आवृत करे ॥ ७ ॥

क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषां वसनानि । ८ । ऐणैयरौर-
वाजान्यजिनानि । ९ ।

'एषां' ब्राह्मणादीनां त्रयाणां 'वसनानि' परिधेयानि 'क्षौमशाणकार्पासौ-र्णानि' कुर्युः।८। एषां 'अजिनानि' उत्तरीयचर्माणि 'ऐणैयरौरवाजानि' कर्तव्यानि।९

भा०—बालक को पहनने योग्य वस्त्रः रेशमी, शण, कपास, या उनी चाहिये ॥ ८ ॥ एवं बालक के लिये अजिन अर्थात् उत्तरीय ऐणैय, रौरव, और बकरे के घर्ष का होगा ॥ ९ ॥

मुञ्जकाशताम्बल्योरशनाः । १० । पार्णवैल्वाश्वत्थादण्डाः ११

एषां 'रशनाः' कटिवन्धनरज्जवः 'मुञ्जकाशताम्बल्यः' कर्तव्याः। १० । एषां 'दण्डाः' हस्तप्राच्याः 'पार्णवैल्वाश्वत्थाः' कर्तव्याः । ११ ।

भा०—घाकल के लिये कमर कस-मुञ्ज, काश, या मजीठ का होगा ॥ १० ॥ और दण्ड पलाश, बेल, या पीपर का होगा ॥ ११ ॥

क्षौमथशाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य कार्पासं क्षत्रियस्या-

विकं वैश्यस्यैतेनैत्रेतराणि व्याख्यातान्यलाभे वा सर्वाणि सर्वेषाम् ॥ १२-१४ ॥

पूर्वोक्तानां क्षीमादीनां मध्ये,—ब्राह्मणस्य 'क्षीम' तसरादि प्रसिद्धं 'वा' अथवा 'शाणं' शणसूत्रमयं 'वसनं' परिधेयं कार्यम् । 'क्षत्रियस्य' 'कापांसं सूत्रमयं वसनं कार्यम् । 'वैश्यस्य' 'आविकं' अत्यूष्णामयं वसनं कार्यम् । 'एतेनैव' वसननियमकथनप्रकारेणैव 'इतराणि द्रव्याणि' अजिनरशनादण्डरूपाणि 'व्याख्यातानि' कथितानीवेति । तथाच पूर्वसूत्रेषु (९, १०, ११) यथाक्रमतो व्यवस्था ब्राह्मणस्य—'ऐशेयं' कृष्णसारमृगचर्म अजिनम्, 'मौञ्जी' मुद्गमयी रशना 'पार्श्वः' पलाशकाष्ठीयश्च दण्डः । क्षत्रियस्य—'रौरवं' रुरुमृगचर्म अजिनम्, 'काशी' काशमयी रशना, 'वैल्वः' विल्वकाष्ठीयश्च दण्डः । वैश्यस्य—'आर्जं' अजासृगचर्म अजिनम्, 'ताम्बूली' शणमयी रशना, 'आश्वत्थः' अश्वत्थकाष्ठीयश्च दण्डः । 'वा' अथवा 'अलाभे' ब्राह्मणादीनाम् क्षीमैशेयादीनामप्राप्तौ 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां 'सर्वाणि' क्षीमादीनि ऐशेयादीनि मौञ्ज्यादीनि पार्श्वीदीनि च द्रव्याणि यस्य यथालाभतो ग्राह्याणि ॥ १२-१४ ॥

भा०:—उन में से ब्राह्मण को पहनने के लिये कपड़ा—रेशमी, या शण का, क्षत्रिय के लिये कपास का, वैश्य के लिये ऊनी होगा । मृग—झाला भी इसी प्रकार क्रम से ब्राह्मण के लिये कृष्णसार नामक मृग का चर्म, क्षत्रिय के लिये रुरुमृग का और वैश्य के लिये बफरी का चर्म होगा । ब्राह्मण के लिये मुंजका कमर कस, क्षत्रिय के लिये काश का, वैश्यके लिये शण का होगा । और ब्राह्मण के लिये पलाश का दण्ड, क्षत्रिय के लिये विल्व का, वैश्य के लिये पीपर का होगा । यदि समयानुसार यथानियम ब्राह्मणादि के यथा योग्य वसन आदि दुर्घट होवें तो, सबही वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब प्रकार के वसन आदि व्यवहार कर सकेंगे । अर्थात् उक्त क्षीम (रेशमी) आदि चार व्यवहार करे जब, जिस समय, जिस किसी प्रकार का, वसन सुलभ पावे, उस समय वही ब्राह्मण आदि निर्विशेष व्यवहार कर सकेंगे, अजिनादि के विषय में भी समयानुसार इसी प्रकार यथा लाभ व्यवस्था करनी उचित है ॥ १३-१४ ॥

पुरस्ताच्छालाया उपलिप्तेऽग्निरुपसमाहितो भवति ॥ १५ ॥ अग्ने व्रतपतइति हुत्वा पश्चादग्नेरुदग्रेषु दुर्भेषु प्राङ्गचार्योऽवतिष्ठते । १६ । अन्तरेणाग्न्याचार्यो माणवकोऽञ्जलिः कृतोऽभिमुख आचार्यमुदग्रेषु दुर्भेषु ॥ १७ ॥

‘ गालायाः पुरस्तात् ’ ‘ उपलिप्ते ’ स्थाने ‘ अग्निः उपसमाहितः भवति’
 ॥ १५ ॥ तत्र चाग्नौ ‘ आचार्यः ’ वेदाध्यापकः कश्चित् माणवकः, प्रतिनिधिर्भवन्
 “अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रव्रवीमि । तच्छक्रेयं तेनर्ध्यास मिदमहम-
 नृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ ९ ॥ वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रव्रवीमि
 तच्छक्रेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ १० ॥ सूर्यं व्रतपते
 व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रव्रवीमि । तच्छक्रेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमु-
 पैमि स्वाहा ॥ ११ ॥ चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रव्रवीमि । तच्छक्रेयं
 तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १२ ॥ व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
 तत्ते प्रव्रवीमि । तच्छक्रेयं तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि” ॥ १३ ॥ (स०
 ब्रा० १, ६, ९-१३) - ‘ इति ’ एभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः ‘ हुत्वा ’ ‘ अग्नेः पश्चात् उदग्येषु
 दर्भेषु ’ ‘ प्राङ् ’ प्राङ्मुखः सन् ‘ अवतिष्ठते ’ अवतिष्ठते । १६ । ‘ अन्तरेणाग्न्याचार्यैः ’
 अग्न्याचार्ययोः मध्ये ‘ माणवकः ’ ‘ आचार्यम् अभिमुखः ’ ‘ अञ्जलिकृतः ’ उदकप्र-
 हणोपयुक्तः कृताञ्जलिः सन् ‘ उदग्येषु दर्भेषु ’ अवतिष्ठते ॥ १७ ॥

भा०:-उपनयनार्थं अग्नि यज्ञशाला के पूर्वभाग में लीपे हुए स्थान में
 स्थापित करे ॥ १५ ॥ उस अग्नि में आचार्य्य अर्थात् एक व्यक्ति वेदाध्या-
 पक लड़के के प्रतिनिधि स्वरूप होकर “ अग्ने व्रतपते ” प्रभृति पांच मन्त्रों से
 पांच आहुति प्रदान कर अग्नि के पश्चिम उत्तराय कुशों पर बैठे ॥१६॥ अग्नि
 और आचार्य के मध्यस्थल में डाले हुए उत्तराय कुशाओं पर आचार्य के
 सम्मुख और कृताञ्जलि, हो लड़का बैठे ॥ १७ ॥ १५-१७ ॥

तस्य दक्षिणतोऽवस्थाय मन्त्रवान् ब्राह्मणोऽपामञ्जलिं
 पूरयत्युपरिष्ठाञ्चाचार्यस्य ॥ १८, १९ ॥

‘ तस्य ’ तादृशावस्थस्य माणवकस्य ‘ दक्षिणतः ’ दक्षिणस्यां तिष्ठन् कश्चित्
 ‘ मन्त्रवान् ’ अधीतवेदः ‘ ब्राह्मणः ’ तस्यैव माणवकस्य ‘ अञ्जलिं ’ ‘ अपां ’ दानेन
 ‘ पूरयति ’ । ‘ उपरिष्ठात् ’ ततः परस्तात् ‘ आचार्यस्य ’ ‘ च ’ अपि अञ्जलिं पूरयति
 अपां दानेनेति ॥ १८-१९ ॥

भा०-उस लड़के की दक्षिण में रह कर कोई वेदपाठी ब्राह्मण, उस की
 अञ्जलि जलसे भर देवे । उसके बाद आचार्यकी अञ्जलिभी जलसे भरे ॥१८, १९॥
 प्रेक्षमाणोजपत्यागन्त्रा समगन्महीति ब्रह्मचर्य्यमागामिति
 वाचयति कोनामासीति नामधेयं पृच्छति तस्याचार्यः ॥२०-२२

‘ आचार्यः ’ ‘ प्रेक्षमाणः ’ माणवकमिति यावत् “आगन्त्रा समगन्महि प्र मुमर्य्ये

योतन । अरिष्टाः सध्वरेमहि स्वस्ति षरतादयम् ॥१४॥ अग्निष्टे हस्तमग्रहीत्
विता हस्तमग्रहीत् । अर्चना हस्तमग्रहीन्मिन्नरुचममि कर्मणा ॥१५॥ (अग्नि-
शाचार्यस्तव) (म० ब्रा० १, ६, १४-१५) 'इति' द्रव्यं 'अपति' स्वयम् । "ब्रह्मवर्ष-
नागामुपमानयस्व" ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १, ६, १६)-'इति' इनामृचं 'वाचयति'
गणवकम् । "को नामामि ? असौ नामास्मि" ॥१७॥ (म० ब्रा० १, ६, १)-'इति'
[मं मन्त्रं पठन् 'तस्य' माणवकस्य नामधेयं ' पृच्छति' ॥ २०-२२ ॥

भा०-आचार्य, उस लड़के के प्रति देखकर दो मन्त्रोंका स्वयं पाठ करे,
ब्रह्मवर्षनागाम्' लड़के से पाठ करावे एवं 'को नामामि' मन्त्र को पढ़ते हुए
उस लड़के का नाम पूछे ॥ २०-२२ ।

अभिवादनीयं नामधेयं कल्पयित्वा देवताश्रयं वा
नक्षत्राश्रयं वा गोत्राश्रयमप्येक उत्सृज्यापामञ्जलिमाचार्यो
दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पाणिं साङ्गुष्ठं गृह्णाति देवस्य
ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णी हस्ताभ्यां हस्तं
गृह्णाम्यसाविति ॥ २३-२६ ॥

'आचार्यः' 'अभिवादनीयं' अभिवादनाय हितं 'नामधेयं' द्वितीयजन्मसू-
चकं नूतनं नाम 'कल्पयित्वा' अमुकनामाहमस्मीति तन्माणवकनामैव तन्मा-
णवकं वाचयित्वा (२३), 'अपामञ्जलिं गृहीतमुदकाञ्जलिम्' 'उत्सृज्य' परित्यज्य,
'देवस्य ते सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णी हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसी'
॥१८॥ (म० ब्रा० १, ६, १८),-'इति' (१) इमं मन्त्रं पठन् 'दक्षिणेन पाणिना' साङ्-
गुष्ठं दक्षिणं पाणिं 'गृह्णाति' (२६) । तच्च द्विजत्वमूचकं नामधेयं कीदृशं कर्त-
यमित्याह;- 'देवताश्रयं' वेदगर्भं ब्रह्मव्रतेत्यादिकं, 'वा' अथवा 'नक्षत्राश्रयं'
आश्विन-रौहिणेत्यादिकं (२४), 'वा' अथवा 'एके' आचार्याः 'गोत्राश्रयं' वेद-
वेत्तेत्यादिकम् 'अपि' नामधेयम् आहुरिति ज्ञेयः (२५) ॥ २३-२६ ॥

भा०-पीछे आचार्य स्वयं अभिवादन समय में कथनीय द्वितीय जन्म-
सूचक एक नयीन नाम कल्पना कर उसे लड़केको "मैं अमुक नाम वाला गुरो
तुम को अभिवादन करता हूँ" कहवा कर लिये हुए जलाञ्जलि को छोड़ कर
"देवस्य ते"-इस मन्त्र का पाठ करते हुए दहिने हाथ से बालक के अंगुठे के
माथे दहिना हाथ ग्रहण करे । यह नाम देवताश्रित, या नक्षत्राश्रित अथवा
गोत्राश्रित होगा (देवताश्रित जैसे-वेदगर्भ, ब्रह्मव्रत, प्रभृति, नक्षत्राश्रित जैसे-
आश्विन, रौहिण प्रभृति, गोत्राश्रित जैसे-वेद, पौरव प्रभृति) ॥ २३-२६ ॥

अथैनं प्रदक्षिणमावर्त्तयति सूर्यस्यावृत्तमन्वावर्त्तस्वासा-
विति ॥२७॥ दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्ववमृश्यात्-
न्तर्हितां नाभिमभिमृशेत् प्राणानां ग्रन्थिरसीति ॥ २८ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् । ‘एनं’ माणवकम् सूर्यस्यावृत्त मन्वावर्त्तस्वासौ ॥ १९ ॥
(न० ब्रा० १६, १९)-‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘प्रदक्षिणां’ यथास्यात्तथा ‘आवर्त्तयति
प्राणानां करोति, आचार्येण ॥ २७ ॥ दक्षिणेन पाणिना’ माणवकस्य ‘दक्षिण
मंसम्’ ‘अन्ववमृश्य’ स्पृशन्नेव “प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्वसीऽन्तक इदं तं
परिददाम्यमुम्” ॥ २० ॥ (न० ब्रा० १, ६, २०)-‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘अनन्त
र्हितां’ वस्त्राच्छादनशून्यां ‘नाभिमृ’ ‘अभिमृशेत्’ संस्पृशेत् आचार्येण ॥ २८ ॥

भा०:-अनन्तर इस बालक को प्रदक्षिणा क्रम से पूर्वाभिमुख कर ‘सूर्यस्य
इस मन्त्र का पाठ करे ॥२७॥ पश्चात् आचार्य्य “प्राणानां ग्रन्थिरसि” मन्त्र
पढ़ते हुए दहिने हाथ से उस बालक को दहिने कांधे पर होकर वस्त्रादि
आवरण शून्य नाभि छूए ॥ २८ ॥

उत्सृप्य नाभिदेशमहुरइति । २९ । उत्सृप्य हृदयदेशं
कृशन्इति । ३० । दक्षिणेन पाणिना दक्षिणमथ्समन्वाल्-
भ्य प्रजापतये त्वा परिददाम्यसाविति ॥ ३१ ॥

माणवकस्य ‘नाभिदेशम्’ ‘उत्सृप्य’ हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा “अहुर इदं ते
परिददाम्यमुम्” ॥ २९ ॥ (न० ब्रा० १, ६, २९)-‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ।
॥ २९ ॥ माणवकस्य ‘हृदयदेशं’ ‘उत्सृप्य’ हस्ताग्रचालनेन स्पृष्ट्वा कृशन् इदं ते
परिददाम्यमुम्” ॥२९॥ (न० ब्रा० १, ६, २९)-‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥३०
दक्षिणेन पाणिना’ माणवकस्य ‘दक्षिणमंसम्’ ‘अन्वाल्भ्य’ स्पृष्ट्वा “प्रजापतये
त्वा परिददाम्यमुम्” ॥२९॥ (न० ब्रा० १, ६, २९)-‘इति’ मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥३१

भा०:-बालक के नाभिदेश में हाथ चलाकर आचार्य ‘अहुरः’ इस मन्त्र
का पाठ करे ॥ २९ ॥ इसी प्रकार हृदयदेश में हाथ चला कर ‘कृशन्ः’ मन्त्र
पढ़े ॥३० ॥ फिर आचार्य दहिने हाथ से बालक के दहिने कांधे को स्पर्श कर
‘प्रजापतये त्वा’ मन्त्र को पढ़े ॥ ३१ ॥

सव्येन सव्यं देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यसाविति । ३२ ।
अथैनं संप्रेष्यति ब्रह्मचार्य्यस्यसाविति समिधमाधेह्यपोऽशा-
न कर्मकुरु मा दिवा स्वाप्सीरिति ॥ ३३-३४ ॥

'सद्येन' वामेन पाणिना, माणवकस्य 'सद्य' वामसंसं स्पृष्ट्वा देवाय स्वा संवित्रे परिदाम्यसी" ॥२४॥ (स० ब्रा० १, ६, २४) - 'इति' मन्त्रं पठेत् आचार्यः ॥३२॥ 'अथ' तदनन्तरम् । आचार्यः, 'एनं' माणवकं त्वमेतन्नामकं, अद्यप्रभृति "ब्रह्मचारी असि" (स० ब्रा० १, ६, २५) - 'इति' हेतोः 'समिधम् आधेहि अग्नौ प्रतिदि- नमेव समिधाधानं कुरु, 'अपोशान कर्म' यथास्थानं यथाप्रयोजनञ्च शौचाचमनादि च कुरु, 'मा दिवा स्वाप्सीः' दिवानिद्राञ्च मा कुरु, - 'इति' समिधमाधेच्छपो शान कर्म कुरु मा दिवा स्वाप्सीः ॥२६॥ (स० ब्रा० १, ६, २६) एतत्त्रितपोपदेश- बोधकं मन्त्रम् पठन् 'सम्प्रेष्यति' उपदिशति । ३२-३४

भा०-इसी प्रकार वांये हाथ से बालक के वांये कांधे को स्पर्श कर 'सवित्रेत्या' मन्त्र को पढ़े ॥३२॥ उस के पश्चात् आचार्य, इस वाराक को "तुम आज से इस नाम से प्रतिदि ब्रह्मचारी होते हो, प्रतिदिन सायं प्रातः अग्नि में समिधादान करना और शौचाचार युक्त रहना, दिनमें न सोना" ये तीन उपदेश देवे ॥३३, ३४॥

उदङ्गनेरुत्सृप्य प्राडाचार्य्य उपविशत्युदगग्रेषु दर्भेषु । ३५ । प्रत्यङ्माणवको दक्षिणजान्वक्तोऽभिमुखआचार्य्य- मुदगग्रेष्वेव दर्भेषु ॥ ३६ ॥

'आचार्यः' 'अग्नेः' 'उदक्' उत्तरस्या उदगग्रेषु दर्भेषु 'प्राङ्' प्राङ्मुखः सन् 'उपविशति' उपविशेत् ॥ ३५ ॥ माणवकः' तत्रैव 'उदगग्रेष्वेव दर्भेषु' 'दक्षिण- जान्वक्तः' भूमिगतदक्षिणजानुकः 'आचार्यमभिमुखः' 'प्रत्यङ्' पश्चिममुखः सन् उपविशेदित्येव ॥ ३६ ॥

भा०-पश्चात् आचार्य अग्नि के उत्तर दिशा में उत्तराग्र रखे हुए कुशों पर पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ३५ ॥ बालक भी उसी स्थान में उत्तराग्र रखे हुए कुशाओं पर अपना दहिना जांच(जानु)भूमि में लगा कर आचार्य के मन्मुख बैठे ॥३६॥

अथैनं त्रिः प्रदक्षिणं मुञ्जमेखलां परिहरन् वाचयतीयं दुरुक्तात् परिवाधमानेत्यूतस्य गोप्त्रीति च ॥ ३७ ॥

'अथ, तदनन्तरम् । आचार्यः 'एनं' माणवकं 'त्रिःप्रदक्षिणं' यथास्थानं यथा 'मुञ्जमेखलां' मुञ्जमयीं रशनां 'परिहरन्' परिधापयन् "इय दुरुक्तात्परिवाध- माना वस्त्रां पवित्रं पुनती मज्जागात् । प्राणापानाभ्यां धलमाहरन्ती स्वप्ना- देवी शुभगा मेखलेयम्" ॥ २७ ॥ (स० ब्रा० १, ६, २७) - 'इति' मन्त्रं, अतस्त्व गोप्त्री तपसः परस्वी प्रती रक्षः सहमाना अरातीः । सा मा समन्तमभिपर्येहि-

भद्रे धर्तारस्ते मेखले मा रिपाम्" ॥२८॥ (स० ब्रा० १, ६, २८) - 'इति' मन्त्रं 'च' 'वाचयति' । अत्रैव यज्ञोपवीतपरिधापनव्यवहारश्च, परं कौशुमानां सूत्रकारा-
नुरुलेखादकृतेऽपि न दोष इति नव्याः । वस्तुतो वेदाध्ययनायाचार्यसमीपे नय-
नमेधोपनयनं, यज्ञोपवीतधारणन्तु दैवकार्यानुष्ठानार्थमेव सूत्रकारेण विहित-
मिति यदायदैव दैवकार्यं कर्तव्यं भवेत् तदा तदैव धार्यं स्यादिति न क्षतिः,
शिखापरिरक्षणन्तु सर्वथैव कार्यमेवान्यथा दैवकार्यकाले कुतश्चायास्यतीति ॥३७॥

भा०-आचार्य, उस बालकको सूज की बनीहुई मेखला, तीन फेरा करके
पहना कर 'इयं दुरुक्तात्' और 'ऋतस्य' गोपत्री इन दो मन्त्रोंको पढ़ावे ॥३७॥

अथोपसीदत्यधीहि भोः सावित्रीं मे भवाननुब्रवी-
त्विति । ३८ । तस्माअन्वाह पच्छोऽर्द्धंश्च ऋक्शइति महा-
व्याहृतीश्च विहृता ओंकारान्ताः ॥ ३९-४० ॥

'अथ' तदनन्तरम् । माणवकः 'भोः !' 'अधीहि' अध्यापय, 'भवान् मे
सावित्रीम् अनुब्रवीतु' - 'इति' प्रार्थनावाक्यद्वयं कथयन् 'उपसीदति' शरणगतो
भवति । ३८ । ततश्च 'तस्मै' माणवकाय, प्रथमं 'पच्छः' पादं पादं कृत्वा, ततः
'अर्द्धंश्चः' अर्द्धंमर्द्धं च कृत्वा, तदन्ते च 'ऋक्शः' "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" ॥ २९ ॥ पूर्णांमृचनावर्त्तयित्वा 'इति' एवमेव
'अन्वाह' अनुक्रमेण ब्रूयात् (३९) 'च' अपि 'विहिताः' विभिन्नीकृताः (१)
'ओंकारान्ताः' 'महाव्याहृतीः' "भूर्भुवस्वः" (स० ब्रा० १ । ६ ।) इति अनुब्रूयात् ततः
ओं इत्यस्याप्युपदेशः कार्य इत्यर्थः ॥ ३९, ४० ॥

भा०:-अनन्तर बालक गुरु के निकट हाथ जोड़, नम्रता पूर्वक प्रार्थना करे
कि-हे गुरो ! मुझे वेद पढ़ावें, एवं सावित्री उपदेश करें ॥ ३८ ॥ इसी प्रकार
बालक कर्तृक वेदाध्ययन एवं उसका आरम्भ सूचक सावित्री मन्त्र के प्रथम
उपदेश प्रार्थित होने पर आचार्य उसे पहिले एक २ धरण करके, पुनः आधी २
श्रवण, फिर सम्पूर्ण ऋचा वार २ श्रावृत्ति करा देवे। तदनन्तर "भूः, भुवः, और
स्वः"-इन तीन महाव्याहृतिथीको अलग २ एवं ३ंकारभी अभ्यास करावे ॥३९,४०॥

वार्क्ष्वास्मै दण्डं प्रयच्छन् वाचयति सुश्रवसं मा कुर्विति । ४१

,च' ततः 'अस्मै' माणवकाय 'वाक्षे' पलाशवृक्षावयवं दण्डं 'प्रयच्छन्'
शुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु यथा त्वथंशुश्रवः सुश्रवाः । देवेष्वेव महथंशुश्रवःसुश्रवा
प्राक्सणेपु भूयासम्" ॥ ३९ ॥ (स० ब्रा० १, ६, ३९) - 'इति' मन्त्रं 'वाचयति'
माणवकमेव । ४१

भा०:-पश्चात् आचार्य, इस माणवक के हाथ में पलाश वृक्ष का दण्ड देकर "सुश्रवसः सुश्रवसं मा कुतः" इस मन्त्र का पाठ करावे ॥ ४१ ॥

अथ भैक्षं चरति मातरमेवाग्रे द्वे चान्ये सुहृदौ यावत्यो वा सन्निहिताः स्युराचार्याय भैक्षं निवेदयति ॥ ४२-४४ ॥

'अथ' उपनयनानन्तरं 'भैक्षं' भिक्षार्थं 'चरति' अटति (४२) 'अग्रे' 'मात-रमेव' भिक्षेतेति शेषः । 'च' अपि मातुरेव 'अन्ये द्वे सुहृदौ' ततः परं भिक्षेत । 'वा' अथवा 'यावत्यः' स्त्रियः 'सन्निहिताः' तत्रोपस्थिताः स्युः, ताः सर्वाएव मात्रा-दिक्रमेषां प्रथमं भिक्षेत । 'पुरुषभिक्षास्य नात्रोल्लेखइत्यपि ध्येयम् (४३) । संग्रहीतञ्च तद्भैक्षं भिक्षात् सर्वमेव आचार्याय 'निवेदयति' उत्सृजति (४४)

भा०:-इस प्रकार उपनयन होने पर बालक भिक्षाचरण करे । पहिले माता से भिक्षा मांगे, तदनन्तर माता के दो सुहृद् के निकट, या उस स्थान में जितनी स्त्रियां उपस्थित हों, माता से आरम्भ कर सब ही के निकट भिक्षा ग्रहण करे * । सब भिक्षा को संग्रह कर आचार्य को निवेदन करे ॥ ४२-४४ ॥

तिष्ठत्यहःशेषं वाग्यतः ॥ ४५ ॥

भिक्षाचरणान्तकर्मयापितदिवाबहुभागो माणवकः 'अहःशेषं' तद्दिनावशि-ष्टांशं 'वाग्यतः' संयतवाक् सन् 'तिष्ठति' तिष्ठेत् अवस्थितिं कुर्यात् ॥ ४५ ॥

भा०:-इन कार्यों के करने में बालक का प्रायः सारा दिन बीत जायेगा, जो कुछ दिन का भाग शेष रह जावे, उसको धुपचाप स्थिरता से विश्रान करते हुए बितावे ॥ ४५ ॥

अस्तमिते समिधमादधात्यग्नये समिधमाहार्पमिति ॥ ४६ ॥

* 'अस्तमिते' दिवाकरे अग्नये समिधमाहार्पं वृद्धते जातवेदसे । यथा त्व मग्ने समिधा समिधस्येवमहमायुषा मेधया वर्ध्मसा प्रजया पशुभिर्ग्रह्मवर्धसेन धनेनावाद्येन समिधिपीय (स्वाहा) ॥ ३२ ॥ (म० ब्रा० १, ६, ३२) - 'इति' मन्त्रं पठन् 'समिधम्' समित्काष्ठिकम् 'आदधाति' अग्न्याविति शेषः ॥ ४६ ॥

भा०:-पीछे सूर्यास्त होने पर "अग्नये समिध माहार्पम्" मन्त्र को पढ़ते हुए अग्नि में एक समित् काष्ठ डाले ॥ ४६ ॥

* पुरुष के निकट भिक्षा मागने वा शीर्ष उल्लेख न होने से ज्ञान पड़ता है कि भिक्षा देना कार्य गृहिणी ही का है । साधारणतः भी भिक्षुक लोक गृहस्थ के घर पर " भिक्षा दो माई ११ बोल कर भिक्षा मागा करते । वारि म ऋष्याचारी गण भी गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होकर " भवति भिक्षा देहि ११ इस वाक्य द्वारा भिक्षा मागने है, इस लिये पिना आदि के निकट भिक्षा प्रार्थना और ग्रहण व्यवहार, पिना आदि के भिक्षा दान वाग्द्वारा की सकृत्ता मन्त्र के लिये है ॥

त्रिरात्रमक्षारलवणाशी भवति ॥४७॥ तस्यान्त सावित्रश्रुः४८
यथार्थम् ॥ ४९ ॥ गौर्दक्षिणा ॥५० ॥ १० ॥

‘त्रिरात्रं’ तद्दिनप्रभृतिर्द्विदिनत्रयम् ‘अक्षारलवणाशी’ क्षारलवणभिन्नभोजी
‘भवति’ भवेत् ॥४७॥ ‘तस्य’ दिनत्रयस्यान्ते चतुर्थांहे ‘सावित्रः’ सवितृदेवताकः
‘श्रुः’ पक्षव्ययः होतव्यश्चेति सुतरामागतः ॥४८॥ अनन्तरं ‘यथार्थम्’ यथाप्रयोजनं
विहरणविश्रामादिकं कुर्यात् ॥ ४९॥ उपनयनसंस्कारस्यैतस्य ‘दक्षिणा’ ‘गौः’ एकै-
वेति समाप्तमुपनयनम् ॥ ५० ॥ १० ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेद्वितीयप्रपाठकेदशमखण्डस्यध्याख्यानंसमाप्तम् ॥२.१०

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयः प्रपाठकः ॥ २ ॥

भा०:-उपनयन दिन से तीन दिन पर्यन्त क्षार लवण न खावे ॥ ४७ ॥
इन तीन दिन के पीछे चरु-पाक करके सविता देवता के उद्देश से आहुति
प्रदान करे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार उपनयन संस्कार शेष होने पर अन्य कार्य जो
हो, अपनी इच्छानुसार करे ॥ ४९ ॥ इस उपनयन संस्कार की दक्षिणा एक
गौ मात्र है ॥ ५० ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के द्वितीय प्रपाठक के दशमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥२.१०॥

और गोभिलगृह्यसूत्र का द्वितीय प्रपाठक भी समाप्त हुआ ॥ २ ॥

—:०:—

अथ तृतीयप्रपाठकः ।

अथातः षोडशे वर्षे गोदानम् ॥१॥ चूडाकरणेन केशान्त-
करणं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

‘अथ’ प्रकरणान्तरद्योतनाय । ‘अतः’ उपनयनकालतः षोडशे वर्षे तथाच
यस्य गर्भाष्टमोऽब्देभूतमुपनयनं तस्य गर्भचतुर्विंशब्दे, एवं यस्य नवमादि षोड-
शाब्दान्ते एवोपनयनं तस्य पञ्चविंशादि द्वात्रिंशाब्दान्ते ‘गोदानम्’ नाम संस्का-
रविशेषं कार्थ्यम् ॥१॥ अस्मिंश्च कर्मणि केशवपनं कर्त्तव्यम्, - तच्च ‘केशान्तकरणं’
‘चूडाकरणेन’ पूर्वोक्तेन ‘व्याख्यातम्’ कथितम् ; चूडाकरणवत् कर्त्तव्यमित्यर्थं ॥२॥

भा०:-उपनयन काल से सोलहवें वर्ष में अर्थात् जिस का गर्भ काल से
गिनती कर आठवें वर्ष में उपनयन हुआ है, उस के गर्भसे २४ वें वर्ष में, और
जिस का नवम आदि १६ वर्ष की अवस्था में उपनयन हुआ हो उस का २५
वर्ष से ३२ वर्ष की उमर में गोदान संस्कार करे ॥ १ ॥ इस समावर्तन कार्य में
जो केश फटाना पड़ता है वह पूर्वोक्त चूडाकरण के नियमानुसार होगा ॥२॥

ब्रह्मचारी केशान्तान्कारयतेसर्वाण्यङ्गलोमानिसंहरयते ३,४॥

'ब्रह्मचारी' ब्रह्मवेदः, तद्ग्रहणाचारविशिष्टः आद्याश्रमी, यदैव 'केशान्तान्कारयते' तदैव 'सर्वाणि अङ्गलोमानि संहरयते' कक्षवदोपस्थशिखाकेशानपि घापयेदित्यर्थः । ३, ४ ॥

भा०:-ब्रह्मचारी अर्थात् वेदाध्ययनाद्वार युक्त आद्याश्रमी जिस समय केश कटावे । उस समय कक्ष, (वगल) वक्ष, (छाती) उपस्थ, (लिङ्ग) और शिखा पर्यन्त के रोम कटावे ॥ ३, ४ ॥

गोमिथुनं दक्षिणा ब्राह्मणस्य अश्वमिथुनं क्षत्रियस्य
अविमिथुनं वैश्यस्य गौर्वैव सर्वेषाम् ॥ ५-८ ॥

अस्य हि गोदानकर्मणः 'दक्षिणा' 'गोमिथुनं' गोद्वयम् आचार्याय देयम् 'ब्राह्मणस्य' कर्त्ता ब्राह्मणश्चेदित्यर्थः (५) । 'क्षत्रियस्य' अश्वमिथुनम् अश्वद्वयं गोदानकर्मणः दक्षिणा (६) । 'वैश्यस्य' 'अविमिथुनं' मेघद्वयं दक्षिणा (७) । 'वा' अथवा 'गौः एव' 'सर्वेषां' ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दक्षिणा (८) । तथाहि ब्राह्मणब्रह्मचारी, वैश्यब्रह्मचारी च स्वस्वाचार्याय गोद्वयमेव दक्षिणा वेदाध्यापनस्यदेयेति । ५-८ ॥

भा०:-इस गोदान [संस्कार (समावर्तन) की दक्षिणा ब्राह्मण यदि ब्रह्मचारी हो, तो अपने आचार्य को दो गौ, ॥५॥ यदि क्षत्रिय हो, तो छः घोड़े देवे ॥ ६ ॥ और वैश्य होतो दो भेड़ा देवे ॥७॥ या ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही गौ ही दक्षिणा देवें ॥ ८ ॥

अजः केशप्रतिग्राहाय ॥ ९ ॥

'केशप्रतिग्राहाय' केशप्रतिग्रहकर्त्रे नापिताय 'अजः' पुमान् छागः एकएव दक्षिणा देया सर्वजातिब्रह्मचारिभिरिति ॥ ९ ॥

भा०:-केश लोम आदि कटवाने पर जो केशादि को फेकता है अर्थात् नापित उसे, उस के परिश्रमार्थ एक छाग देवे ॥ ९ ॥

द्वितीयाश्रमग्रहणस्य सर्वाधिकृतालाभपक्षास्तीति ज्ञायेत् एव चेत्, आचार्याय गोदक्षिणादानानन्तरमपि "अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमपि"-इति ब्रह्मचर्याश्रमएवावलम्बनीयइति पुनरपि आचार्यान्तिकमुपनीतोभवेत्, तस्यैवाचार्यस्यान्तिके स्थितो ब्रह्मापरपर्यायवेदालोचनमास्थोद्वाहकालं प्रतीक्षेतेति । तत्रोपनयनेतिकत्तंश्र्यतामाह :-

भा०:-[यदि ब्रह्मचारी को समावर्तन के अनन्तर ग्रहणाश्रम (यियाह) ग्रहण

करने में एक वर्ष से अधिक विलम्ब जान पड़े, तो आचार्य को दक्षिणा देने पर भी 'एक क्षण अनाश्रमी न रहे' के अनुसार उसी ब्रह्मचर्याश्रम का अवलम्ब लेना चाहिये, इस लिये पुनः आचार्य के समीप उपनीत हो। अर्थात् पूर्ववत् नियम से अघार्य के निकट रहकर ब्रह्म के अर्थात् वेद की आलोचना करते हुये अपने विवाह की प्रतीक्षा करे। यह दोवार उपनयन किस रीति से होगा सो अधिम सूत्र से कहते हैं]

उपनयनेनैवोपनयनं व्याख्यातं न त्विहाहतं वासो नियुक्तं नालङ्कारः ॥ १०-१२ ॥ नाचरिष्यन्तश्चसम्बत्सरमुपनयेत् ॥ १३ ॥

'उपनयनेन' पूर्वोक्तेनैव 'उपनयनम्' एतदपि 'व्याख्यातम्' कथितम् (१०)। विशेषस्तु 'इह' उपनयने 'अहतं वासः' न नियुक्तम् (११)। किञ्चिह 'अलङ्कारः' अपि न नियुक्तः इत्येव (१२)। १०-१२ ॥ एतदुपनयननिषेधमाहः— एतदुपनयनतः 'संबत्सरम्' अपि 'अचरिष्यन्तं' ब्रह्मचर्यव्रतानुष्ठानं न करिष्यन्तं ब्रह्मचारिणां 'न उपनयेत्' पुनरुपनीतीभवनस्य प्रयोजनं नास्तीति भावः। समाप्तं गोदानम् ॥ १३ ॥ ब्रह्मचारिणां ब्रह्मचर्यावस्थायां यथा यथाचरणां कर्त्तव्यं, यद् यच्च व्रतमनुष्ठेयम्, अतस्तद्वक्तुमारभतेः—

भा०:—पूर्वोक्त उपनयन कथन द्वारा यह कहा गया है कि विशेष इस उपनयन में अखण्ड वस्त्र एवं अलङ्कार की आवश्यकता नहीं ॥ १०-१२ ॥ इस उपनयन के पीछे एक वर्ष काल भी जो ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान न करना निश्चित ही, अर्थात् समावर्त्तन के पीछे एक वर्ष के मध्य ही में जिसके विवाह होने की सम्भावना हो, उस को इतने कम दिन के लिये पुनः उपनीत होने की आवश्यकता नहीं ॥ १३ ॥ अत्र ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्यावस्था में क्या ३ कर्त्तव्य हैं, सो कहते हैं:—

वार्षज्ञास्मै दण्डं प्रयच्छन्नादिशति ॥ १४ ॥ आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात् ॥ १५ ॥

उपनयनकाले यदा माणवकाय 'वार्षं दण्डं प्रयच्छन्' तदैव 'आदिशति' अनुसूत्रवदयमाखान् उपदेशानिति ॥ १४ ॥ ते चोपदेशादने:—(१) 'अधर्माचरणात् अन्यत्र' अधर्माचरणाभाचार्यस्य नानुकरणीयम् अधर्मापदेशश्च न श्रवणीयः, ततोऽन्यत्र सदा सर्वथैव 'आचार्याधीनो भव' आचार्याज्ञाकारी आचार्याभिमतानुगामी च भव, इति प्रथमोपदेशः ॥ १५ ॥

भा०:—उपनयन काल में जय. माणवक को दण्ड प्रदान करे उस समय

वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा कहे हुए उपदेशादि देवे ॥१४॥ आचार्य्य का यदि कोई अधर्माचरण देखो, तो उस का अनुकरण न करना, और आचार्य्य यदि अधर्म करने कहें तो, उसे भी न करना; अधर्माचरण को छोड़ कर सर्वथा आचार्य्य, जय जो करने कहें, उस समय वही करो, एवं सततकाल आचार्य्य के मतानुगामी रहने की चेष्टा करो ॥ १५ ॥

क्रोधानृते वर्जय ॥१६॥ मैथुनम् ॥१७॥ उपरि शय्याम् ॥१८॥
कौशीलवंगन्धाञ्जनानि ॥ १९ ॥

(२३) 'क्रोधानृते' क्रोधम्, अनृतम् मिथ्याव्यवहारञ्च 'वर्जय' सत्यपि क्रोधकारणे क्रोधकार्यं विवादादिकं ना कुरु, किञ्च मिथ्याभाषणादिकमपि न कार्यम् ॥ १६ ॥ (४) 'मैथुनं स्त्रीसङ्गं वर्जय इत्येव सर्वत्र ॥ १७ ॥ (५) 'उपरि शय्यां' गुरुशय्यातः उच्चैः शयनं वर्जय । इति पञ्चमोपदेशः ॥ १८ ॥ (६,७,८) कौशीलवं नृत्यगीतवादित्राद्यनुष्ठानम्, गन्धः घृष्टमलयजादिको माल्याद्युत्थश्च, अञ्जनं अक्षुयोः शोभासम्पादकम्; एतान्यपि त्रीणि वर्जय । अत्रापि यथा चाध्यायनस्य व्याघातकरी मनोजाविर्भावः स्यादेवं कौशीलवादिर्कं वर्जयेत्, न तु सामादिगीतवादित्रचर्चां, नापि गुरुप्रसादगन्धमाल्यादिं, न च रोगाद्युपशमनायाञ्जनव्यवहारं वर्जयेत् अतएवमनुनाम्भ्यायि "यः स्वग्व्यपि द्विजोऽधीते" इत्यादि १९

भा०:-क्रोध के कोई कारण होने पर भी क्रोध प्रकाश पूर्वक विवादादि न करना एवं झूठ धोखनादि कर्म भी न करना ॥१६॥ स्त्री प्रसङ्ग न करना ॥१७॥ गुरु की शय्या की अपेक्षा अपनी शय्या ऊंची न करना ॥ १८ ॥ जिसे मनोविकार उत्पन्न हो, ऐसा नृत्य, गीत, वाजा, आदि की चर्चा, चन्दन, और मालादिगन्ध का व्यवहार एवं आंखों में अञ्जन धारण आदि न करना ॥ १९ ॥

स्नानम् ॥२०॥ अवलेखनदन्तप्रक्षालनपादप्रक्षालनानि ॥२१॥

(८) 'स्नानम्' जलक्रीडापूर्वकं, वर्जय ॥ २० ॥ (१०,११,१२) 'अवलेखनं' मुखशोभनालकातिलकादि 'दन्तप्रक्षालनं' दन्तमलदूरीकरणायैव यावदावश्यकं तदतिरिक्तं दन्तशोभादिसम्पादनाय तुत्थरञ्जनादिनोपसेवनम्, 'पादप्रक्षालनं' आधश्यकतिरिक्तम्; इमानि च त्रीणि वर्जय ॥ २१ ॥

भा०:-जल क्रीडा पूर्वक स्नान न करना ॥२०॥ अलका तिलक द्वारा मुख को सुन्दर करना, तुत्थकादि द्वारा दांत रंगना एवं आवश्यकता के अतिरिक्त बहुत देर तक पैर न धोना ॥ २१ ॥

क्षुरकृत्यम् ॥ २२ ॥ मधुमांसे ॥ २३ ॥ गोयुक्तारोह-
णम् ॥ २४ ॥ अन्तर्ग्रामउपानहोर्धारणम् ॥ २५ ॥

(१३) 'क्षुरकृत्यम्' क्षुरेण केशलोमादिनां वापनं वर्जय । पूर्व यदुक्तं ब्रह्मचारीत्यादि सूत्रद्वयं केशवपनव्यवस्थापरकं तत् समावर्त्तनाद्गभूतं बोध्यम् । ॥ २ ॥ (१४, १५) 'मधु' सारघम् वर्जय । २३ । (१६) गोयुक्ते शकटादौ आरोहणं वर्जय ॥ २४ ॥ (१७) 'अन्तर्ग्रामे' ग्राममध्ये 'उपानहोः' चर्मपादुकयोः 'धारण' वर्जय । २५ ।

भा०:-क्षुर (अस्तरा) के द्वारा केश, लोम, आदि का मुण्डन न करावे ॥२२॥ * मधु मक्खियों द्वारा एकत्र किया शहत एवं मांस भी न खावे ॥ २३ ॥ गौ द्वारा की मवारी चलायी जावे, उस पर भी न चढ़े ॥ २४ ॥ ग्राम के मध्य ही कर जूता न पहने ॥ २५ ॥

स्वयमिन्द्रियमोचनमिति ॥ २६ ॥ मेखलाधारणभैक्षच-
र्यदण्डधारणसंमिदाधानोदकोपस्पर्शनप्रातरभिवादा इत्येते
नित्यधर्माः ॥ २७ ॥

(१८) 'स्वयमिन्द्रियमोचनम्' हस्तमैथुनञ्च वर्जयेत्येव । 'इति' इमेष्टा-
दण्डे वर्जनीया गताः । २६ । कर्त्तव्यानुपदिशति;- (१-५) मेखलाया धारणम्,
भिक्षाचारिणीभावावलम्बनम्, दण्डस्य धारणम्, समिधः आधानम्, उदकाना-
मुपस्पर्शनपूर्वकमीश्वरोपासनम्, प्रातरुत्थायैव गुरुजनेभ्योऽभिवादनम्, 'इति
एते' पञ्च व्यवहाराः नित्यधर्माः प्रतिदिनकर्त्तव्याः । २७ । ब्रह्मचारिणां चत्वारि
वेदव्रतान्यनुष्ठेयानि गोतमेनोक्तानि चाचार्योप्ययमाह:-

भा०:-हस्त मैथुन * न करना । ये, १८ उपदेश समाप्त हुए ॥२६॥ मेखला
धारण, भैक्ष मांस कर मेट भरना, दण्ड धारण, समिदाधान, जल से हाथ पैर
धोकर ईश्वरोपासना, एवं प्रातः ही उठ कर गुरु जनों को अभिवादन, ये पांच
कर्म प्रति दिन कर्त्तव्य हैं ॥ २६, २७ ॥ समावर्त्तन के पीछे ब्रह्मचारी की और
४ व्रत करना चाहिये सो कहते हैं ।

गोदानिकव्रातिकादित्यव्रतौपनिषदज्यैष्ठसामिकाः संव-
त्सराः ॥ २८ ॥

* रग के पूर्व ३ य सूत्र में जो वेश मुण्डन की व्यवस्था बड़ी गयी है, वह समावर्त्तन सरकार में वर्त्तन
द्वितीय गुणे है ही वा वितेन विभिन्न है ॥ •• यह दुर्गुन प्राप्त कर—रत्न एवं वातिय के लक्षणों में कथित
पदा न वा है रग का कारण शिष्य का अज्ञान है ॥

‘संघत्तराः, पूर्वोक्ताः उपनयनतः षोडशसंख्याकाः, गोदानिकादिकाः भवे-
युरित्यर्थः । तत्र षोडशाब्देषु, केचनाब्दाः ‘गोदानिकाः’ स्युः, अत्र वेदग्रन्थानां
सर्वेषामेवाध्ययनं समाप्यम् । केचनाब्दाः ‘व्रातिकाः’ स्युः विशेषतोऽत्रारण्यसं-
हितोक्तव्रतपर्वशासनेवानुशीलनं कर्त्तव्यम् । केचनाब्दाः ‘आदित्यव्रतौपनिषदाः
स्युः, अत्र आदित्यव्रतसाम्नामुपनिषद्ब्राह्मणस्य चानुशीलनं प्रधानतः कर्त्त-
व्यम् । केचनाब्दाः ‘ज्येष्ठसामिकाः’ स्युः अत्र तु ज्येष्ठसाम्नां त्रयाणामेवानुशी-
लनं प्रधानतः कार्यमिति । यद्यपीमे षोडशैवाब्दाः गोदानिकाः परन्तत्राप्युत्त-
राब्दानां व्रातिकादिविशेषपरिचयसत्त्वादाद्याब्दानां कतिपयानां तदभावात्
केचनाब्दाः प्रथमादयः सामान्यतो गोदानिका इत्येवाख्यायन्ते, पराब्दाश्च
विशेषतो व्रातिकेत्यादिभिः प्रसिद्धाः । यथा च सामवेदीय आर्चिकः सर्वेष्व-
छन्दीमय स्तथापि उत्तरदलस्य उत्तरार्चिकइति विशेषनामप्रसिद्धेः पूर्वस्य तु
‘छन्दः’ इत्येव । यथापि ज्योतिःशास्त्रे, ग्रहादीनां सर्वेषामेव दशाकालानां
यदुत्वेऽपि निजभीम्या वर्षाः मासा वा तत्र स्वल्पाएव भवन्तीति ॥ २८ ॥

भा०—उपनयन से १६ वर्ष ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन कर ब्रह्मचारी कर्त्तव्य
वेदाध्ययनादि सम्पूर्ण होने पर आचार्य्य को दक्षिणा स्वरूप दो गौ दान देकर
अपने घर लौट जाता, इसी कारण २४ वर्ष के वयस में कर्त्तव्य उस संस्कार
को ‘गोदानिक’ एवं ‘समावर्त्तन’ कहते हैं । इस १६ वर्ष के बीच, ४ व्रत करने
पड़ते हैं और उस के अनुयायी ही यह षोडशाब्द चार नाम से प्रसिद्ध हो
जाता है । उन में से जो कई एक वर्षों में वेद ग्रन्थ समस्त का अध्ययन सामा-
न्यतः समाप्त होगा उसे गोदानव्रत एवं उस कई एक वर्षको उस का अनुयायी
‘गोदानिक अर्थ’ कहते हैं । उस के पश्चात् जो कई एक वर्ष में पुनः “अरण्य
संहिता” के व्रत पर्व का विशेष अनुशीलन करना होता, उस कई एक वर्ष को
‘व्रातिकाब्द’ कहते । अगन्तर जो कई एक वर्ष में “आदित्य व्रत” नाम आदि
और उस के साथ उपनिषद् ब्राह्मण का विशेष अनुशीलन करना पड़ता, उस
कई एक वर्ष को “आदित्य व्रतौपनिषद् अर्थ” कहते । इसी प्रकार शेष के
जिस वर्ष में, या कई एक वर्ष में ज्येष्ठसाम आदि का विशेष अनुशीलन
किया जाता, उस कई एक वर्ष को “ज्येष्ठ सामिक अर्थ” कहते । यद्यपि वस्तुतः
ये षोडशाब्द ही “गोदानिक” है, किन्तु जिस प्रकार सामवेदीय आर्चिक
ग्रन्थ का आद्यन्त सब ही छन्दीमय होने पर भी उत्तर दल का ‘उत्तरा’ यह
विशेष नाम रहने से पूर्व दल मात्र को ही ‘छन्दः’ कहते; उसीप्रकार इस
स्थान में भी उत्तराब्द आदि का व्रतादि विशेष नाम रहने से प्रथमादि कई

एक वर्ष मात्र को 'गोदानिक' शब्द कहते । ज्योतिष शास्त्र में भी ग्रहों की दश समधिक काल होने पर भी प्रथम कई एक वर्ष, या कई एक मास मात्र उस ग्रह की 'अपनीदशा' कह कर परिचित होती ॥ २८ ॥

तेषु सायं प्रातरुदकोपस्पर्शनम् । ॥ २९ ॥ आदित्यव्रत-
न्तु न चरन्त्येके ॥ ३० ॥

'तेषु' गोदानिकादिषु चतुर्ष्वेव व्रतेषु 'सायंप्रातः' 'उदकोपस्पर्शनम्, आशम-
नादिपूर्वकमीश्वरोपासनं कार्यम् ॥ २९ ॥ 'एके' 'आदित्यव्रतन्तु' न 'चरन्ति'
उपनिषद्ब्रतमेव केवलमाचरन्ति न पुनरादित्यव्रतयुक्तं तदिति भावः ॥३०॥

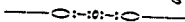
भा०:-इन्हीं गोदानिक आदि चार व्रतों में सायंकाल एवं प्रातःकालमें आश-
मन आदि करके यद्योक्त रीति से ईश्वरोपासना करे ॥२९॥ अनेक लोग "उप-
निषद्" व्रत के साथ "आदित्यव्रत" का अनुशीलन नहीं करते ॥ ३० ॥

ये चरन्त्येकवाससो भवन्त्यादित्यञ्च नान्तर्दधतेऽन्यत्र वृक्षशर-
णाभ्यानापोऽभ्यवयन्त्यूद्धर्ध्वं जानुभ्यामगुरुप्रयुक्ताः ॥३१-३३-१

'ये' तु 'चरन्ति' चरेयुः, ते 'एकवाससः' उत्तरीयहीनाः 'भवन्ति' भवेयुः
तावत्कालमिति तेषां प्रति प्रथमोपदेशः । 'व' पुनः 'वृक्षशरणाभ्याम् अन्यत्र'
'आदित्यं न अन्तर्दधे' वृक्षच्छायां गृहे च भवत्येवादित्यान्तर्धानम् ततोऽन्यत्र
आदित्यान्तर्धानाय यत्रादिकं न व्यवहरेयुरिति द्वितीयः । 'अगुरुप्रयुक्ताः'
गुरुभिः विशेषकार्यार्थमननुज्ञाताः 'जानुभ्यामूद्धर्ध्वम् अपः' जानुद्वयाधिकान्य-
दकानि 'न अभ्यवयन्ति' नावतरन्ति गंभीरनदीपारं न गच्छेयुरिति तृतीयोप-
देशः । ३१-३३ । १

इति सामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके प्रथमस्य षडस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥३१

भा०:-जो लोग 'आदित्यव्रत' के साथ 'उपनिषद्ब्रत' अवलम्ब्य करते हैं,
उन को निम्न लिखित तीन व्रत अवलम्बन करना चाहिये । प्रथम-जब तक
इन व्रत का अनुष्ठान करे, उत्तरीय वस्त्र का व्यवहार न करे, एक ही वस्त्र से
नियाँह करे । द्वितीय, तब तक, घर एवं वृक्ष के अतिरिक्त सूर्य को तिरोहिन
(छिपाये) न करे अर्थात् छाते आदि का व्यवहार न करे । तृतीय, तब तक, गुरु की
विशेष प्राप्ता बिना, जानु परिमाण जल से समधिक जल में न जाये ॥३१-३३॥
गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथमस्य षडकाभाषानुयादममाप्तुश्चा ॥ ३ । १ ॥



द्वादशमहानाम्निकाः संवत्सरा नवपट्त्रय इति विकल्पः । १-३

[प्र० ३ खं० १ सू० २९-३३, खं० २ सू० १-१०] समावर्तनब्रह्मचारिकृत्यञ्च ॥ ११३

‘महानान्निकाः’ महानाम्निसामानुशीलनसाध्याः ‘संवत्सराः’ द्वादश, नव, षट्, त्रयः-‘इति विकल्पः’ अस्ति । इमे च काम्यव्रतसाधना द्वादशादिका श्रवदाः गोदानिकपोडशाब्दतोऽतिरिक्ता ज्ञेयाः । १-३ ॥

भा०:-“महानाम्नी” नाम से प्रसिद्ध सामानुशीलन-साध्य व्रत करे, वह १२, ९, ६, या ३ वर्षों में पूरा होगा । ये द्वादश आदि वर्ष, पूर्वोक्त १६ वर्ष से अतिरिक्त है । जो लोग इस काम्यव्रत के अनुष्ठान करने की इच्छा करें, वे, पीडशाब्द में गोदानादि चारो व्रत अनुष्ठान करके अवश्य कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य्य समाप्त कर और यथा सामर्थ्य १२, ९, ६ वा ३ वर्ष और भी ब्रह्मचर्य्य करें । इस व्रत का फल आगे कहा जावेगा ॥ १-३ ॥

संवत्सरमप्येके । ४ । व्रतन्तु भूयः पूर्वैश्चेद्भ्रुतामहानाम्न्यः ॥ ५, ६

‘संवत्सरम्’ ‘अपि’ तस्य साम्नीऽनुशीलनम् ‘इति’ ‘एके’ आचार्या वदन्ति । ४ ‘तु’ अपि ‘व्रतम्’ एकवार्यिकमेवेदम् ‘भूयः’ बहु मन्येत, यदि ‘चेत्’ ‘पूर्वैः’ व्रतमाह्वलैः ‘महानाम्नयः’ ‘श्रुताः’ अनुशीलिताः स्युः । ५, ६ ॥ ‘एतत्काम्यकर्म शोषहृद्दरताबोधनाय वेदश्रुतं लौकिकप्रवादं दर्शयति ;-

भा०:-कोई २ आचार्य्य कहते हैं कि एक ही वर्ष इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४ ॥ यदि इस व्रत के अनुष्ठान के पूर्व “महानाम्नीसाम” की रीत्यनुसार शिक्षा हो जावे, तो यहीं एक वर्ष व्रत पचैष्ट है ॥ ५, ६ ॥

अथाहि रौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति ॥ ७-९ ॥

‘अथापि’ ‘रौरुकि ब्राह्मणं’ रौरुकिनामब्राह्मणोक्तं लौकिकप्रवादवचनं ‘भवति’ अस्ति । किन्तत् ? इत्युच्यते-‘ह’ निश्चयं पुरा ‘मातरः’ ‘कुमारान्’ स्वपुत्रान् ‘पाययमानाः’ स्तन्यमिति यावत् आहुः स्म’ उक्तवत्यः । किमुक्तवत्यः तदाह “हे ‘पुत्रकाः !’ यूयं ‘शक्वरीच्छन्दोमूलकमहानाम्नीनां’ ‘व्रतम्’ अनुशीलननियमं ‘पारयिष्णवः’ ‘भवत’-‘इति’ १७-९ ॥ इदानीं तद्ब्रतकालेष्वनुष्ठेयानाह-

भा०:-“रौरुकिब्राह्मण” (ग्रन्थ) में एक लौकिक प्रवाद है कि मातृगण अपने पुत्रादिक को स्तन्य पान कराते २ कहती हैं कि “ हे वत्स ! शक्वरी व्रतानुष्ठान के नियम को पार करने में समर्थ होओ ” । महानाम्नी साम की अस्थि स्वरूप पद्य मन्त्र आदि शक्वरी छन्द है ॥ ७, ८, ९ ॥

तास्वनुसवनमुदकीपस्पर्शनम् । १० नानुपस्पृश्य भोजनं

प्रातः । ११ सायमुपस्पृश्याभोजनमासमिदाधानात् ॥१२॥

(१) 'तासु' शकरीषु शकरीसाधनायेति यावत् । 'अनुसवनम्' प्रतिसन्ध्यम् 'उदकोपस्पर्शनम्' जलैर्हस्तपादादिकं विधूयेश्वरोपासनं कर्त्तव्यमिति प्रथमनियमः ॥१०॥ (२) प्रतिसन्ध्यम् 'अनुपस्पृश्य' ईश्वरोपासनायोदकस्पर्शनमकृत्वा 'प्रातर्भोजनम्' अपि न कर्त्तव्यम् ॥ ११ ॥ (३) 'सायम्', 'उपस्पृश्य' अपि 'आसमिदाधानात्' समिदाधानात् प्राक् 'अभोजनं' भोजनं न कर्त्तव्यम् ॥१२॥

भा०:—उस महानाम्नी व्रत में प्रत्येक सन्धिकाल में जल से हाथ पैर आदि धोकर ईश्वरोपासना करे ॥ १० ॥ प्रति सन्धाकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल स्पर्श आदि किये बिना " प्रातराश " (प्रातःकालीन भोजन) भी न करे ॥ ११ ॥ सायंकाल में ईश्वरोपासना के लिये जल न ग्रहण करके भी समिदाधान के पहिले भोजन न करना अर्थात् सन्ध्योपासन और समिदाधान समाप्त करके 'सायमाश' (सन्ध्या का भोजन) भोजन करे ॥ १२ ॥

कृष्णवस्त्रः । १३ । कृष्णभक्षः । १४ । आचार्याधीनः । १५ । अपन्थदायी । १६ । तपस्वी । १७ । तिष्ठेद्विवा । १८ । आसीत नक्तम् । १९ । वर्पति च नोपसर्पेच्छन्नम् ॥ २० ॥

(४) कृष्णवस्त्रं रञ्जितमपि वा नलद्रूपितमेव वस्त्रं व्यवहरेत् । १३ । (५) कदर्याकदर्याविचारेणैवान्नादिकं भक्षणीयम् । १४ (६) आचार्यस्य अधीनः सर्वत आज्ञाकारी भवेदिति शेषः । १५ (७) पथिकेभ्यः पन्थादानशीलो न भवेत् तथाच स्वातकव्रतमाचरेदिति भावः । १६ (८) भवेदित्येव । तपस्वित्वञ्चाग्निमसूत्रत्रिकेण स्फुटीभविष्यति । १७ (क) 'दिवा' अहनि 'तिष्ठेत्' इत्येव ; नोपविशेत् शयनकथा तु दूरपराहता । १८ (ख) 'नक्तम्' रात्रौ 'आसीत' शयनोपवेशने कुर्यात्, न च तिष्ठेदिति नियमः । १९ (ग) 'वर्पति च' पर्जन्ये छन्नं मनुष्यादिभिर्निर्मितं गृहादिकं 'न उपसर्पेत्' नाश्रयेत्, वृष्टिपिक्तृद्य भवेदित्याशयोऽयथा वृक्षादिच्छायायलम्बनेऽपि न दीपः । २० ॥

भा०:—काला, रंगा हुआ (किसी रंग में) या मलिन वस्त्र ध्ययहार करो ॥१३॥ भला, घुरा, विचार न करके जिस समय जो भोजन मिले, उसी को खाये ॥१४॥ सर्वथा आचार्य का आज्ञाकारी हो ॥ १५ ॥ अपरापर पथिक गरा को रास्ता देने में धाध्य (मजदूर) न हो अर्थात् स्वातक व्रतानुष्ठानकारी होवे ॥१६॥ तपस्वी होवे । " तपस्वी " का लक्षण ३ मूर्खों में आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ दिन में गड़ा रह कर कान काटे, सोने की यात तो दूर रहे, घैठे भी नहीं ॥ १८ ॥

रात्रि काल में बैठे या सोवे, परन्तु खड़ा न हो ॥१९॥ मेह वर्षने पर पानी से भीगने के भय से मनुष्यादि निर्मित गृहादि का आश्रय न करे; प्रत्युत दिन में खड़ा होकर, एवं रात्रि में बैठ, या सोकर, पानी वर्षते में भीगते, अथवा विशेष क्लेशबीध होने पर, वृक्ष आदि नैसर्गिक छाया भी अवलम्बन करे, तो हानि नहीं २०

वर्षन्तं ब्रूयादापः शक्य इति । २१ । विद्योत्तमानं ब्रूया-
देवथंरूपाः खलु शक्यो भवन्तीति । २२ । स्तनयन्तं ब्रूया-
न्मह्या महान् घोष इति ॥ २३ ॥

(९) 'वर्षन्तं' पर्जन्य मभिलक्ष्य 'आपः' इमाः अपि 'शक्यः' शक्यरिख-
न्दोरूपाएव 'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २१ (१०) 'विद्योत्तमानं' बलाहकमभिलक्ष्य
'एवंरूपाः खलु शक्यः भवन्ति'—'इति' एवं 'ब्रूयात्' । २२ (११) 'स्तनयन्तं' गर्ज-
न्तं घनघटामण्डल मभिलक्ष्य 'मह्याः' महत्याः शक्योएव 'महान् घोषः' 'इति'
एवं 'ब्रूयात्' ॥ २३ ॥

भा०—पानी वर्षते देख कर बोले कि "ये जल धारा समस्त शकरी छन्दो-
मय मन्त्र हैं", विजुली देख कर—"शकरी छन्द सब भी निश्चय इसी प्रकार है"।
मेघ गर्जन सुनकर बोले कि 'ये बड़े २ शब्द अवश्यही महती शकरीछन्द केहैं'। २१-२३।
न खवन्तीमतिक्रामेदनुपस्पृशन् । २४। न नावमारोहेत् । २५।
प्राणसंशये तूपस्पृश्यारोहेत् ॥ २६ ॥

(१२) 'खवन्तीं' नदीम् 'अनुपस्पृश्य' उपस्पर्शन सकृत्वैव 'न अतिक्रामेत्
पन्थानमिति । २४ (१३) 'नावं न आरोहेत्, सन्तरणेनैव नदीपारादिकं गच्छे-
दिति भावः । २५ (१४) 'प्राणसंशये' यत्र सन्तरणेन पारादिगमने प्राणसंशयः
स्यात्, तत्र 'तु' 'उपस्पृश्य' जलम् 'आरोहेत्' नावमिति ॥ २६ ॥

भा०—रास्ते—में यदि स्त्रोतस्वती नदी अनति दूरपर वाये, या दहिने
मिले, उस को बिना स्पर्श किये न जावे । नौका पर सवार न हो, तैर कर ही
नदी पार आदि गमन करे । जिस स्थान में तैर कर पार आदि जाने से प्राण
का भय हो, तो वहां जल स्पर्श करके नौका में बैठ कर पार जावे ॥ २४-२६ ॥

तथा प्रत्यवरुह्य । २७ । उदकसाधवो हि महानाम्न्यं
इति । २८ । एवं खलु चरतः कामवर्षो पर्जन्यो भवति ॥ २९ ॥

'प्रत्यवरुह्य' नीतइति यावत् 'तथा' एव उपस्पर्शनं कर्तव्यम् । २७ । महा-
नाम्नीव्रते कथमेवं कर्तव्यमित्याह—'हि' यतः 'महानाम्न्यः' ऋचः 'उदकसाधवः'

उदकव्यवहारेणैव साधनीया भवन्ति अतः एतद्ब्रतसाधनाय सर्वयैवोदकव्य-
वहारो विधेय इति भावः ॥ २८ ॥ तेन किम्फलमित्याह;—'एवम्, उक्तप्रकारेण
'चरतः' जनस्य 'खलु' निश्चयमेव 'पर्जन्यः' कामवर्षी भवति' । एवञ्च ब्रतमिदं
काम्यमिति फलितम् ॥ २९ ॥

भा०:—नौका से उतरते समय भी उसी प्रकार जल स्पर्श करे। महानाम्नी
ऋग् आदि जिस कारण जल व्यवहार द्वारा ही साधनीय है, इस लिये इस
व्रत में सब प्रकार से जल का व्यवहार कर्त्तव्य कहा गया है, इस प्रकार
आचरण करने वाले के पक्ष में पर्जन्य (मेघ) निश्चय ही कामवर्षी होते।
अर्थात् इस प्रकार व्रतानुष्ठान सिद्ध-व्यक्ति के वृष्टि की इच्छा करने पर वृष्टि
ही ही गी। इस लिये इस को "काम्य-कर्म" कहते हैं ॥२९-२९ ॥

अनियमो वा कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेपु ॥ ३० ॥

'वा' अथवा 'कृष्णस्थानासनपन्थभक्षेपु' पूर्वोक्तेषु 'अनियमः' कर्त्तव्यतया
नियमो न स्वीकर्त्तव्यः, असमर्षश्चेदकृतेऽपि कस्मिंश्चिन्नियमे न क्षतिरित्यर्थः ॥३०॥

भा०:—या, असमर्ष होने के कारण पूर्वोपदिष्ट कृष्ण वस्त्र धारण आदि
नियम प्रतिपालन न करने में दोष नहीं ॥ ३० ॥

तृतीये चरिते स्तोत्रीयामनुगापयेदेवमितरे स्तोत्रीये
सर्वा वाऽन्ते सर्वस्य ॥ ३१-३३ ॥

यावत्कालमेतद्ब्रतमाचरितव्यमवेत्, तस्य 'तृतीये' अंशे 'चरिते' 'स्तो-
त्रीयां' प्रथमाश्रमम् 'अनुगापयेत्' आचार्यः । व्रतानुष्ठेयकाल-तृतीय-भाग-गते
आचार्यस्तं व्रतिनमाद्यङ्गुलकं सामाध्यापयेदित्यर्थः (३१) 'इतरे' द्वितीय-तृतीये
अपि 'स्तोत्रीये' ऋषी 'एवम्' तृतीयांशानुसारत एवानुगापयेत् । एवं हि व्रत-
कालस्य मध्यम तृतीयेशोऽतीते मध्यमङ्गुलकं सामाध्यापयेत् किञ्चान्तिम-
तृतीयेशोऽन्तिमङ्गुलकं सामाध्यापयेदिति पंचमसितार्थः (३२) 'या' अथवा
'सर्वस्य' व्रतकालस्य 'अन्ते' एकदेव 'सयांः' स्तोत्रीयाः अनुगापयेत्, महाना-
म्नीसाम् पूषंमेवाध्यापयेदिति यावत् (३३) ॥३१-३३॥ यद्विहितं महानाम्नीमा-
नानुगापनं तत्रेति कर्त्तव्यतामाहः—

भा०:—यह महानाम्नी व्रत जय तक अनुष्ठेय हो, उसके एक तृतीयांश
समय धीतने पर, आचार्य इस व्रती को प्रथम ऋग् गान का अभ्यास करावे,
पीछे और एक तृतीयांश समय धीतने पर मध्यम ऋग् का गान उपदेश करे,
अनन्तर शेष तृतीयांश धीतने पर शेष ऋग् का भी गान करावे, या समस्त

प्रतकाल शेष होने पर एक ही वार में तीनों ऋचाओं का गान करावे, अर्थात् समस्त महानाम्नी साम का उपदेश अन्त में एक ही समय प्रदान करो ॥३१-३३॥

उपोषिताय सम्मीलितायानुगापयेत् ॥ ३४ ॥

‘उपोषिताय’ वक्ष्यमाण (३१) विध्यनुगतभोजनशून्याय किञ्च ‘सम्मीलिताय’ वक्ष्यमाण (३५) विध्यनुगतवसनबहुनेत्राय एव ब्रह्मचारिणे ‘अनुगापयेत्’ शङ्करी स्तोत्रीयास्तिस्रः, आचार्यः ॥ ३४ ॥ सम्मीलनप्रकार माहः—

भा०—३१ वें सूत्र में कहे अनुसार अभोजन और ३५ वें सूत्र में कहे अनुसार आंख बन्द करना; ब्रह्मचारी को आचार्य्य शङ्करी ऋच के तीन स्तोत्रीय गान करावे, इसी गान को महानाम्नी-साम कहते हैं ॥ ३४ ॥

कंसमपां पूरयित्वा सर्वोपधीः कृत्वा हस्तावधाय प्रदक्षिणमाचार्य्योऽहतेन वसनेन परिणह्येत् ॥ ३५ ॥

‘कंसं’ पात्रमेकम् ‘अपां’ प्रदानेन ‘पूरयित्वा’ तत्रोदकपूर्णकांस्यपात्रे ‘सर्वोपधीः’, ब्रीह्यादीः सप्त ‘कृत्वा’ क्षिप्त्वा, तत्रैव ‘हस्तौ’ ब्रह्मचारिणः ‘अवधाय’ निमग्नौ कारयित्वा ‘आचार्य्यः’ ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘अहतेन वसनेन’ तस्यैव अक्षिणी ‘परिणह्येत्’ वद्वे कुर्यात् । इत्यमेव सम्पाद्यं तस्य सम्मीलनम् ॥३५॥

भा०—आचार्य्य, एक कांसे का पात्रजल पूर्णकर उस में धान्य आदि सात प्रकार की औषधि डालकर उस में ब्रह्मचारी के दोनों हाथ को डुबाकर रखे और इसी अवस्था में उस की दोनों आंखों को अखण्ड घब्र से बान्ध देवे । इस प्रकार मुद्रित नेत्र होगा । एवं इसी क्रिया का नाम ‘परिणहन’ है ॥३५॥

परिणहनान्ते वाऽनुगापयेत् । ३६ । परिणह्यो वाग्यतो न भुञ्जीत त्रिरात्रमहोरात्रौ वा ॥ ३७ ॥

‘परिणहनान्ते’ ‘वा’ च ‘अनुगापयेत्’ ब्रह्मचारिणं महानाम्नीसाम आचार्य्यः । ३६ । ‘परिणह्यः’ सः ‘वाग्यतः’ भवेत् किञ्च ‘त्रिरात्रम्’ अहोरात्रौ वा, यथासामर्थ्ये ‘न भुञ्जीत’ भोजनं न कुर्यात् ॥ ३७ ॥ परिणहनोपयासवैकल्पमाहः—

भा०—इस प्रकार ‘परिणहन’ अर्थात् आंख बान्धने पर आचार्य्य ब्रह्मचारी को महानाम्नी साम का अध्ययन करावे ॥ ३६ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से परिणह्य ब्रह्मचारी संयत्तवाक् ही अपनी शक्ति अनुसार तीन रात, या एक दिन रात भोजन न करे ॥ ३७ ॥ अत्र परिणहन पूर्वक उपवास का अनुकल्प कहते हैं ।

अपिवाऽरण्ये तिष्ठेदाऽस्तमयाच्छ्रोभूतेऽरण्येऽग्निमुपस-

माधाय व्याहृतिभिर्हुत्वाऽथैनमवेक्षयेदग्निं माज्यमादित्यं
ब्रह्माणमनड्वाहमन्नमपोदधीति स्वरभिव्यख्यं ज्योतिरभि-
व्यख्यमिति एवं त्रिः सवर्षाणि ॥ ३८-४२ ॥

‘अपि वा’ अथवा ‘आ अस्तमपात्’ सूर्यास्तकालादारभ्य ‘अरण्ये तिष्ठेत्’
अरण्यस्थितिं कुर्वीत (३८) । ततः ‘श्वोभूते’ प्रभातायां रजन्यां ‘अरण्ये, एव
तत्र ‘अग्निम्’ ‘उप सप्ताधाय’ यथाविधि प्रज्वाल्य तत्र प्रज्वलितेऽग्नौ ब्रह्मचा-
री ‘व्याहृतिभिः, भूर्भुवःस्वरिति ‘हुत्वा’ (३९) ‘अथ’ अनन्तरम्, आचार्यः
‘एनम्’ ब्रह्मचारिणं ‘अग्निम्’ आज्यम्, आदित्यं, ब्रह्मणाम्, अनड्वाहम्, अन्नम्,
अपः, दधि’—इति अष्टौ ‘अवेक्षयेत्’ दर्शयेत् (४०) । तत्र च ‘स्वरभिव्यख्यं
ज्योतिरभिव्यख्यम्’—इति इन्द्रं मन्त्रं पाठयेत् (१४) । ‘एवं’ उत्कलक्षणं मन्त्रं
‘त्रिः’ त्रिवारं ‘सवर्षाणि’ वस्तूनि प्रति पाठयेदित्येव । तथाच एतन्मन्त्रस्य त्रि-
क्षिः पाठेनैव अग्न्यादीनामवेक्षणमिति निष्पन्नम् (४२) । ३९-४२ ॥

भा०:-अथवा सूर्यास्त समय से वन में रहे । अनन्तर निशा-प्रभात समय
उसी वन में यथाविधि अग्नि जलाकर, उसी जलती आग में व्याहृति मन्त्र
से हवन प्रदान करे । फिर आचार्य्य उसे अग्नि, आज्य, आदित्य, ब्रह्मण, अपम,
अन्न, जल, और दधि—ये आठ माङ्गलिक वस्तु क्रमशः दिखलावे एवं प्रत्येक
वस्तु के देखते समय तीन २ बार स्वः देखा—ज्योतिः देखा कहवावे ॥३८-४२॥

शान्तिं कृत्वा गुरुमभिवादयते । ४३ । सोऽस्य वाग्विसर्गः ॥ ४४ ॥

सर्वकर्मशेषे ‘शान्तिं कृत्वा’ शान्तिपाठं पठित्येति यावत् ‘गुरुम्’ आचा-
र्यम् ‘अभिवादयते’ । ४३ ‘सः’ अभिवादनकालएव ‘अस्य’ व्रतिनः ‘वाग्विसर्गः’
याचां विसर्गो यत्र तादृशः ॥ ४४ ॥

भा०:-समस्त कर्म की समाप्ति में शान्ति पाठ कर आचार्य्यको अभिवा-
दन करे ॥ ४३ ॥ गुरु को अभिवादन करने पर्यन्त ब्रह्मचारी संयत्वाक् रहे
एवं अभिवादन के पश्चात् ‘संयत्वाक का नियम छोड़ देवे ॥ ४४ ॥

अनड्वान् कंसो वासो वर इति दक्षिणाः प्रथमे विकल्प
आच्छादयेद्गुरुमित्येके । ४५, ४७ ॥

‘अनड्वान्’ अपमः, ‘कंसः’ कांस्यपात्रम्, ‘वासः’ वसनम्, ‘वरः’ गीः ‘इति’
पतत्रः ‘दक्षिणाः’ महानाम्निद्रतस्येति शेषः (४५) । तत्र च ‘प्रथमे’ अनड्वद्-
द्रव्ये एव विकल्पः विकल्पतः कंसोदीना मन्यतगोव्यवशेषः (४६) । ‘एके’ आचार्याः
‘सु’ गुरुम् आच्छादयेत्—वासोभिरिति शेषः—इत्येव विदधतीति (४७) । ४५-४७

भा०:-इस महानाम्नी/व्रत के साथ वृषभ, कार्दपपात्र, वसन, और गौ दक्षिणा देवे । इन में से कांस्यपात्र आदि तीन वस्तु गौ का ही विकल्प है । इस से वृषभ ही प्रकृत दक्षिणा है । कांस्य अभृति तीनों वस्तु साध्यानुसार व्यवस्था कियी है । अर्थात् जिस को गौ न हो, वह कांस्यपात्र, इस के अभाव में वसन, इस के अभाव में गौ । कोई २ आचार्य कहते हैं किं गुरु को सधर्माङ्ग वस्त्र द्वारा आवृत्त करे ॥ ४५-४७ ॥

ऐन्द्रः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयात्साम यजामह इत्येतयज्ञा
सदसस्पतिमद्भुतमिति चोभाभ्यां वा अनुप्रवचनीयेष्वेवम् ४८, ४९

महानाम्निप्रकृत्यमुक्त्वेदानीं सर्वव्रतसाधारणशेषकर्त्तव्याणि क्रमाद् विधत्ते,

'ऐन्द्र' इन्द्रदेवताकः 'स्थालीपाकः' पक्तव्यइति यावत् । 'तस्य' स्थालीपाकान्नस्य भागैकम् 'ऋचं साम यजामहे (४, २, ३, १०)'—'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'सदसस्पतिमद्भुतम् (२, २, ३, ४)'—'इति' एतया ऋचा, 'वा' अथवा 'उभाभ्याम्' एव ऋग्भ्याम् 'जुहुयात्' (४८) । 'एवम्' उक्तप्रकारो विधिः 'अनुप्रवचनीयेषु' सर्वसामाध्ययनेष्वेव योध्यः, न तु महानाम्निसामाध्ययनार्थेवेति ॥ ४८, ४९

पूर्वत्र (२प्र० १०खं० १६सू०) व्रतग्रहणकाले ये मन्त्रा विहिताः, व्रतसमाप्तिकाले तेषामेव पाठपरिवर्त्तनेन व्यवहारो विधीयते;—

भा०:-इन्द्र देवताक स्थाली पाक चठ प्रस्तुत करे । एवं इस परू को घघा-भाग ग्रहण कर "ऋचं साम यजामहे" (३, २, ३, १०) मन्त्र पाठ करते हुए अथवा "सद सस्पतिमद्भुतम्" (२, २, ३, ७) मन्त्र पाठ करते हुए किंवा दोनों मन्त्र का पाठ कर होम करके ॥ ४८ ॥ जो कोई साम ग्रन्थ अध्ययनकरे उन सधर्मी ग्रन्थ की समाप्ति में यह होम करे, केवल महानाम्नी साम ही के लिये नहीं । ४८, ४९।

महानाम्नी व्रत में जो २ कर्त्तव्य है सो २ कहकर अथ साधारण व्रतों के अन्त में जो विशेष कर्त्तव्य है उसे कहते हैं:—

[पूर्व (प्र० २ खं० १० सू० १६) व्रत ग्रहण काल में जो मन्त्र आदि कहे गये हैं, कुछ पाठ बदल कर वे ही सध व्रत समाप्ति काल में भी विहित है ।]

सर्वत्राचार्यं तदशकं तेनारात्समुपगामिति मन्त्रविशेषः ॥ ५० ॥

'सर्वत्र' व्रतान्तेषु 'मन्त्रविशेष' पाठपरिवर्त्तनकृतः कर्त्तव्य इति कानि च तानि पाठपरिवर्त्तनानि ? इत्याह—'अघार्पम्', 'तदशकम्' 'तेनारात्सम्' 'उपा-ताम्' 'इति' इमानि । तानि च मन्त्रब्राह्मणोक्त्यु 'अग्ने व्रतपते (१, ६, ९-१३)' इत्येवमादिषु पञ्चसु योष्यानि ॥ ५० ॥

भा०:-व्रत समाप्त होने पर पूर्वोक्त मन्त्र (म० ब्रा० १.६.९-१३) क्रिया आदि भूतकाल के रूप में व्यवहृत करे ॥ ५० ॥

आग्नेयेऽज ऐन्द्रे मेपो गौः पावमाने पर्वदक्षिणाः ॥५१॥

‘आग्नेये’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘अजः’ एकः आचार्याय देयः । ‘ऐन्द्रे’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘मेपः’ एकः आचार्याय देयः । ‘पावमाने’ पर्वणि अधीते, तस्याध्यापनस्य दक्षिणा, ‘गौः’ एका आचार्याय देया । इति ‘पर्वदक्षिणाः’ गेयगाननाम-गानग्रन्थीय-पर्वनाम-परिच्छेदानामध्ययन-निमित्ता दक्षिणाः आचार्यालभ्याः, ताश्च ब्रह्मचर्यावस्थायां दातुमर्थायैतद् गृहस्थाश्रमप्रवेशकाले एव दातव्याः तत्र च न दोषश्रुतिः । ५१। गुरुकुलात् पितृगृहे प्रत्यागतस्य गुर्वादिभोजनं विधत्ते :-

भा०:-आग्नेय पर्व अधीत होने पर, आचार्य को एक छाग दक्षिणा देवे, ऐन्द्र पर्व पढ़ चुकने पर, एक भेड़ा एवं पावमान पर्व पढ़ लेने पर एक गौ दक्षिणा देवे । इस को पर्वदक्षिणा कहते । अर्थात् गेयगान नामक सामवेदीय गान ग्रन्थ का पर्व नामसे प्रधान परिच्छेदत्रय के पढ़ाने की दक्षिणाएँ हैं, यदि इसे ब्रह्मचर्यावस्था में प्रदान न कर सके तो गृहस्थाश्रम के प्रवेश काल में भी इस ऋण को चुका देवे तो हानि नहीं ॥ ५१ ॥

प्रत्येत्याचार्यं सपर्यत्कं भोजयेत्सब्रह्मचारिणश्चोपसमेतान् ५२, ५३

‘प्रत्येति’ गुरुकुलात् स्वगृहे प्रत्यागतः, सपर्यत्कं’ पुत्रादिपरिजनसहितम् ‘आचार्यं’ ‘भोजयेत्’ । तदिदं भोजनं स्वगृहे आचार्यादिकामानीय आचार्यगृहे गत्वा वेति न नियमः (५२) । किञ्च ‘सब्रह्मचारिणः’ सतीर्थाः समानकालव्रत चारिणश्च ‘उप’ समीपे स्वगृहे ‘समेतान्’ निमन्त्रणाहूतान् ‘च’ अपि भोजयेदित्येष (५३) ॥ ५२, ५३ ॥

भा०-गुरुकुल से अपने घर वापिस होने पर गुरु पुत्रादि गुरु परिजन के साथ गुरुको भोजन कराये । (यह भोजन, चाहे अपने घर ही, या गुरु के ही घर पर ही) परन्तु निज सहपाठी आदिक को और समकाल ब्रह्मचर्य समाप्तकारी गण को भी उसी समय अपने घर घर निमन्त्रण कर भोजन कराये ॥ ५२, ५३ ॥

उपेष्टसाम्नो महानाम्निकेनैवानुगापनकल्पो व्याख्यातः ॥५४॥

‘उपेष्टसाम्नः’ ‘अनुगापनकल्प’ अध्यापनप्रकारः ‘महानाम्निकेन एव’ कल्पितः । उपेष्टसाम च महानाम्निकमित्य उपोपितमुपनृतात्मत्स्यपयं याध्यापयेदित्यर्थः । ५४ अक्षेदार्थं कीमुमानां पितृप्रतिपाद्यनिपमानाहः-

भा०—ज्येष्ठमान के पढ़ाने की प्रणाली महानाम्निकसाम की नाई है। अर्थात् ज्येष्ठमान के अध्ययन में भी विद्यार्थी की उपवास रहकर, आंख बांध कर, या वन जाना पड़ता है ॥ ५४ ॥ कौयुम शाखाध्यापियों के प्रतिपाल्य नियम कहते हैं ।

तत्रैतानि नित्यव्रतानि भवन्ति । ५५ न शूद्रामुपेयात् । ५५ न पक्षिमांसं भुञ्जीत । ५७ एकधान्यमेकदेशमेकवस्त्रञ्च वर्जयेत् ५८

‘तत्र’ समावर्तनात् परम् ‘एतानि’ नित्यव्रतानि’ सर्वथैव प्रतिपाल्यनियमाः ‘भवन्ति’ । ५५ (१) शूद्रां न उपेयात्’ शूद्रायाः पाणिग्रहणं न कुर्यात् । ५६ (२)। ‘पक्षिमांसं न भुञ्जीत’ विहिताविहितस्य कस्यापि पक्षिणो मांसं न भ्रद्यात् ५७ (३)। ‘एकाधान्यम्’ एक देशं एकवस्त्रं च वर्जयेत्’ घिरमेकविधशस्यमेव नाद्यात्, सर्वदैव निरन्तरमेकदेशे एव वासं न कुर्यात् किञ्च आच्छिन्नमेकमेव वस्त्रं न परिदध्यात् अपितु कदाचित् धान्यं कदाचिद्वा गोधूमं, कदाचिद्वा यवं भजेत्, एवं वर्षमध्ये एकवारमपि देशाटनं कर्त्तव्यमेव, किञ्च परिहितवस्त्राणि सदैव परिवर्त्य प्रक्षालनादिना पुनर्गृह्यादिति । ५८ ॥

भा०—समावर्तन के अनन्तर वक्ष्यमाण नियमों का अवश्य पालन करे ॥ ५५ ॥ (१) शूद्रा कन्या से विवाह न करे ॥ ५६ ॥ (२) चिड़ियेका मांस न खखवे ॥ ५७ ॥ (३) एक प्रकार का धान्य, एकदेश, और एक वस्त्र, त्याग करे । अर्थात् प्रतिदिन एक ही प्रकार का अन्न न खावे; कभी धान्य, कभी गेहूं, कभी यव व्यवहार करे ; बहुत दिनों तक निरन्तर एक ही देश में न रहे, अन्ततः वर्ष में एकवार भी देश पर्यटन करे; एवं एक वस्त्र जब तक न फटे , तब तक अत्याज्यरूप व्यवहार न करे, वरन सर्वदा ही बदलते हुए धुलाकर पुनः पहना करे ॥ ५८ ॥

उद्दृष्टताभिरद्विरुपस्पृशेत् ॥ ५९ ॥

(४) ‘उद्दृष्टताभिः अद्भिः उपस्पृशेत्’ तत्क्षणमेवोदकान्युद्दृष्ट्यतैरेव हस्तमुख-प्रक्षालनादिकं कुर्यात् न तु पूर्वोद्दृष्टैः । एतेन च शीतकाले उष्णवारिलाभः, ग्रीष्मे च शीतवारिलाभः सुकरो भवेत्, विषकीटपतनादिदोषशङ्कापि न स्यादिति भावः ॥ ५९ ॥

भा०—(४) जिस २ समय हाथ, पैर, मुख आदि धोनेकी आवश्यकता हो, उस उस समय कूप आदि से जल भर लेवे, या भरवा लेवे, इस से शीतकाल में गर्म जल एवं ग्रीष्मकाल में शीतल जल सुगमता से मिलेगा और जल में विषकीट आदि पड़ने की भी शंका न रहेगी ॥ ५९ ॥

इद् इडा २ ३ ४ ५ । आ या । हि पिब मा २ त् सुवा । इ
डा २ ३ ४ ५ ॥—

(द्वितीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २ । विदारार्येसुवीरियाम् । भुव्रो वाजानाम्पतिर्व-
शाथं २ । अनुआ ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा । ए २ । मथं
हिष्ठ वज्रिन्नुञ्जसाइ । यः शविष्ठः शूरा २ णा ३ १ उवा २ ३ ।
ई ३ ४ डा । योमथं हिष्ठ मघो २ । ना ३ १ उवा २ ३ ।
ई ३ ४ डा । अथं शुर्नशोचा २ इः । हा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ।
चाइ । कित्वा अभिनोनया । इन्द्रो । विदेतमूरस्तुहाइ । इ
डा । इन्द्रो । विदेतमूरस्तुहाइ । अथा । इन्द्रो । विदेतमूर
स्तुहाइ । इडा ईशोहिशक्रस्तमूतये हवा १ मा ३ हाइ । जैता-
रमपरा ३ । जाइताम् । सनः स्वर्पदता २ ३ होइ । द्वा इपा
३ १ उवा २ ३ । इद् इडा २ ३ ४ ५ । क्रान्तुः । छन्द ऋता २
मृहात् । इडा २ ३ ४ ५ ॥

महानाम्नी साम ॥

(तृतीयस्तोत्रीयानुगानम्)

ए २ । इन्द्रन्धनस्य सातयाइ । हवामहे जैतारमपरा

१ २ २ २ १ १ १ १ १ २ २
 आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ । होइ । हो । वाहा ३ १ उवा
 २ ५ १ ५ २ २ १ १ १ १ १ १ १
 २ ३ । ई ३ ४ डा । आइवा । हि देवा २ ३ ४ ५ः । होइ । हो।
 २२ . . . २ ५
 वाहा ३ १ उवा २ ३ । ई ३ ४ डा ॥ १ ॥

प्रौष्ठपदीथहस्तेनोपाकरणम् ॥ १ ॥

“हस्तेन प्रौष्ठपदीं” हस्तनक्षत्रयुतां भाद्रपदीयां यां कामपि तिथिं प्राप्य तदैव “उपाकरणं” नाम वेदाध्यापनारम्भसूचकं कर्म वक्ष्यमाणैतिकर्तव्यताकं कर्तव्यम् । उप समीपे आक्रियन्ते अध्ययनाय शिष्याः येन कर्मणा तत् । १ अथोपाकरणे :-

भा०:-भाद्रमास के जिस किसी तिथि के पूर्वान्ह में हस्ता नक्षत्र युक्त हो, उसी दिन ‘उपाकरण’ कर्म करे * ॥ १ ॥

व्याहृतिभिर्हुत्वा शिष्याणां सावित्र्यनुवचनं यथोपनयनोऽ

(१) ,व्याहृतिभिः’ भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रत्रिकीः ‘हुत्वा’ आज्यमेव’ ‘शिष्याणां’ वेदाध्ययनारम्भं कर्तुमुपस्थितानां नवानां ‘सावित्र्यनुवचनं सावित्रीनामर्चोऽध्यापनं कर्तव्यम् । एतच्च ‘यथा उपनयने’ कृतम्, तथैवात्रापि पादशोऽहुंघंशश्रक्-शशति यावत् ॥ २ ॥

भा०:-भूः, भुवः, श्रीर स्यः इन तीन मन्त्रों का पाठ करते हुए तीनों आहुति देवे (वेदाध्ययन का आरम्भ करने के लिये समुपस्थित नये छात्रों को उपनयन में उपदेगहीने की नाई पहिले पाद २, फिर आधीर ऋचा श्रीर अन्त में समस्त ऋक् आयुक्ति क्रम से सावित्री मन्त्र का अभ्यास करावे *॥२॥।

सामसावित्रीञ्ज । ३ सोमथराजानंवरुणमिति । ४ ॥

(२) ‘च’ अपि ‘सावित्रीम्’ ऋचमाश्रित्य गीतं ग्रन्थाध्यापनारम्भसूचकं ‘साम’ अनूष्पात् अनुयाचयेत् शिष्यान् । आदी तायदाचार्यो भागशीतूपात्तदनु तपैव तत्साकमेव शिष्याः सधैव मिलित्वा ब्रूयुरिति यावत् । ३ (३) ‘च’ अपि

* जिस तिथि के द्वारा वेद के नूतन पाठ का अध्ययन और अध्यापन आरम्भ किया जाता, उस अनुष्ठान को ‘उपाकरण’, कहते हैं। यह ‘उपाकरण’, आचार्य एवं छात्र दोनों ही को समान वर्तव्य है, सुारा एवं ही मित कर करते हैं। ऋग्वेदी और यजुर्वेदियों को यह ‘उपाकरण’, भाग्य मास में होता है एवं किमी २ के मन से शीषणियों को भी भाग्य ही मास में होता है। अथर्व एव मनुष्ठान को ‘आवृत्ती’, भी कहते हैं ॥

•• वेदों के अध्यापन आरम्भ काल में गर्दा ही गाथियां पाठ और तन् ममागम कथय्य एवं उमी प्रकार व्यवहार भी है। यदि भोटे, ही दिन में उनीन होणने ता सांभो गम का अभ्यास छट या मरता है धुनरा यह सांभो अनुष्ठा उन के लिये विगेत आवश्यक है ।

'सोनं राजानं वरुणम्' (छ० आ० १, २, ५, १) 'इति' ऋच मनुच्यते तन्मूलकं साम च (गे० गा० ३, १, १) । ४

भा०:-एवं यह सावित्री ऋक् अवलम्बन पूर्वक गीत साम भी एक २ भाग कर, आचार्य, निज कृत उच्चारणके पीछे और सङ्ग २ उस छात्रको पढ़ाते हुए अभ्यास करावे ॥३॥ 'सोमथं राजानं' (छं, आं १, २, ५, १) ऋक् एवं यह ऋक् मूलक साम (गे, गां ३, १, १) इस प्रकार क्रम से अभ्यास करावे ॥४॥

आदितश्छन्दसोऽधीत्य यथार्थम् । ५ ॥

(४) ततः सर्वमिलित्वा 'छन्दसः' छन्दोनाममामवेदीयार्चिकग्रन्थस्य 'आदितः आरभ्य सर्वमेव भागद्वयं यावदधीत वा अधीयीरन् सामवेदसंहितायाः सामग्र्यायाः समप्रायाः यावदधीताया वा पारायणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । 'अधीत्य' पारायणे समाप्ते 'यथार्थम्' यथाप्रयोजनमपरापरं कार्यं कर्त्तव्यम् । ५ ॥

भा०:-(४)अनन्तर छन्दोनामक (आर्चिक)*ग्रन्थके पूर्व और उत्तर दोनों भाग ही आद्यन्त (या जिन का जहां तक पढ़ा है) सब मिल कर पाठ करें। उन्ही प्रकार वेद पारायण समाप्त होने पर यथा प्रयोजन अन्य कार्य करे ॥५॥

अक्षतधाना भक्षयन्ति धानावन्तङ्करम्भिणामिति । ६ ।

(५) अनुवचनेऽध्ययने च समाप्ते 'धानावन्तङ्करम्भिणाम्' (छ० अ० ३, १, २, ७)-'इति' इमा मृचं पठित्वा 'अक्षतधानाः' भ्रष्टयवा एव धाना उच्यन्ते तत्र चाक्षतत्वं गृह्यम्, ता एव 'भक्षयन्ति' आचायांदयः । ६ ॥

भा०-(५)वेद पारायण के अनन्तर 'धानावन्तङ्करम्भिणाम्' इस मन्त्र का पाठ करते हुये अभग्न भुनाहुआ यव सब लोग भक्षण करें ॥६॥

दध्नः प्राश्नन्ति दधिक्राव्णोऽकारिपमिति । ७ आचान्तोदकाः । ८ खाण्डिकेभ्योऽनुवाक्या अनुगेयाः कारयेत् ९

(६) ततश्च 'दधिक्राव्णोऽकारिपम्' (छ० अ० ४, २, २, ७) 'इति' ऋचं पठित्वा 'दध्नः प्राश्नन्ति' तएवेति । ७ (७) अनन्तरम् 'आचान्तोदकाः' उदकैः कृताश्मनाः ते सर्वे भवेयुः (भूयुः) । ८ (८) ततः 'खाण्डिकेभ्यः' अधीतवेदखण्डेभ्यः पुरातनछात्रेभ्यः इति यावत् । 'अनुवाक्याः' अनुवाकशाएव 'अनुगेयाः' स्वगानानुरूपगायकाः 'कारयेत्' आचार्यः ॥ ८ ॥

भा०-(६)तदनन्तर 'दधिक्राव्णोऽकारिपम्' मन्त्र पाठ करके सब लोग दही खावें ॥ ७ ॥ (७) उस के पश्चात् सब लोग आचमन कर यथा स्थान मुख्यभाव से

* यही साम वेद का मूल ग्रन्थ अर्थात् संहितास्थि है। इसी वा अवलम्बन कर गेय गान प्रभृति गान ग्रन्थ सब बने हैं एवं माहाण्य ग्रन्थ भी इसी वा व्यवस्थापक है इत्यादि इत्यादि ।

वैठें ॥ ८ ॥ (८) पीछे, आचार्य, जिन छात्रों ने जहां तक पढ़ाही, उन को उस के परे से अध्ययन आरम्भ करावें ॥ ८ ॥

सावित्रमहः काङ्क्षन्ते । १० उदगयने च पक्षिणींश्चरात्रिम् ॥११॥

‘सावित्रमहः’ यद्विने सावित्रपुपदेशोऽनुवचनं वा तद्विनं ‘काङ्क्षन्ते’ याङ्छन्ति आचार्याः वेदाभ्यासतो विश्रामायेति १०। ‘च’ अपि तदेव सावित्रमहः उपनयननिबन्धनं वदयमाणं मुत्सर्गनिसिद्धं वा ‘उदगयने’ चेद् भवेत्, तर्हि ‘पक्षिणीं रात्रिं’ तद्विनमारभ्य परदिनाद्यशेषपर्यन्तं विश्रामाय काङ्क्षन्ते आचार्या इति ११

[यहां जिस प्रकार वेदों का ‘उपाकरण’ कहा गया, उनी प्रकार उत्तरायण में वेदों की ‘उत्सर्ग’ क्रिया की भी व्यवस्था कियी जावेगी]

भा०—जिस दिन यह ‘उपाकरण’ क्रिया हो, उस दिन, दही खाकर एवं आधमन करलेने पर नये विद्यार्थियों को विश्राम देवे ॥ १० ॥ उस उत्तरायण में छात्रों को पक्षिणी (एक दिन और एक रात एवं उम’ के पर का दिन) विश्राम देने की व्यवस्था करे अर्थात् क्या वेद, क्या वेदाङ्ग, सम्बन्धी नया वा पुराना पाठ अध्ययन या अध्यापन कुछ भी न करे ॥ ११ ॥

उभयत एके त्रिरात्रम् । १२ । आचार्याणाञ्जीदकोत्सेच-

नमुभयत्र ॥ १३ ॥

‘एके’ तु आचार्याः, ‘उभयतः’ दक्षिणायनोत्तरायणोत्सर्गकाले एव तथाच वेदोपाकरणे वेदोत्सर्गे च कर्मणि सन्पन्ने ‘त्रिरात्रं’ काङ्क्षन्ते विश्रामायेति १२ (८) ‘उभयत्र’ उपाकरणो उत्सर्गे च ‘आचार्याणां’ वेदशाखाप्रचारकाणां नामतः ‘उदकोत्सेचनं’ जलाञ्जलिक्षेपणं तर्पणनिति यावत् कर्तव्यमिति शेषः ॥ १३ ॥

भा०—कोई २ आचार्य कहते—कि ‘उपाकरण’ और ‘उत्सर्ग’ इन दोनों क्रियाओं में छात्रोंको तीन रात्रि विश्राम देवे ॥ १२ ॥ (८) ‘उपाकरण’ और उत्सर्ग, इन दोनों क्रियाओं में जलाञ्जलि क्षेपण पूर्वक आचार्योंका नाम स्मरण करके (स्वीय) वृत्तिसाधन करे ॥ १३ ॥

श्रवणामेकउपाकृत्यैतमासावित्रात् कालं काङ्क्षन्ते । १४
तैपीमुत्सृजन्ति ॥ १५ ॥

‘एके’ आचार्याः ‘श्रवणां’ श्रवणं पीठमासी प्राप्य ‘उपाकृत्य’ ‘आसावित्रात्’ सहितदेवतादां भाद्रपदीयं हस्तनाम नक्षत्रमभिव्याप्य ‘एतंकालं’ ‘काङ्क्षन्ते’ अध्ययनाध्यापनविश्रामायेति । इत्युपाकरणम् । १४ अगोत्सर्गः ।—‘तैपी’ तिष्यनागनक्षत्रमा पीषी पीठमासी मिति यावत् प्राप्य ‘उत्सृजन्ति’ वेदा-

ध्यापनत्यागमूचक मुत्सर्जनं नाम कर्म कुर्वन्ति आचार्याएवेति । इदमेवोदगय-
नीयं प्रत्युपाकरणम् ॥ १५ ॥

भा०—श्री २ आचार्य कहते हैं कि—श्रावणमास की पूर्णिमासी को यह
'उपाकरण' करना चाहिये एवं उसी दिन से भाद्रमास के हस्तानक्षत्र युक्त
तिथि पर्यन्त छात्रोंको विद्यान देवे ॥ १४ ॥ पौषकी पूर्णमासी को वेदाध्यापन
का 'उत्सर्ग' अर्थात् कई एक मासके लिये नया पाठ अध्यापन छोड़देवे । इस
को 'प्रत्युपाकरण' (कर्म) कहते हैं ॥ १५ ॥

प्राङ्बोद्ध्वा ग्रामास्त्रिष्कर्म्य या आपोऽनवमेहनीया-
स्ताअभ्येत्योपस्यूश्चच्छन्दाश्चस्यूषीनाचार्यांश्च तर्पयेयुः ॥१६

एतस्मिन्नुदगयनीये सम्पन्ने च पक्षिणीं त्रिरात्रं वा विद्यामाय काङ्क्षन्ते
आचार्या इत्युक्तं पुरस्तात् । तत्र च विद्यामावसरे 'ग्रामात्' स्ववासभूमेः 'प्राक्
वा' पूर्वस्यां—दिशि वा 'उदक् वा' उत्तरस्यां दिशि वा निष्कर्म्य', 'या आपः'
'अनवमेहनीयाः' मेहनस्पर्शिन्यो मेहनीयाः ततोऽवाचीनाः अयमेहनीयाः, न
तादृश्यः, मेहनोद्धर्ष्वगता नाभिदग्ना इति यावत् ; 'ताः' आपः 'अभ्येत्य', 'उप-
स्पृश्य' 'छन्दांसि' छन्दोनामान्युल्लिख्य, 'ऋषीन्' मन्त्रद्रष्टृपिनामान्युल्लिख्य,
'आचार्यान्' स्व-स्व-शाखाकारनामादीन्युल्लिख्य 'च' तर्पयेयुः जलाञ्जलिदानैः
स्मरणात्ः स्वात्मवृत्तिं सम्पादयेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

भा०—यह 'उत्सर्ग' क्रिया पूरी होने पर 'पक्षिणी' या तीन रात सय
प्रकार अध्ययन का विराम रखे, यह पूर्व ही व्यवस्था कियी गयी है । उस
विरामकाल में,—स्व २ वास ग्राम के पूर्व, या उत्तरभाग में, जाकर, कम से कम
नाभि—प्रमाण—जरा वाले जलाशय में गोता मार कर उपस्पर्श पूर्वक छन्दो-
नामक सब उल्लेख करते हुए श्रीर मन्त्र द्रष्टा ऋषियों का नामोऽल्लेख करते
एव अपनी २ शाखा प्रवर्तकादि आचार्यों का नामोऽल्लेख करते हुये जला-
ञ्जलि देकर (अपनी) तृप्ति सम्पाद न करे ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रत्युपाकरणेऽभ्रानाध्याय आपुनरुपाकरणेच्छन्दसः ॥१७

'तस्मिन्' उक्तलक्षणो 'प्रत्युपाकरणे' उत्सर्गापरपर्याये कर्मणि सम्पन्ने 'ततः'
प्रभृति 'आ पुनरुपाकरणात् भाद्रपदीयहस्तनाम नक्षत्रयुक्तकालं यावत् 'छन्द-
सः' मानवेदीय छन्दोग्रन्थमात्रस्य 'अभ्रानध्यायः' अभ्रनिमित्तकीयहयमाख्यत-
तोऽनध्यायोभयति, 'अत्र चानध्यायकाले अधीतानामपि छन्दोग्रन्थानामभ्यासं
विचारादिरुद्ध्य यजंजीयम् । १७ उक्तभ्रानध्यायमेव स्फटयति ;

भा०—इस प्रकार 'प्रत्युपाकरण' कर्म, सम्पन्न होने पर्यन्त पुनः उपाकरण न होने पर्यन्त, इन कई एक महीने (नया पाठ तो होगा नहीं अधिकन्तु मेघ निमित्तक अनध्याय भी होगा, इस अनध्याय में पुरातन पाठ का अभ्यास या विचारादिक भी वर्जनीय है । किन्तु यह "आश्वानध्याय" छन्दोग्रन्थ मात्र के लिये है ॥ १७ ॥

विद्युत्स्तनयित्नुपृषितेष्वाकालम् ॥ १८ ॥

विद्युत् गर्जनपूर्वदृश्येज्योतिः, स्तनयित्नुर्मघमाला, पृषितावृष्टिविन्द्यः, एतत्त्रितयमेकदैव दृश्येत चेत् तदा आ कालम् यत्कालिकी घटना, तत्परदिवसीय-तावत्कालं यावत् अनध्यायच्छन्दोऽध्ययनस्येति । अयमेवाश्वानध्याय उच्यते ॥१८

भा०—विजुली, मेघमाला, और वृष्टि देखने पर आ-काल अश्वानध्याय होगा । अर्थात् अश्वनिमित्तक उपद्रव जिस समय उपस्थित हो, उस के पर दिन उसी समय तक छन्दोग्रन्थ की चर्चा भी न करे ॥ १८ ॥

उल्कापातभूमिचलनज्योतिषोरुपसर्गेषु ॥१९ निर्घाते च ॥२०॥

उल्कापाते, भूमिचलने, ज्योतिषोः सूर्यचन्द्रयोः उपसर्गं ग्रहणादौ च आ कालमेवानध्यायः सर्वेषामेव ग्रन्थानाम् ॥ १९ ॥ 'च' अपि 'निर्घाते' मेघोदये विमलाकाशे वा स्थिते वज्रपाते आ कालमेवानध्यायः ॥ २० ॥ अथ सार्वज्ञा-लिकसाधारणानध्यायानाह :-

भा०—उल्कापात, भूकम्प, और सूर्य और चन्द्रग्रहण के पर दिवसीय उसी समय तक अनध्याय होगा । यह अनध्याय सब ही ग्रन्थों का जानो ॥ १९ ॥ वज्र गिरने पर भी उस के पर दिन के उसी समय तक अनध्याय होगा । यह भी सब ग्रन्थों के लिये है ॥ २० ॥

अष्टकामावास्यासु नाधीयीरन् ॥ २१ पौर्णमासीषु च ॥ २२ ॥

'अष्टकामावास्यासु' सर्वांस्वेव वेदं वेदाङ्गानि च 'न अधीयीरन्' एष नित्यानध्यायः ॥ २१ 'पौर्णमासीषु' 'च' 'न अधीयीरन्' एषोऽपि नित्यानध्यायः ॥२२॥

भा०—प्रति अमावास्या एवं प्रत्येक अष्टमीतिथिको सबप्रकार अनध्याय होगा २१ प्रति पूर्णिमा तिथि में इसीप्रकार जबतक तिथि रहे अनध्याय होगा २२

तिसृषुकार्त्तिक्यां फाल्गुन्यामापाढ्याञ्जाहोरात्रम् ॥२३॥

'कार्त्तिक्यां फाल्गुन्याम् आपाढ्याम्'—इत्येतासु 'तिसृषु' 'अहोरात्रम्' तद्विमं तद्वात्रिश्च नाधीयीरित्येव । २३ अथ नैमित्तिकानध्याया उच्यन्ते;—

भा०—विशेषत कार्त्तिकी, फाल्गुणी, और श्यामादी पूर्णिमा को एक दिन

एव एक रात्रि मद्य प्रकार अनध्याय होगा ॥ २३ ॥

सन्नह्यचारिणि च प्रेते । २४ स्वै च भूमिपती ॥ २५ ॥

‘सन्नह्यचारिणि’ मर्तार्थे ‘प्रेते’ ‘च’ मृते अहोरात्रम् नाधीयीरन् । २४ ‘च’ अपि ‘स्वै’ भूमिपती भूस्वामिनि प्रेते अहोरात्रम् नाधीयीरन् ॥ २५ ॥

भा०—एक गुरु के शिष्य के मृत्यु होने पर भी एक दिन रात मद्य प्रकार अनध्याय होगा ॥ २४ ॥ भूस्वामी के मरने पर भी एक दिन रात सद्य प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २५ ॥

त्रिरात्रमाचार्य्यै । २६ उपसन्ने त्वहोरात्रम् । २७ गीत-
वादित्ररुदितातिवातेषु तत्कालम् । २८ शिष्टाचारोऽतोऽन्यत्र

‘शाचार्य्यै’ स्वै एव प्रेते ‘त्रिरात्रम्’ नाधीयीरन् । २६ ‘उपसन्ने’ शिष्ये प्रेते ‘तु’ ‘अहोरात्रम्’ एव नाधीयीरन् । २७ गीतं, यादित्रं, रुदितं, अतिवातो भङ्गा एषु सत्सु ‘तत्कालम्’ यावत् स्यात् तावदेव नाधीयीरन् । २८ ‘अतः’ उक्तेभ्यः हेतुभ्यः ‘अन्यत्र’ ‘शिष्टाचारः’ अप्येकोऽनध्यायहेतुः तथाहि शिष्टेऽपि कश्चिद्व्यक्त समागते नाधीयीरन् २९ गतमिदं वेदाध्ययनप्रकरणम् । अथाद्भुतप्रकरणम्

भा०—आचार्य्य के मृत्यु होने पर, सद्य प्रकार अध्ययन, तीन रात तक रोष रक्ते, तदनन्तर अन्य आचार्य्य से पढ़े ॥ २६ ॥ शिष्य के मरने पर एक दिन और एक रात अनध्याय होगा । अर्थात् उस दिनरात में उस मठ (पाठशाला) में किसी का किसी प्रकार पाठन होगा ॥ २७ ॥ गीत, घाटा, रोना, आन्धी उपस्थित हो ने पर’ जयतक उपद्रव शान्त नहो, सब प्रकार अनध्याय रहेगा ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त निमित्तों के अतिरिक्त’ विशेष प्रतिबन्धक होने पर और भी अनध्याय होगा, जैसे, यदि कोई शिष्टव्यक्ति मठमें आवे, तो उनके आदरार्थ अनध्याय होगा ॥ २९ ॥

अद्भुते कुलपत्योः प्रायश्चित्तम् । ३० वथंशमध्यमयो-
र्मणिके वा भिन्ने व्याहृतिभिर्जुहुयात् ॥ ३१ ॥

‘अद्भुते’ कर्मस्यिदपि उपस्थिते ‘कुलपत्योः’ यस्मिन् कुले समुपस्थित मद्भुतम् भवेत् तस्यैव स्वामिनोः दम्पत्योः ‘प्रायश्चित्तं’ कर्त्तव्यम् भवेत् । ३० कीदृशेऽद्भुते कीदृशं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमित्याह ;—वंगः शूयोपरिष्यः, मध्य-
माद्य स्तम्भाः, एतयोः ‘भिन्ने’ भिन्नयोः अनिमित्ततएव विदीर्णयोः सतोः ‘वा’ अथवा ‘मणिके’ जलाधारयद्भुतभावहे भिन्ने अनिमित्तमेव स्फुटिते, एतदद्भुत-

दीपप्रशमनाय व्याहृतिभिः भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रैः 'जुहुयात्' आज्याहवनं कुर्यात् ३१

भा०-कोई अद्भुत (आश्चर्य) बात हो पड़े तो गृहस्थानी और उस की स्त्री को प्र.यश्चित्त करना चाहिये ॥ ३० ॥ कैसे अद्भुत के लिये क्या प्रायश्चित्त होगा? सो कहते हैं कि-जिस वांम के ऊपर सम्पूर्ण घर का ठाठ (छप्पर) हो यह, या घर के खम्भे सध हठात् फट जावें, या जल का चड़ा, या मांट फूट जावे, तो व्याहृति मन्त्रों को पाठ कर आज्याहुति देवे ॥ ३१ ॥

दुःस्वप्नेष्वद्यनोदेवसवितरित्येतामृचं जपेत् ३२ अथापरम् ॥ ३३ ॥

'दु.स्वप्नेषु' 'अद्यनोदेवसवितः' (छ० आ० २, १, ५, (७) -'इति' एताम् 'अद्य' 'जपेत्' । एतज्जपादेव एतद्दद्भुतदीपप्रशमनं भवेत्तान् । गतनिदमद्भुतप्रकरणम् । ३२ । 'अद्य' अद्भुतप्रायश्चित्तविधानानन्तरम् 'अपरम्' अपि किञ्चिन्नैमित्तिकमस्ति तद् वक्तव्यम् ॥ ३३ ॥

भा०-धुरा स्वप्न देखने पर 'अद्यनोदेव सवितः' (छ० आ० २, १, ५, ७) मन्त्र का जप करे ॥३२॥ और भी कुछ घटनाके अनुसार कर्त्तव्य कहा जाता है ॥३३॥

चित्ययूपोस्पर्शनकर्णक्रोशाक्षिवेपनेषु सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्लुप्त इन्द्रियैश्च पापस्पर्शं पुनर्मानैत्विन्द्रियमित्येताभ्यमाज्याहुती जुहुयात् ॥ ३४ ॥

किन्तदित्याहः- 'चित्ययूपः' बीहूयूप; तस्य उपस्पर्शनम्, कर्णयोः स्वयोः क्रोशः शब्दः, अक्षयोः वेपनं कम्पनम् ; एषु निमित्तेषु ; -किञ्च सुप्ते एव सूर्याभ्युदितः अपित्रा सुप्ते एव सूर्याभ्युदितः गतश्चेत् ; -इन्द्रियैः हस्तादिभिः पापवस्तूनां परबधूरोजादीनां स्पर्शं 'पुनर्मानैत्विन्द्रियं पुनरायुः पुनर्भगः । पुनर्द्रविणं मैतु मा पुनर्ब्राह्मणं मैतु मा ॥३३॥ पुनर्मनः पुनरात्मा स आगात् पुनर्द्वजुः पुनः श्रीर्त्रं स आगात् । वैश्वानरो अदबध् स्तनूपा अन्तस्तिष्ठतु मे मनोऽमृतस्य केतुः (स्वाहा) ॥३४॥ (म० ब्रा- १, ६, ३३-३४) -'इति' एताभ्याम् ऋग्भ्याम् 'आज्याहुती' आज्यास्याहुतिद्वयं 'जुहुयात्' ॥ ३४ ॥

भा०-देवात् बीहूरूप प्रकट होनेपर, कान में किसी प्रकार शब्द होने पर आँखके स्फुरन होने पर, एवं सूर्योदय के पीछे जागने पर, या सूर्यास्त समय नींद आने पर, और भी हाथ आदि इन्द्रियोंके द्वारा पराई स्त्रीके स्तन स्पर्श करने पर, "पुनर्मानैत्विन्द्रियम्" इत्यादि दो मन्त्रों से दो आज्याहुति देवे ॥३४॥

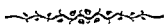
आज्यलिप्ते वा समिधौ । ३५ जपेद्वा लघुषु ॥ ३६ । ३ ॥

'धा' अथवा अनतिरिक्तनिमित्ते 'आज्यलिप्ते' समिधी' समित्काष्ठद्वय-
मात्रं जुहुयात् । तथैव तत्पापप्रशमनं भवेत्तान् । ३५ 'धा' अथवा 'लघुप' 'तती-
ज्यएपनिमित्तेषु उक्तमृगद्वयं जपेदेव न तु समिदाहुतेरप्यपेक्षेति शम् ॥ ३६ ॥

इति सामयदोषे गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ॥ ३, ३ ॥

भा०-यदि अतिरिक्त पाप स्पष्ट न हो जावे तो घी-से लपेटा लकड़ी
(दो) अग्नि में हवन करे ॥ ३५ ॥ बहुत छोटा दोष (पाप) होने पर उक्त
दोनों मन्त्र मन ही मन जप करे, आहुति प्रदान न करे ॥ ३६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयअध्यायके तृतीयखण्डका भाषानुवादपूराहुआ ॥ ३, ३ ॥



अथ स्नातकप्रकरणम् । कृतब्रह्मचर्योर्गाहंस्यानुप्रवेशायाचार्यानुगतः विधि-
विशेषेण स्नातः सन् पितृकुलं प्रतिगच्छति । एतदेव स्नातकव्रतमुच्यते । तदेवा-
स्मिन् खण्डे यथाक्रमं विधत्ते,-

ब्रह्मचारी वेदमधीत्योपन्याहृत्य गुरुवेऽनुज्ञातो दारान्
कुर्वीतासगोत्रान् ॥ १, २, ३, ४ ॥

'ब्रह्मचारी' आद्याश्रमीद्विजः 'वेदम्' वेदैकम् आद्यन्तम् । 'अधीत्य' गुरु-
मुखादनुश्रुत्य यथाशक्ति बुद्ध्याच (१) 'उपनी' उपनीः उपनयनं, तद्वक्षिणा-
प्युपधारादुपनीरित्युच्यते; ततो द्वितीयैकस्य सुपांसुरिति लुकि उपनीति;
उपनयनदक्षिणामिति यावत् 'गुरुवे' तस्मै वेदाध्यापकायाचार्याय 'आहृत्य'
निवेद्य (२) ततस्तेनैव गुरुणा 'अनुज्ञातः' द्वितीयाश्रमग्रहणे लब्धानुद्यः सन्
'दारान्' पत्नी 'कुर्वीत' (३) । दारांश्च कीदृशान् कर्त्तव्यान्तियाहः- 'असगोत्रान्'
समानगोत्रातिरिक्तान् स्वगोत्रजभिन्नानिति यावत् (४) ॥ ४ ॥

भा०-ब्रह्मचारी एक वेद को आद्योपान्त अध्ययन कर, गुरु को उपन-
यन की दक्षिणा दे, और उनकी आज्ञानुसार अपना विवाह स्थिर करे, जिस
कन्यासे विवाह करे उसका और अपना समान (एकही) गोत्र नही ॥ १, २, ३, ४ ॥

मातुरसपिण्डा । ५। अनग्निं का तु श्रेष्ठा । ६। अथाप्लवनम् । ७।

तत्र दारकर्मणि 'मातुः असपिण्डा' मातृसमानपिण्डा कन्या न ग्राह्या ॥ ५ ॥
तत्र च 'तु' अपि 'अनग्निं का' यस्याः कन्यायाः ऋतुर्नाभवत्, यावच्च नग्ना
उलङ्घापि विचरितुं शक्नुयात्, सा नग्निं का, तद्विना अनग्निं का ऋतुमती प्राप्त-
यौवना, सैव 'श्रेष्ठा' प्रशस्याः कन्याया ऋतौ सज्जाते ह्येवाग्निभोग्यस्य मुपयुज्यते,

तदेव च 'सोमो ददद् गन्धर्वाय'-इति मन्त्रप्रयोगो युज्यते नान्यथेत्येव दार-
कर्मणि ऋतुमत्याः प्राशस्त्यम् । अतएवाह ननुरपि 'दिवदत्तां पतिर्भायां विन्दते
नेच्छयात्मनः (९, ८५)'-इति । तदेवं प्राप्तयां प्राप्तयौवनायाम् आसन्नघोव-
नापि नोद्वाह्येति फलितम् (६) । ६ 'अथ' दारकरणे गुर्वनुमतिप्राप्तयनन्तरम्
'आम्रवनम्' ब्रह्मचर्यव्रतसमाप्तिसूचकं विधिविशेष विहितं स्नानम् उपदेष्टया-
म इति शेषः ॥ ७ ॥

भा०-और वह कन्या ब्रह्मचारी की माता की सपिण्डा न हो अर्थात्
ब्रह्मचारी की माता के पिता के सात पीढ़ी में न हो ॥ ५ ॥ जिस कन्या का
ऋतु (मासिकधर्म) प्रकाश हो चुका हो, इस प्रकार प्राप्त 'यौवना' को 'अनग्निका'
कहते हैं । अनग्निका कन्या ही विवाह के लिये प्रशस्ता होती है । वि-
वाह के निमित्त गुरु की आज्ञा पाने के अनन्तर ब्रह्मचर्यव्रत की समाप्ति
सूचक स्नान करे ॥ ७ ॥

उत्तरतः पुरस्ताद्वाऽऽचार्यकुलस्य परिवृतम्भवति ॥८॥

'आचार्यकुलस्य' आचार्यकुलसम्बन्धिन्ध्येव स्थाने 'उत्तरतः पुरस्तात् वा'
उत्तरस्यां पूर्वस्यां वा दिशि 'परिवृतं' सर्वतः आवृतं स्नानागारं 'भवति' भवेत् ॥८॥

भा०-आचार्य परिवार सम्बन्धी स्थान की उत्तर, या पूर्व दिशामें अच्छे
प्रकार आच्छादित एक स्नानागार (Bathing room) बनावे ॥ ८ ॥

तत्र प्राग्ग्रेषु दर्भपूद्दङ्गाचार्य्य उपविशति । प्राग् ब्रह्म-
चार्य्युदग्रेषु दर्भेषु ॥ ९, १० ॥

'तत्र' स्नानागारे 'आचार्य्य' 'प्राग्ग्रेषु दर्भेषु' 'उदङ्मुखः' सन् 'उपविशति'
उपविशेत् । 'ब्रह्मचारी' 'उदग्रेषु दर्भेषु' 'प्राक्' प्राङ्मुखः सन् उपविशेदित्येव ॥९,१०॥

भा०:-इस 'स्नानागार' में पश्चिम की ओर जड़ एवं पूर्व की ओर शिर
इसप्रकार डाले हुए कुशाओं पर आचार्य्य उत्तराभिमुख होकर बैठे एवं 'उत्त-
राग्र रक्ते' हुए कुशाओं पर ब्रह्मचारी पूर्वाभिमुख बैठे ॥ ९, १० ॥

सर्वौपधिविफाण्टाभिरद्भिर्गन्धवतीभिः शीतोष्णाभिरा-
चार्य्योऽभिपिञ्चेत् ॥११॥

कुहितद्रव्याण्युष्णजले निक्षिप्य वस्त्रादिना पूतीकृतं तज्जलं फारटमुच्यते ।
सर्वौपधिविफाण्टाभिः' सर्वौपधिविस्तृप्ताविषकृताभिः 'गन्धवतीभिः' सुगन्ध-
द्रव्यमिश्रिताभिः 'शीतोष्णाभिः' शीतलजलमिश्रिताभिः कदुष्णाभिर्यां 'अद्भिः'
'अभिपिञ्चेत्' ब्रह्मचारिणं प्रपद्यति ॥ ११ ॥

भा०:-युगन्ध, कच्चा पक्का मिला * सर्वोपधि-फाण्ट जल से आचाय्यं प्रथम ब्रह्मचारी को अभिषिञ्चन करे ॥ ११ ॥

स्वयमिव तु । १२ मन्त्रवर्णा भवति । १३ ॥

'तु' अप्यर्थः । अनन्तरम्, 'इव' तद्वत् आचार्याभिषिञ्चनप्रकारेण 'स्वयम्' अपि ब्रह्मचारी आत्मानम् अभिषिञ्चेदित्येव । १२ । अत्र स्वयमभिसिञ्चनकाले 'मन्त्रवर्णा' मन्त्रीव्धारणं कर्तव्यं 'भवति' भवेत् । १३ । स्वयमभिसिञ्चनकाले आदौ तावत् पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चाङ्गुलमुदकानां व्यवहारस्ततोऽवशिष्टानामेकद्वैव तूष्णीम् । तत्र चाद्यमन्त्रद्वयाभ्यामुदकाङ्गुलिद्वयं भूमौ क्षिप्त्वा तृतीयादिभिरुदकाङ्गुलिभिः शिरःप्रभृत्यङ्गानां सिञ्चनमभिमतम् । तदेव यथाक्रमं विधत्ते,-

भा०:-उन के पश्चात् ब्रह्मचारी स्वयं भी आपे को अभिषिञ्चित करे ॥ २॥ एवं आपे को अभिषिञ्चन करते समय मन्त्र पढ़े ॥ १३ ॥

[स्वयं अभिषिञ्चित होते समय पहिले पांच मन्त्रों से जलांजलि द्वारा जल व्यवहार कर अन्त में अवशिष्ट जल एक ही वार में अपने मस्तक पर डार देवे। उन में प्रथम दो मन्त्रों से लिया शेष अङ्गुलिजल भूमि पर डार कर तृतीय आदि तीनों मन्त्रों से मस्तक आदि सब शरीर सिंचन करे। इस का यथाक्रम से आगे विधान करते हैं]

ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा इत्यपामञ्जलिमवसिञ्चति ॥१४॥

"ये अपस्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोक्ष्य उपगोक्ष्यो मरुको मनोहाः । खलो विरुज-स्तनूदूपिरिन्द्रियहा अतितान्तसृजामि" ॥१॥ (म० ब्रा० १, ७, १)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'अपामञ्जलिम्' 'अवसिञ्चति' त्यजति भूमाविनि । १४ ॥

भा०:-"ये अपस्वन्तरग्नयः" इस मन्त्र से एक अङ्गुलि जल पृथिवी पर गेरे १४ ॥

यदपाङ्घोरं यदपाङ्कूरं यदपामशान्तमिति च ॥ १५ ॥

ततः, "यदपां घोरं यदपां क्रूरं यदपामशान्तमिति तत्सृजामि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० १, ७, २)-'इति' अनेन 'च' अपि अवसिञ्चत्येव ॥ १५ ॥

भा०-उसके पश्चात् 'यदपा घोर' मन्त्रसे एक अङ्गुलि जल भूमिपर डाले ॥१५॥

यो रोचनस्तमिह गृह्णामीत्यात्मानमभिषिञ्चति ॥१६॥

'ततः' " यो रोचनस्तमिह गृह्णामि तेनाहं नामभिषिञ्चामि" ॥ ३ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ३)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'आत्मानं' शिरःप्रभृतिकम् 'अभिषिञ्चति' च एव ब्रह्मचारी ॥ १६ ॥

* सब द्रव्यों का कूट कर गरम जल में छोड़ कपड़े से ढाक देवे ऐसे जल का 'फाण्ट', कहत हैं । वृ३, जयमांसी, हरिद्रा, वच, शिलाजित, जन्दग, गुरामांसी, लालचन्दन, वपूर, भद्रमोथ इन का नाम सर्वोपधि है ।

भा०-तदनन्तर “यो रोचनस्त” मन्त्र से एक अञ्जलि जल से गणना मस्तकादि सिद्धित करे ॥ १६ ॥

यशसे तेजसइति च । १७ येनस्त्रियमकृणुतमिति च । १८
तूष्णीञ्चतुर्थम् ॥ १९ ॥

तत “यशसे तेजसे ब्रह्मवर्षसाय ब्रह्मायेन्द्रियाय वीर्यायान्नाद्याय रायस्पो-
पाय अपचित्ये” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० १, ७ ४)-‘इति’ अनेन ‘य’ अपि आत्मा-
नमभिपिञ्चेत् । १७ तत. येन स्त्रियमकृणुत येनापामृपतल्युत्तम् । येनाज्ञानभ्य-
पिञ्चेत् येनेमा पृथिवीं महीम् । यद्दान्तरशिवना यशस्तेन मानमभिपिञ्चेत्म्” ॥५।
(म० ब्रा० १, ७, ५)-‘इति’ अनेन ‘च’ आत्मानमभिपिञ्चेत् । १८ । ततोऽत्रशिष्टान्युद-
कान्येकदैवगृहीत्या ‘तूष्णीं’ मन्त्रशून्यम् आत्मानमभिपिञ्चेत् । तदिदं चतुर्थम् ॥१९॥

भा०.-उस के पश्चात् “यशसे तेजसे” यह मन्त्र पढ़कर एक “अञ्जलि जलसे
अपना मस्तकादि सिद्धित करे ॥१७॥ अन्त मे “येनस्त्रिय” यह मन्त्र पढ़ २ कर
तृतीय जलाञ्जलि से पुन. अपना मस्तकादि सिद्धित करे ॥ १८ ॥ गेप जल को
बिना मन्त्र पढ़े अपने माथे पर डार देवे ॥ १९ ॥

उपोत्थायादित्यमुपतिष्ठेतोद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतत्प्र-
भृतिना मन्त्रेण ॥ २० ॥

‘ततश्चोपोत्थाय’ स्नानाद्यनादुत्थानं प्रकृत्य “उद्यन् भ्राजभृष्टिभिरिन्द्रो मरु-
द्भिरस्थात् प्रातर्पांशुभिरस्थात् । दशमनिरसि दशमनिं माकुर्वां त्या विशाम्या
माविश ॥ ६ ॥ उद्यन् भ्राज भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् मान्तपनेभिर-
स्थात् । शतमनिरसि शतसनि कुर्वां त्या विशाम्या माविश ॥ ७ ॥ उद्यन् भ्राज
भृष्टिभिरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावगिरस्थात् । महश्चमनिरसि महश्चमनिं
माकुर्वां त्या विशाम्या माविश” । ८ (म० ब्रा० १, ७, ६ तथा ७) ‘इत्येतत्प्रभृतिना’
एवम्प्रकारेण षष्ठाद्यन्यतमेन मन्त्रेण ‘आदित्य’ मूर्धम् उपतिष्ठेत्’ आराधयेत् २०

भा०-अनन्तर नहाने की जगह ही पर खड़े होकर ‘ उद्यन् भ्राज भृष्टिभि ॥
(६ टा, ७ म, या ८ ग) इन तीन मन्त्रों में से किसी एक का पाठ करते हुए
मर्धं की आराधना करे ॥ २० ॥

यथालिङ्गं वा विहरन् ॥ २१ ॥

‘या’ अथ शब्दोऽत्र व्यपस्थायाम् । यथालिङ्गं मन्त्रलिङ्गानुसारतएव व्य-
वस्था ‘विहरन्’ व्यपहरन् मन्त्रेण आदित्यमुपतिष्ठेत्तर्पेत् । तथा च षष्ठे मन्त्रे
‘प्रातर्पांशुभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् प्रातस्तर्पेव प्रयोग सप्तमे पुन मन्त्रप-

नेभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् मध्यान्ह तस्यैव प्रयोगः, अष्टमे तु सायंयावभिरिति मन्त्रलिङ्गदर्शनात् तस्यैव सायं प्रयोगः इति व्यवस्था ॥ २१ ॥

भा०:-इन तीन (पूर्वोक्त) मन्त्रों में से जिस में 'प्रातः' शब्द पठित है उस का प्रातःकाल के उपस्थान में प्रयोग करे, और जिस मन्त्र में मध्यान्ह बोधक 'सान्तपन' शब्द है उस को मध्यान्ह के उपस्थान में पढ़े और 'सायं' पद जिस मन्त्र में पढ़ा है उस मन्त्र को सायंकाल के उपस्थान में पढ़े ॥ २१ ॥

चक्षुरसीत्यनुबधनीयात् ॥ २२ ॥

“चक्षुरसि चक्षुषु गस्पवने पाप्मानं जहि । सोमस्त्वा राजायतु नमस्तेऽस्तु माना हिथंसीः” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० १, ७, ९)-‘इति’ इमं मन्त्रम् ‘अनु’ पश्चात् कालत्रये एव मन्त्रत्रयस्य ‘वधनीयात्’ बन्धनं कुर्यात् । उद्यन्भ्राजभृष्टिभिरित्येतदनुन्तरं सर्वत्रैव पाठयमित्यर्थः ॥ २२ ॥

भा०:-‘चक्षुरसि’ इस मन्त्र को प्रातःकालादि समय पढ़ने योग्य पूर्वोक्त (उद्यन् भ्राजभृष्टिभिः आदि) तीनों मन्त्रों के पश्चात् बान्ध देवे अर्थात् इन मन्त्रों के साथ-सह मन्त्र सदैव अवश्य पढ़ें ॥ २२ ॥

मेखलामवमुञ्जत उदुत्तमं वरुणपाशमिति ॥ २३ ॥

तदनन्तरञ्च ब्रह्मर्ष्यकाले गृहीतां ‘मेखलां’ ‘अधमुञ्जते’ अधस्तान्मोचनं कुर्यात् । तत्र मन्त्रः-“उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधनं वि मध्यमथंश्रयाय । अषादित्य द्रते वपन्तवानागसो अदितये स्याम” ॥ १० ॥ (म० ब्रा० १, ७, १०)-‘इति’ अयं बोध्यः ॥ २३ ॥

भा०:-तदनन्तर “उदुत्तम वरुण पाशम्” मन्त्र को पढ़कर, ब्रह्मर्ष्य ग्रहण समय की पहनी हुई मेखला को नीचे को त्याग देवे ॥ २३ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयम्भुक्त्वा केशश्मश्रुरोमनखानि वापयीत शिखावर्जम् ॥ २४ ॥

एवं स्नानं समाप्य मेखलात्यागानन्तरं स्नातकव्रतं समाप्तं मन्यमान आश्रमसन्धी स्थितः सः ‘ब्राह्मणान्’ कतिपयान् ‘भोजयित्वा’ ततः ‘स्वयं भुक्त्वा’ च ‘शिखावर्जं’ शिखाव्यतिरिक्तं ‘केशश्मश्रुरोम’ सर्वं ‘नखानि’ च ‘वापयीत’ नापितेनेति । २४ ।

भा०:-इस प्रकार स्नान कर मेखला त्यागने पर, स्नातक व्रत समाप्त हो गया, ऐसा समझ कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय ब्रह्मचारी कतिपय ब्राह्मण को भोजन करावे एवं पीछे आप भी भोजन करे । तदनन्तर नापित से मूँछ, रीस, नख आदि धनवाने ॥ २४ ॥

स्नात्वाऽलङ्कृत्याहते वाससी परिधाय स्नजमावधनीत
श्रीरसि मयि रमस्वेति ॥ २५ ॥

पूर्वाक्तवापनानन्तरं पुनः स्नात्वा, 'स्नात्वा', 'अलङ्कृत्य' स्वदेहम्, 'अहते'
अखण्ड 'वाससी' उपसंव्यानोत्तरीये 'परिधाय' "श्रीरसि मयि रमस्व" ॥ ११ ॥
(म० ब्रा० १, ७, ११)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'स्नजम्' 'आवधनीत' स्वमूर्ध्नीति
शेषः । २५ ।

भा०:—उक्त प्रकार और कर्म कराने पश्चात् भूपणादि पहन, अखण्ड दोनों
यख नीचे ऊपर (धोती अङ्गोच्छा) पहन कर "श्रीरसि मयि रमस्व" इस
मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने नस्तक में भाला *पहने ॥ २५ ॥

नेत्र्यौ स्थो नयतम्भामित्युपानहौ ॥ २६ ॥

"नेत्र्यौ स्थो नयतं माम्" । १२ । (म० ब्रा० १, ७, १२),—'इति' मन्त्रेण
'उपानहौ' घर्मापादुके परिधायेत्येव । २६ ।

भा०:—पीछे 'नेत्रयोस्थ' मन्त्र पढ़कर जूता पहने ॥ २६ ॥

गन्धर्वोऽसीति वैणवन्दण्डङ्गृह्णाति ॥ २७ ॥

'गन्धर्वोऽस्युपाय उपमामव' । १३ । (म० ब्रा० १, ७, १३),—'इति' मन्त्रेण
'वैणव्यं' वैणुवंशभवं 'दण्डं' 'गृह्णाति' । २७ ।

भा०:—अनन्तर 'गन्धर्वोऽसि' मन्त्र का स्मरण करते हुए वांस (शास्त्रोक्त
विधि अनुसार बनी) की यष्टि ग्रहण करे ॥ २७ ॥

आचार्य्यं सपरिपत्कमभ्येत्याचार्य्यपरिपदमीक्षते य-
क्षमिव चक्षुपः प्रियो वो भूयासमिति ॥ २८ ॥

'सपरिपत्कं, शिष्यादिमण्डलिविराजितम् 'आचार्य्यम्' 'अभ्येत्य, "यक्षमिव
चक्षुपः प्रियो वो भूयासम्" । १४ । (म० ब्रा० १, ७, १४) 'इति' मन्त्रमु-
च्चरन् 'आचार्य्यपरिपदं' तम् 'ईक्षते' पश्येत् । २८ । अथ यात्राप्रकारः ।

भा०:—तदनन्तर शिष्यों से घिरे हुए आचार्य्यके निकट बैठकर "यक्षमिव
भूयासं" मन्त्र पाठ कर उन शिष्य युक्त आचार्य्य का दर्शन करे ॥ २८ ॥

उपोपविश्य मुख्यान् प्राणान् सम्मृशन्नोष्ठापिधाना

* शरीर के किस २ अङ्ग में माला पहनने से माला की विशेष संज्ञा क्या २ होती है सो कहने है—जो
मस्तक में धारण किया जावे उसे 'मूक', एवं उसी को 'माला', और माला भी कहने है । वेश के भीतर पहनने
से 'गर्भक', नाम होता है, शिरसा २ लटवने से 'प्रधृष्टक', कहते हैं, सम्मुख भाग में लगाट पर जो झूलनी हो
उसे 'ललासव', कहते हैं । जो कण्ठ में पहिनी जावे उस 'प्रालम्ब', कहते, यही 'उपवीत', वा प्राचीनीनेत्रि की
गार्द बाँध तब लटवनी हो उसे 'वैरचिक्र', कहते हैं ॥

नकुलोति ॥ २९ ॥ अत्रैनमाचार्योऽर्हयेत् ॥ ३० ॥

‘उपोपविश्य’ अर्द्धोपवेशन प्रकृत्य ‘मुख्यान्’ मुख्यागतान् ‘प्राणान्’ वायून् ‘सम्पृशन्’ पवित्रीकुर्वन् “श्लोष्ठापिधाना नकुली दन्तपरिमित पथि । जिह्वे मा विह्वलो वाचं चारुमाद्येह वादय ” ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० १, ७, १५) ‘इति’ मन्त्र पठेदिति । २९ । अत्र’ अस्मिन्नेव समये ‘आचार्य’ ‘एन’ स्नातकम् ‘अर्हयेत्’ आशिषेति भाव । ३० ।

भा०—अर्द्धोपवेशन कर अपने मुख में आये हुए श्वास वायु का अनुभव करते हुए “श्लोष्ठापिधाना नकुली” मन्त्र का पाठ करे ॥ २९ ॥ इस समय आचार्य उस ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर प्रसन्न करे ॥ ३० ॥

गोयुक्तश्चरथमुपसंक्रम्य पक्षसी कूवरवाहू वाऽभिमृशो-
द्वनस्पते वीड्वद्गो हि भूया.इति ॥ ३१ ॥

ततश्च ‘गोयुक्त’ गोभ्या युक्त रथ’ यानम् ‘उपसंक्रम्य’—तत्समीपगमनेन प्राप्य, तस्यैव रथस्य ‘पक्षसी’ शक्री ‘वा’ अथवा कूवरवाहू युगन्धरपार्श्वे । “वनस्पते वीड्वद्गोहि भूया अस्मत्सखा प्रतरण सुवीर । गोभि सवद्गोअभि वीड्वस्व आस्थाता ते जयतु जेत्वानि” ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० १ ७ ६) ‘इति’ मन्त्रेण अभिमृशेत् स्पृशेत् ॥ ३१ ॥

भा०—इस प्रकार यात्रा के लिये जिस रथ में सवार होना हो उस के चक्र या जूआ छूकर ‘वनस्पते वीड्वद्गोहि’ मन्त्र का पाठ करे ॥ ३१ ॥

आस्थाता ते जयतु जेत्वानीत्यातिष्ठति ॥ ३२ ॥

तथा स्पर्शनम् कृत्वा “आस्थाता ते जयतु जेत्वानि” (म० ब्रा० १ ७ १७) ‘इति’ मन्त्र पठन् तदुपरि ‘आ’ आभिमुख्येन ‘तिष्ठति’ आरोहतीत्यर्थ ॥३२॥

भा०—उस के अनन्तर “आस्थाता ते” मन्त्र पढ़कर, रथ के ऊपर चढ़े ॥३२॥

प्राड्वोदङ् वाभिप्रयाय प्रदक्षिणमावृत्योपयाति ॥३३॥

प्राड्’ पूर्वाभिमुखस्तत्रोपविष्ट्वा ‘वा’ अथवा ‘उदङ्’ उत्तराभिमुखएवोपविष्ट्वा ‘अभिप्रयाय’ सर्वतश्चालयित्वा तद्रथमिति शेष । ‘प्रदक्षिण’ यथा स्यात् तथा ‘आवृत्य’ आघत्तनेन गत्या स्ववासमिति ॥ ३३ ॥

भा०—इस रथ पर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख बैठकर रथ चलावे । अपनी वास भूमि की दक्षिण में रक्त कर आघत्तन करते हुए वहां बैठे ॥३३॥

उपयातायार्घ्यमिति कौहलीयाः ॥ ३४ ॥

‘उपयानाय’ स्यावामप्राप्तय तस्मै स्वातकाय ‘अर्घ्यम्’ देयं पुरजनैरात्म-
जनैर्वा ‘इति’ एवं ‘कौहलीयाः’ आहुः। तत्राप्यस्माकं नासम्मति रिति भावः ॥३४॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके चतुर्थखण्डस्य व्याख्यानं समाप्तम् ३४

भा०:-यहुत दिन तक गुरुगृह में वारा पूर्वक कृत ब्रह्मचर्य्य, अधीतवेद,
स्नातक की परिवार गण आदर के साथ ग्रहण करें (Recieve) ॥ ३४ ॥
गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय अध्यायके चतुर्थखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३४॥



अत ऊर्ध्वं वृद्धशीली स्यादिति समस्तोद्देशः ॥१॥

‘अतः’ ब्रह्मचर्यात् ‘ऊर्ध्वं’ परस्तात् अकृतोद्वाहोऽपि पुरुषः वृद्धशीली
स्यात् वृद्धानां मात्रादीनां शुश्रूषापर आज्ञानुवर्त्ता ष भवेत् । अथवा वृद्धः प-
रबुद्धिः तस्वभावको भवेत् । ‘इति’ एतन्मात्रेणैव ‘समस्तोद्देशः’ समप्राणामेव
धर्माणाम् उपदेशः सिद्धो भवेदिति ॥१॥

भा०:-ब्रह्मचर्य्य ममाप्त करने पर विवाह के पहिले आश्रम सन्धि
समय तक गृहधर्म करना चाहिये । उस से पिता माता प्रभृति वृद्ध जनोंकी
सेवा में परायण एवं सुपक बुद्धि होये । यह मध्य उपदेशों का मूल है ॥१॥

तत्रैतान्याचार्याः परिसञ्जयते ॥२॥

‘तत्र’ ब्रह्मचर्योत्तरकाले आश्रमसन्धाविति यावत्, ‘आचार्याः’ गोभिला-
दयः ‘एतानि’ बुद्धिस्थानि अनुपदं वह्यमाणानि ‘परिसञ्जयते’ परिसंख्यानानि
कुर्वन्ति । परिसंख्यानञ्च निषेधविशेषम्, निषिद्धादन्यत्र विधानमित्येव तस्य
विशेषत्वम् ॥२॥

भा०:-पर में पुनः आये हुए ध्यक्तियों के लिये आचार्यों ने वह्यमाण
नियम निद्दिष्ट किये हैं ॥ २ ॥

नाजातलोम्न्योपहासमिच्छेत् ॥३॥ नायुग्वा ॥४॥ न रज-
स्वलया ॥५॥ न समानर्ष्या ॥६॥

‘अजातलोम्न्या’ रसानभिज्ञया बालिकया ‘उपहासम्’ अपि ‘न’ इच्छेत्
अपि ॥३॥ ‘अयुग्वा’ अयोग्यया अपि ‘न’ तथा ॥४॥ ‘रजस्वलया’ अपि ‘न’ तथा
॥५॥ ‘समानर्ष्या’ समानः योग्यः अपिः पतिः मर्या अस्ति, तथा सधयया अपि
‘न’ तथा ॥ ६ ॥

भा०:-जिन कन्या की अन्तर्लिन उत्पन्न हुए हों इसप्रकार रस से
अनभिज्ञा बालिका के साथ उपहास करने की इच्छा न करे ॥ ३ ॥ इसप्र-

कार आयु रूप गुण प्रभृति में सर्वथा अयोग्या नारी के साथ भी उपहास पत्रित्याग करे ॥ ४ ॥ रजस्वला पत्नी से अलग रहे ॥ ५ ॥ परस्त्री के साथ भी उपहास आदि न करे ॥ ६ ॥

नापरया द्वारा प्रपन्नमन्नं भुञ्जीत । ७ । न द्विःपक्वम् । न पर्युपितम् । ८ । अन्यत्र शाकमन्थस्यवपिष्टविकारेभ्यः ॥ १० ॥

'अपरया' गुप्तया 'द्वारा' 'प्रपन्नम्' प्राप्तम् 'अन्नम्' 'न भुञ्जीत' । ७ । 'द्विः-पक्वम्' पक्वं पुनःपक्वम् अन्नं ' न ' भुञ्जीतेत्येव । ८ । 'पर्युपितम्' अन्नम् ' न ' भुञ्जीत । ९ । तत्रास्ति विशेषः— शाकमांसयवानां पिष्टविकाराभ्याम् अन्यत्र पूर्वोक्तो निषेधो ज्ञेयः । तथाच शाकादिविकृतपिष्टकमिष्टान्नादौ पर्युपितत्वं न दीपायेति ॥ १० ॥

भा०:—अन्य किसी गुप्त रीति से प्राप्त अन्न भोजन न करे ॥ ७ ॥ दोवार का पका अन्न (उसना चावल आदि) भोजन न करे ॥ ८ ॥ वासी भात भी न खावे ॥ ९ ॥ कन्द, मूल फलादि द्वारा तैयार किया हुआ मांस की नाईं यव आदि अन्न से समुत्पन्न जलेवी आदि या अन्य किसी प्रकार का खाद्य मिष्टान्नादि वासी होने पर भी (कोई हानि नहीं) खावे ॥ १० ॥

न वर्पति धावेत् । ११ । नोपानही स्वयन्त्सहरेत् । १२ ।
नोदपान मवेक्षेत् ॥ १३ ॥

'वर्पति' पर्वन्धे 'न' धावेत् । ११ । 'उपानही' स्वस्यापि 'स्वयं' 'न आ-हरेत्' हस्तेनेति निर्माणप्रज्ञया वा । १२ । 'उदपानम्' कूपं 'न' 'अवेक्षेत्' तथा-वेक्षणे तत्र पतनसम्भवात् ॥ १३ ॥

भा०:—पानी बर्सेते गमम या बर्सेने परकीचड़ भरे मार्ग में दीड़ कर नचले ॥ ११ ॥ अपना जूता स्वयं हाथ में लेकर न चले और न स्वयं अपना जूता घनाये ॥ १२ ॥ बहुत गहरे कूप आदि में एक टक से न देखे ॥ १३ ॥

न फलानि स्वयं प्रचिन्वीत । १४ । नागन्धात्स्रजं धारयेत् । १५ । अन्यात्स्रहिरण्यस्रजः । १६ । नामालोक्ताम् ॥ १७ ॥

'फलानि' आशयपनसादीनि 'स्वयं' 'न प्रचिन्वीत' वृणशारादिभ्य इति या-यत् । १४ । 'अगन्धां' गन्धगूण्यां 'स्रजं'मालां 'न धारयेत्' नस्तके इति यायत् । १५ । तत्राप्ययं विशेषः—'हिरण्यस्रजः' सुवर्णमालातः 'अन्यां' न धारयेत् स्वर्णमाला-भरयन्तु धारयेदित्येव । १६ । गृहस्थाश्रमतः प्राक् अमालोक्तं माला व्यतिरिक्तं मालम्यादिकां 'न' धारयेत् ॥ १७ ॥

भा०-आम आदि कोई फल स्वयं पेड़ों से तोड़ कर न जमा करे ॥१४॥ माघे पर घिना गन्धकी माला न धारण करे ॥१५॥ किन्तु सोनेकी माला तो गन्ध रहित होने पर भी अवश्य धारण करे ॥ १६ ॥ माला शब्द से जिस माले का व्यवहार हो, उसी को धारण करे, मालम्बादिक (माला) को नहीं । अर्थात् गृहान्नम के पहिले आन्नम सन्धि में मालम्ब आदि का व्यवहार न करे ॥१७॥

स्नानि वाचयेत् । १८ भद्र मित्येतां वृथावाचं परिहरेत् ।

१९ भद्र मिति ब्रूयात् । २० तत्रैते त्रयः स्नातका भवन्ति ॥२१॥

स्नानक्षणं शिरोवेष्टनिकां मालां तु धारयेद्देव । १८ 'भद्रम्'-'इति' वृथा वाचं अभद्रेऽपि भद्रोक्तिं 'परिहरेत्' न प्रयुञ्जीत । १९ 'भद्रम्'-'इति' 'ब्रूयात्' सत्य मेव तद् भद्रं चेत् । २० अथ स्नातक विभागान् दर्शयति, -'तत्र' समावृत्ति-तेषु 'स्नातकाः' कृतब्रह्मचर्यत्रयान्तस्नानाः 'त्रयः' त्रिविधाः 'भवन्ति' ॥ २१ ॥ तत्र त्रिविधस्वमेव स्फुटयति ;-

भा०:-जिस का नाम स्नक् है, उसी को धारण करे ॥ १८ ॥ जो वस्तु अच्छी न हो, उसे अच्छी है ऐसा न कहे ॥१९॥ इसप्रकार, जो वस्तुतः अच्छी ही उसे अच्छी कहे ॥२०॥ समावृत्तिते (जिन का ब्रह्मचर्य समाप्त हो गया है) द्विज गण तीन प्रकार के होते-जिन्हें स्नातक कहते हैं ॥ २१ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥२२॥

'विद्यास्नातकः' विद्याग्रहणनियमपालनमन्तरेणापि वेदविद्यां समया-मथाप्येव अपूर्णोऽपि काले स्नातः, 'व्रतस्नातकः' विद्याग्रहणनियमान् प्रतिपा-ल्यापि समयवेदविद्याग्रहणे न कृतकृत्योऽपि च पूर्ण काले स्नातः, 'विद्याव्रत-स्नातकः' विद्यां समयां प्रगृह्य, व्रतं च यथावत् प्रतिपालय, यथाकालं स्नातः, 'इति' इमे त्रयः स्नातकाः ॥ २२ ॥

भा०:-प्रथम, विद्यास्नातक अर्थात् जितने नियमों का ब्रह्मचर्य में प्रतिपालन करना पड़ता, उतने नियमों का पालन न कर सकने पर, एवं जितने काल पर्यन्त ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य हैं, उतने काल तक न करके वेदाध्ययन समाप्त कर ब्रह्मचर्य समाप्ति सूषक स्नानकारी होता है । द्वितीय, व्रतस्नातक अर्थात् जितने समय तक ब्रह्मचर्य कर्त्तव्य, एवं जिस २ नियमसे कर्त्तव्य हो, उस २ प्रकार वेदाध्ययन समाप्त न करके भी 'व्रतस्नातक' होता है । तृतीय-'विद्याव्रतस्नातक' अर्थात् नियम पूर्वक यद्योक्त कालपर्यन्त ब्रह्मचर्य करके सम्पूर्ण वेदाध्यायी होता है ॥२३॥

तेषां मुत्तमः श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ । २३ । नाद्रं परिदधीत

१ २४ । नैकं परिदधीत । २५ । ननुष्यस्य स्तुतिं प्रयुञ्जीत । २६ ।
नादृष्टं दृष्टतोद्भवीत ॥ २७ ॥

'तेषां' त्रिविधानां, स्नातकानां मध्ये 'उत्तमः' तृतीयः विद्याव्रतस्नातक-
एव 'श्रेष्ठः' 'पूर्वौ' विद्यास्नातक व्रतस्नातकौ उभावेव 'तुल्यौ' समानमर्घ्यादौ
॥ २३ ॥ पुनरपि स्नातकव्रतान्याह--'आद्रं' वासः 'न' 'परिदधीत' । २४ ॥ 'एकं'
वासः 'न' 'परिदधीत' एवञ्च अन्तर्वासः कौपीनखण्डं व्यवहरेदेव । २५ मनुष्यस्य
स्तुतिं न प्रयुञ्जीत चाटुवाद् परित्यजेदिति । २६ 'अदृष्टं' किमपि कर्म, 'दृष्टतः'
परदृष्टहेतुना स्वयं दृष्टमिव सूचयन् मन्वानो वा 'शुवीत' ॥ २७ ॥

भा०-उक्त तीन प्रकार के स्नातकों में से तृतीय अर्थात् 'विद्याव्रतस्नातक'
ही मद्य से अच्छा है, अन्य दो समान हैं ॥ २३ ॥ भौंगा कपड़ा न पहने ॥ २४ ॥
केवल एक ही वस्त्र न पहने, किन्तु भीतर उस के काच्छा, या कौपीन पहन
कर ऊपर से धोती पहने ॥ २५ ॥ मनुष्य की झूठी प्रशंसा न करे ॥ २६ ॥ जिसे
अपनी आंखों से न देखे, उसे अपनी आंख से देखा है ऐसा न कहे ॥ २७ ॥

नाश्रुतं श्रुततः । २८ स्वाध्यायविरोधिनोऽर्थानुत्सृजेत्
। २९ तैलपात्रमिवात्मानं दिधारयिषेत् ॥ ३० ॥

'अश्रुतं' किमपि वाक्यं, 'श्रुततः' परश्रुतहेतुना स्वयं श्रुतमिव सूचयन् म-
न्वानो वा न शुवीत । २८ 'स्वाध्यायविरोधिनः' अर्थान् 'स्वाध्यायः' पक्षधा
उपपद्यते, स्वीकारात् विचारात् अभ्यसनात् जपात् छात्रेभ्योदानाच्च तदेषाम-
न्यतनस्यापि विरोधिनो येषां विषयाः तान् 'उत्सृजेत्' परित्यजेत् । २९ 'तै-
लपात्रं तैलैः पूर्णं पात्रं पण्डीययादिकम् 'द्वय' 'आत्मानं' जीवात्मानं 'दिधारयि-
षेत्' देहे धारयितुमिच्छेत् । तैलपूर्णपात्रहस्तः कश्चिद् यथा पथि अतीव
सायधानो गच्छति, अन्यथा वेगगमनेन वक्रगमनेन मनसोऽप्रतिधानेन च पात्र-
स्पर्शालानामुच्छलनं सपात्रानां भूमौ पतनं ततश्च पुनरपादनासम्भवः, भूम्याः
कषण्णिदाग्नादितेष्वपि तेषु मालिन्यादिकं परिभाषात्परव्यञ्चानियामं भवेत् ।
तपेय देहस्थमिममात्मानं मतिपत्रे नैव देहे रक्षितुमिच्छेत् चिरं देहे रक्षणं स्व-
सम्भयमेव, परमिच्छेत् तादृशेच्छेया च किञ्चित्कालमपि रक्षितुं समर्थो भवेत्
किञ्च पायत् कालं रक्षितः स्यात् तावदपेक्षाकृतोऽकृतोऽपि स्यात्, अन्यथा
यायत् स्वयं सायत्कालमपि न तिष्ठेत् किञ्चित्कालोऽप्यपेक्षाकृतः क्लेशीभवेत्प्रामेतिः ३०

भा०—जिसे अपने कानों से न सुना हो, उसे अपने कानसे सुना है ऐसा न कहे ॥ २८ ॥ पांच प्रकार के (स्वीकार, विचार, अभ्यास, जप, और छात्रों को देना) स्वाध्यायों में से किसी में बाधा न हो, ऐसा वर्त्त । अर्थात् ऐसा कार्य न करे जिससे स्वाध्याय की बाधा पहुँचे ॥ २९ ॥ मार्ग में चलता पुरुष जिस प्रकार तेल से भरा, तेल का वर्त्तन अपने हाथ में रख कर, उस की गिरने की डरसे बहुत सावधानी से चलता है; नहीतो अनवधानता से शीघ्रता, या टेढ़ी चाल चलने से, तेल पृथिवी पर गिरकर नष्ट हो जावे, यदि भूमि पर से गिरा तेल उठा लेवे, तो भी उसकी मलीनता एवं न्यूनता अनिवार्य है। इसीप्रकार इस शरीर में आत्मा की भी सावधानी से रक्षा करे, नहीं तो अकाल ही में, यह शरीरच्युत या दुःखीही जावेगा । यद्यपि यह, एक शरीर में घिरस्थायी और दुःखरहित नहीं रह सकता, तथापि यत्न करने पर अपेक्षा-कृत स्थायी और अपेक्षा कृत सुखी हो सकता है) ॥ ३० ॥

न वृक्षमारोहेत् । न प्रतिसायं ग्रामान्तरं व्रजेत् । नैकः । ३१-३३

'वृक्ष' 'न आरोहेत्' । तदारोहणेन ततः पतनमनु मरणमङ्गहानि यां भ-
जाम ॥ ३१ 'प्रतिसायं ग्रामान्तरं' 'न व्रजेत्' । तादृशव्रजनेन गुप्तप्रणयादिकं त-
थाप ततएव प्राणहानि रपि सम्भवति ॥ ३२ 'एकः' एकाकी एव ग्रामान्तरं 'न'
व्रजेत् तथाच ग्रामान्तरगतोविपन्नयेत् यः सहायो भवेत् शयया यथास्थानं सं-
वाद्सपि नपेदेवं कथनापरो द्वितीयः सहगोपतीवावश्यकः ॥ ३३ ॥

भा०—पेड़ पर न चढ़े (क्योंकि इससे गिर कर मर जावे, चोट लगने आदि की शङ्का है) ॥ ३१ ॥ प्रतिदिन सन्ध्या के पीछे दूसरे गांव में भ्रमणार्थ न जावे (इससे गुप्त प्रणय आदि दोष होने का डर है) ॥ ३२ ॥ अकेला दूसरे गांव में न जावे (एकाकी विपन्न होने पर, सहायकारी, या संवाद दाता का अभाव होता है । इस लिये ग्रामान्तर जाते समय एक उपयुक्त व्यक्ति की सतत सङ्ग रखे) ॥ ३३ ॥

न वृषलैः सह । ३४ न कासृत्या ग्रामं प्रविशेत् । ३५
न चाननुचरश्चरेत् । ३६ एतानि समापृत्तव्रतानि । ३७ यानि
च शिष्टा विदधुः ॥ ३८ ॥

'वृषलैः' दुर्नीतिकैः 'सह' 'न व्रजेत्' । तथाच 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' ॥ ३४
'कासृत्या' कुपचेन 'ग्रामं न प्रविशेत्' अपितु प्रसिद्धेन पया दूरतरेणापि प्रवि-
शेत् तथाच निर्भयगमनं भवेत् । ३५ 'च' अपि 'अननुचरः' भृत्यशिष्यात्मीया-
न्यतनपरिचारकविहीनः 'न परेत्' प्रवासं न गच्छेत् । अतएवोक्तं 'भृत्याभावे

भवति मरणम् । ३६ 'एतानि' उक्तानि समावृत्तत्रतानि' समावृत्तानां स्नातकानां कर्माणीति ॥ ३७ ॥ 'च' अपि 'यानि' उक्तान्यानि 'शिष्टाः' गुर्वादयः विद्ध्युः तानि च कर्त्तव्यान्वेवेति ॥ ३८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके पञ्चमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ३५
भा०—दुष्ट लोगों का संसर्ग न करे (जिस कारण संसर्ग ही से दोष गुण उत्पन्न होते हैं) ॥३४॥ प्रसिद्ध मार्ग रहने पर भी, जल्दी पहुंचने के विचार से प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कुपय से न जावे ॥ ३५ ॥ एवं प्रवास (दूरदेश बाहर) जाते समय नौकर, द्रात्र, या किसी एक अपने अनुचर को अवश्य सङ्ग ले लेये ॥ ३६ ॥ ये सब कर्म स्नातक के लिये कहे गये हैं ॥३७॥ और भी जो कुछ शिष्टगण स्नातकोंके हितार्थ नियम कहे, उन २ का प्रतिपालन अवश्य करे ॥३८॥ गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के पञ्चमखण्ड का भाषानुवादपूराहुआ ॥३५॥



**गाः प्रकाल्यमाना अनुमन्त्रयेतेमा, मे विश्वतो वीर्यं
इति १ प्रत्यागता इमा मधुमतीर्मह्यमिति ॥ २ ॥**

'प्रकाल्यमानाः' चरणभूमौ गमनार्थं गृहान्निष्काशयमानाः गाः, "इमा मे विश्वतो वीर्यं भव इन्द्रश्च रक्ततम् । पूयथंस्त्वं पर्यावर्शयान्गता आयन्तु नो गृहान्" ॥१॥ (म० ब्रा० १, ८, १)—'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत्' । १—'प्रत्यागताः' चरणभूमिती गृहागता स्ता गाः "इमा मधुमती मंक्ष्य मनग्टाः पयसा सह । गाय आज्यस्य नातर इहेमाः सन्तु भूपसीः" ॥ २ (म० ब्रा० १, ८, २) 'इति' अनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रयेतेत्येव ॥ २ ॥

भा०—चारण भूमि (गौ चराने की जगह) में चराने के लिये गौ आदि को घर से बाहर ले जाते समय " इमामे विश्वतो वीर्यंः" यह मन्त्र पढ़े ॥१॥ और तब गौ आदि परकर घर आयेंतो "इमा मधुमती मंक्ष्यम्" यह मन्त्र पढ़े ॥२॥

**पुष्टिकामः प्रथमजातस्य वत्सस्य प्राङ्मातुः प्रलेहना-
ज्जिह्वया ललाटमुल्लिह्य निगिरेद् गवाथंश्लेष्मासीति ॥३॥**

'पुष्टिकामः' पुरुषः, 'प्रथमजातस्य वत्सस्य, मातुः प्रलेपनात् प्राक्' एव तस्य 'ललाटं' जिह्वया' स्पर्शयया 'उल्लिह्य' आस्याद्य श्लेष्मिनेन मुलागर्तं स्नेहनात् "गवाथं श्लेष्मासि गायोः मयि क्षिप्यन्तु" ॥ ३ (म० ब्रा० १, ८, ३)—'इति' इमं मन्त्रं मनसा पठन्नेव निगिरेत्' गलाधः कुर्वात् । इत्येतत् पुष्टिकामस्य प्रथमं पार्ष्णम् (एतेन वत्समातुः स्नेहतोऽपि समधिकः स्निहः प्रतिपालकस्यावश्यक-
ललाटस्येव यथाभिन्नचित्तपुष्टिर्भवतीति गृहितम्) ॥ ३ ॥

भा०—जोलोग, पुष्टिकी कामना करें, वे गौ के घत्स, को जन्म के साथ ही, जब-तक उसकी अपनी मा उसे चाटे, या न चाटे, पुरुष अपनी जिह्वा से, घत्सका ललाट चाटे (अर्थात् मा के स्नेह से भी पालक का स्नेह कुछ अधिक होना आवश्यक है) । इस प्रकार चाटते समय मुंह में आया हुआ लार को “गवां श्लेष्मासि” यह मन्त्र मन ही मन पढ़ कर निगल जावे ॥३॥

**पुष्टिकाम एव संप्रजातासु निशायां गोष्ठेऽग्निमुपस-
माधाय विलयनं जुहुयात् संग्रहण संगृहाणेति ॥ ४ ॥**

‘पुष्टिकाम एव’ पुरुषः, ‘निशायां’ रात्री ‘सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; ‘गोष्ठे’ तत्रैव गोस्थाने, ‘अग्निम्’ उपसमाधाय, सम्यक् प्रज्वालय, तत्र, “संग्रहण संग्रहा-
या ये जाताः पशवो मन। एषैवाथं शर्मं यच्छतु यथा जीवन्तो अप्ययात्” ॥ ४॥
(म० ब्रा० १, ८, ४) — ‘इति’ एतेन मन्त्रेण ‘विलयनं’ अर्द्धमघितं दधि ‘जुहुयात्’ स्तुवेणेति । (इत्येतत् पुष्टिकामस्य द्वितीयं कार्यम् । एतेन, गवां प्रसवक्षेशरुज-
मपनीतं स्यात्) ॥ ४॥

भा०—जिन्हें पुष्टि की इच्छा हो, वे रात में गौ के घत्सा जनने पर, घरमें अच्छे प्रकार आग जला कर “संग्रहण संग्रहाण” यह मन्त्र पढ़ते हुए “विल-
यन” (आधा महा हुआ दधि) होम करे ॥४॥

**पुष्टिकाम एव संजातास्त्रौदुम्बरेणासिना वत्समिथुन-
योर्लक्षणं करोति पुंशस एवाग्नेऽथ स्त्रिया भुवनमसि साहस्रमिति ५**

‘पुष्टिकाम एव’ पुरुषः, ‘सम्प्रजातासु प्रसूतासु गोषु; ‘वत्समिथुनयोः’ द्वयोर्द्वयोर्घ-
त्सयोः ‘त्रौदुम्बरेण’ उदुम्बरकाष्ठीयेन असिना, चिह्नकविशेषेण ‘लक्षणं’ चिह्नम्
उभयोः समरूपमेव ‘करोति’ कुर्व्यात् । तत्र, ‘पुंसः एव’ चिह्नम् ‘अग्ने’ कर्त्तव्यम्,
‘अथ’ तदनन्तरं च ‘स्त्रियाः’ । अत्र चिन्हकरणे मन्त्री “भुवनमसि साहस्रमि-
न्द्रायत्यासृमोऽददात् अक्षतमरिष्टमिलान्दम्” ॥५॥ गो पोषणमसि गोपोपस्येशिपे
गोपोपाय त्वा । सहस्र पोषणमसि सहस्रपोपस्येशिपे सहस्रपोपाय त्वा” ॥६॥
(म० ब्रा० १, ८, ५, ६) — ‘इति’ इती ॥ ५ ॥

भा०—जो लोग पुष्टि की इच्छा करें, वे, गूलर की लफड़ी की धनी लाल तरवार से नयोत्पन्न प्रतिघञ्जे के दोनों कानों को इसप्रकार चिन्ह कर दें कि (यदि जोड़ा उत्पन्न होतो) प्रथम बाछे की, फिर घच्छिया की । दोनों कान में चिन्ह करते समय, “भुवनमसि साहस्रः” ये मन्त्र पढ़ें ॥ ५ ॥

कृत्वा चानुमन्त्रयेत् लोहितेन स्वधितिनेति ॥ ६ ॥

'कृत्वा' शङ्कन, 'च' तत "लोहितेन स्वधितिना मिधुनं कर्णयो कृतम्" (यावतीना) भूयसीना व एयमी लक्षणकारिणम् । (भूयसीना) भूयसीना व उत्तरामुत्तराथ समा क्रियासम्" ॥ ७ ॥ (स० ब्रा० १, ८, ७)- 'इति' अनेन मन्त्रेण 'अनुमन्त्रयेत्' ताम् वत्सानिति शेष । अत्र च मन्त्रे 'लोहितेन'-इति पदलिङ्गात् स चौदुंबरोऽसि लोहित स्यादिति गम्यते, लोहितत्वञ्च तस्य ष्वलनेन चिन्दूरादिना वा भवितव्यम् । तथाच दाहने सिन्दूरादिरङ्घ्रितेन वा वत्सयुग्मा चिन्हिता स्युः किञ्चात्रेव 'कर्णयो'-इति पददर्शनात् तेषां कर्ण-ध्वेव चिन्हानि कर्णव्यानीति च गम्यते । (एतेन (चरणभूम्यादौ बहुस्वामिक वत्सानामेकत्र चरणापि विश्रम सुपरिहार्य, किञ्चैकविधचिन्हेन द्वयोर्द्वयोः कर्णावच्छिताविति एकैऽपहृते तदन्वेषण सुकर भवेदित्येतत् पुष्टिकामस्य तृतीयं कार्यम्) ॥ ६ ॥

भा०-उक्त प्रकार चिन्ह करने पर, "लोहितेन स्वधितिना" यह मन्त्र पढे (एक २ जोडा वत्स का एक २ प्रकार चिन्ह रहने से एक वच्चा भुलाने पर उसके मिलने का सुभीता होगा, जहा गीये अधिक हो, वहा के लिये यह नियम जान पडता है) ॥ ६ ॥

तन्त्रीं प्रसार्यमाणां बद्धवत्साञ्चानुमन्त्रयेतेयं तन्त्रीं गवांमातेति ७

'प्रसार्यमाणा' शुष्कीभवनाय बद्धवत्साञ्च' गोदोहनादौ 'तन्त्री' वत्सयन्ध-
नरश्नु "इयं तन्त्री गया माता सवत्साना निवेशनी । सा न पयस्वती दुहा
उत्तरामुत्तराथसाम्" । ८ ॥ ८ (स० ब्रा० १, ८, ८)- 'इति' अनेन मन्त्रेण
'अनुमन्त्रयेत्' ॥ ७ ॥

भा०-'इयं तन्त्री गया माता' इस मन्त्र का पाठ कर वत्स को दान्धने
की रस्ती पसार कर सुसाये ॥ ७ ॥

तत्रैतान्यहरहः कृत्यानि भवन्ति । ८ निष्कालनप्रवेशने
तन्त्रीविहरणमिति । ९ गोयज्ञे पायसश्चरुः ॥ १० ॥

'तत्र' गोपोषणे 'एतानि' 'अहरह कृत्यानि' प्रतिदिनकर्तव्यानि 'भवन्ति'
भयेषु । ८ 'निष्कालन प्रवेशने' प्रथमद्वितीयसूत्रोक्ते 'तन्त्रीविहरण' सप्तमसूत्रो-
क्तम् अपि 'इति' इमानि शीलि । ९ अथ पुष्टिकामेन गोयज्ञे कार्यं तत्र द्रव्य-
देयते विधत्ते, - "गोयज्ञेपायस" पयसा सिद्ध 'षट्' पक्तव्य ॥ १० ॥

प्र० ३ खंड ६ सू० ६-१५] गोयज्ञप्रभूजाप्रव्यज्ञाः ॥ १४७

भा०-गौ पीषण (पालन) करने में प्रति दिन, ये नियम करना चाहिये ॥८॥ प्रथम, गी आदिक को चारण भूमि (चरागाह) में चरने देना, २ तीय, घर कर आने पर उनकी यत्र से ग्रहण करना और तृतीय, धर्षों की विशेष गौश्रों की सेवा करनी ॥९॥ गौ-यज्ञ के निमित्त दूधमें का पका चरु आवश्यक है ॥१०॥

अग्निं यजेत पूषणमिन्द्रमीश्वरम् । ११ ऋषभपूजा ॥ १२
गोयज्ञेनैवाश्वयज्ञो व्याख्यातः । १३ । यमवरुणौ देवताना-
मत्राधिकौ ॥ १४ ॥

‘अग्निं’ ‘पूषणम्’ ‘इन्द्रम्’ ‘ईश्वरम्’-इमान् चतुरो देवान् ‘यजेत’ अर्चयेत् । ११ ‘ऋषभस्य’ षपभस्य पूजा अपि कार्या । १२ ‘गोयज्ञेन’ उक्तानेन ‘एष’ ‘अश्वयज्ञः’ व्याख्यातः विशेषेणोपदिष्टः । तथाच अश्वयज्ञेऽपि पायसश्चरुद्रव्यम्; अग्न्याद्याएव देवताः । ऋषभपूजास्थानेऽश्वपूजनम् । १३ ‘अत्र’ अश्वयज्ञे ‘देव-
तानाम्’ नप्ये ‘यमवरुणौ’ इमौ देवौ ‘अधिकौ’ पूज्याविति ॥ १४ ॥

भा०-और अग्नि, पूषा, इन्द्र, और ईश्वर, ये चार नाम वाले देव विशेष अर्चनीय हैं । (अर्थात् जिन मन्त्रों के ये देवता हैं उन मन्त्रों से) ॥ ११ ॥ ऋषभ पूजा भी गोयज्ञ का प्रधान अङ्ग है ॥१२॥ गोयज्ञ और अश्वयज्ञ दोनों ही एक प्रकार से होंगे (इस से अश्वयज्ञ में भी दुग्ध सिद्ध चरु आवश्यक है और अग्नि प्रभृति उक्त चार देवता भी विशेष अर्चनीय हैं) ॥१३॥

भा०:-गौ-यज्ञ से, अश्व-यज्ञ में विशेषता यह है कि अश्व यज्ञ में ‘यम’ एवं ‘वरुण’ देवता की पूजा होती है ॥१४॥

गन्धैरभ्युक्षणं गवां गन्धैरभ्युक्षणं गवाम् । १५ ॥ ६ ॥

‘गन्धैः’ धूपादिभिः ‘गवाम्’ ‘अभ्युक्षणं’ ग्रहणं कार्यमिति शेषः । वीप्सा-
याञ्च द्विवचनम्, तेन प्रतिदिनमेव सायंप्रातः सायमेव वा गोशुद्धे अग्निं प्रज्वाल-
त्य तत्र गुग्गुल्वादिगन्धद्रव्यक्षेपणेन च तद्गृहं धूपयितं कार्प्यम् । एतेन मश-
कादीनामुपद्रवो वारितः स्यात्, गृहदोषश्च विदूरितो भवेदिति ॥ १५ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके पष्ठखण्डस्य वयारूपानंसमाप्तम् ३६

भा०:-गौ-शाला में प्रतिदिन सायं प्रातः काल, अन्ततः सायंकाल भी आग जला कर उस में धूना, गुग्गुल प्रभृति डाल कर, घर को साफ रखे (जिस से मल मूत्र जगित दुर्गन्ध दूर हो) ॥१५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के छठेखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ ॥३६॥

अथातः श्रवणाकर्म ११ पौर्णमास्यां कृत्यम् १२ पुरस्ता
च्छालाया उपलिप्य शालाग्नेरग्निं प्रणयन्ति ॥ ३ ॥

'श्रव' अधिकारायः । 'अतः' ऊद्घ्वं 'श्रवणाकर्म' अधिकृतं वेदितव्यम् ११
तच्च श्रवणाकर्म 'पौर्णमास्यां' त्रिषु 'कृत्यं' करणीयं भवति आरब्धव्यमिति ।
श्रवणाकर्मेति महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादन्वयतः श्रवणानक्षत्रयुक्तायामेव पौर्ण-
मास्यामिति । २ 'शालायाः' अग्न्यागारस्य 'पुरस्तात्' पुरोभागे 'उपलिप्य' गो-
मयेत्यादिना, 'शालाग्नेः' अग्न्यागारस्थिताग्निताएव 'अग्निं' गृहीत्वा 'प्रणयन्ति'
यथाविधिं प्रञ्चालयन्ति प्रञ्चालयेयुः गृहस्था अविशेषेणेति ॥ ३ ॥

भा०:-अथ श्रवणा कर्म का आरम्भ जनो ॥ १ ॥ यह श्रवण कर्म, श्रवण
मास की पूर्णिमा में पहिले किया जावे । अर्थात् श्राधिणी पूर्णिमा से इस का
आरम्भ करे ॥ २ ॥ जिस घर में नित्य अग्निहोत्र का अग्नि स्थापित ही, उसी
घर के पुरो भाग में गौ के गोबर से लीप कर अग्निहोत्र से कुछ अग्नि लेकर
पृथक् यथा विधि अग्नि प्रञ्चलित करे । यह, साधारणतः सब ही गृहस्थ करे । ३।

अभितश्चत्वार्युपलिम्पन्ति । ४ प्रतिदिशम् साधिके
प्रक्रमे । ५, ६ । अग्नौ कपालमाधाय सकृत्संगृहीतं यवमुष्टिं
भृञ्जत्यनुपदहन् ॥ ७ ॥

'अभितः' तस्याभिनवस्याग्नेः, 'चत्वारि' स्थानानि 'उपलिम्पन्ति' गोमये-
त्यादिनैव । ४ 'प्रतिदिशं' दिशं दिशं प्रति 'साधिके प्रक्रमे' अग्न्यून प्रक्रमपरि-
मित स्थाने तस्मिन्पनं कर्तव्यम् । 'त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः' । ५, ६ 'अग्नी' तत्र 'क-
पालं' घटाद्वेप्रायं भाजनम् 'आधाय' स्थाप्य, तस्मिन्नेवोत्तमे आष्ट्रे 'सकृत्सङ्गृ-
हीतं एकदैव सङ्गृहीतं मुष्टिमितं यवाज्जम् 'अनुपदहन्' दग्धं यथा न भवेत्
तथा कृत्वा 'भृञ्जति' भञ्जेत् ॥ ७ ॥

भा०-उस नये स्थापित अग्नि की चारो ओर चार स्थान भी गोबर से
लीपे ॥ ४ ॥ प्रत्येक दिशा में कम से कम तीन पग स्थान लीपे ॥ ५, ६ ॥ उस
नये अग्नि पर एक खपरी (चड़े का अट्टा) रख कर, उस में एक मुट्टी यव
एकवार डाल कर ऐसा भजे जिस में यव भस्म न हो जावे ॥ ७ ॥

पश्चादग्नीरुलूखलं दृष्ट्वहयित्वाऽवहन्त्युद्वेचम् ॥ ८ ॥

'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' भागे 'उलूखलं' 'दृष्ट्वहयित्वा' दृढं स्थापयित्वा तत्र उ-
द्वेचं, तुपमुक्तं यथा स्यात्तथा कृत्वा 'अवहन्ति' मुष्टिमितान् तान् भृष्टयवान्,
मुसलेनेति । ८ ।

भा०-उस अग्नि के पीछे दृढ़ता से ओखरी (उलूखल) रक्ख, उस में उक्त भूने यव आदि को साफ करने के लिये रक्ख कर मूसल से छांट देवे ॥८॥

सुकृतान्सक्तून् कृत्वा चमस ओप्य शूर्पेणापिधाय नि-
दधाति । ९ दक्षिणपश्चिमे अन्तरेण सञ्चरः ॥ १० ॥

एषञ्च 'सुकृतान्' निस्तुषीकृतान् 'सक्तून्' भृष्टयवचूर्णान् 'कृत्वा' 'चमसे' पानपात्रविशेषे 'ओप्य' संस्थाप्य 'शूर्पेणा' अपिधाय च 'निदधाति' यथास्थानं रक्षति ॥ ९ ॥ क्व दिशि रक्षेत् ? इत्याशङ्कामपनोदितुमाह:-'दक्षिणपश्चिमे' द्वे दिशौ 'अन्तरेण' मध्ये 'सञ्चरः' गमनागमनमार्गः । तदेतत्सञ्चरातिरिक्तप्रदेशेषु यत्र कुत्र वा रक्षेदित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

भा०-इस प्रकार भूने यव आदि की भूसी निकाल और चूर्ण कर, सुन्दर सत्तू प्रस्तुत होने पर, उसे चमसे में (पानीय पात्र में) रक्ख कर, सूप से ढांक कर यत्र से रक्खे ॥९॥ दक्षिण और पश्चिम दिशा में अर्थात् नैर्ऋत्यकोण में, जाने आने का रास्ता छोड़ कर, जहां चाहे, उक्त सत्तू को रक्खे ॥ १० ॥

अस्तमिते चमसदर्व्यावादाय शूर्पञ्जातिप्रणीतस्याद्वं
व्रजति । ११ । शूर्पे सक्तूनावपति चमसे चोदकमादत्ते ॥१२॥

'अस्तमिते' सवितरि, 'चमस-दर्व्या' शूर्पं च 'आदाय' गृहीत्वा 'अतिप्र-
णीतस्य' अतिरिक्तरूपेण स्थापितस्य, नित्याग्निः पृथक् कृत्वा द्वितीयतया
स्थापितस्य, अभिनवस्य, तस्यैवाग्नेः 'अद्वं' समीपं 'व्रजति' होमार्थमिति ।
। ११ । चमसे रक्षितान् तान् 'सक्तून्' 'शूर्पे' 'आवपति' 'च' अपि शून्ये तत्र
चमसे 'उदकम्' 'आदत्ते' गृह्णीयात् । १२ ।

भा०.-सूर्यास्त होने पर, चमस दर्वी (चलीना) सूप लेकर उस के अति-
रिक्त (अर्थात् नित्य स्थायी अग्नि से विभिन्न) नये अग्नि के निकट होम
करने के अभिप्राय से जावे ॥ ११ ॥ पहिले चमसे में रक्खा सत्तू आदि सूप में
उफल कर, उस चमसे में जल ग्रहण करे ॥ १२ ॥

सकृत् संगृहीतान् दर्व्या सक्तून् कृत्वा पूर्वं उपलिप्त
उदकं निनीय बलिं निर्वपति, यः प्राच्यांदिशि सर्पराज एष
ते बलिरिति । १३ । उपनिनयत्यपाथं शेषं यथा बलिं न
प्रवक्ष्यतीति ॥ १४ ॥

ततः 'दर्व्यां' तथा 'सक्तून्' 'सकृत्' एकवारं 'संगृहीतान् कृत्वा' गृहीत्वा,

किञ्च 'पूर्व' पूर्वस्यां दिशि 'उपलिप्ते' गोमयादिलिप्तस्थाने 'उदकं' चमसाद् गृहीतं 'निनीय' निषिच्य, तदुपरि "यः प्राच्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥१॥ (म०ब्रा०२,१,१)-'इति' अनेन मन्त्रेण 'बलिं' भागं 'निर्वपति' संस्थापयति ॥१३॥ 'अपां शेषं' तच्चमसपात्रस्थमवशिष्टं जलं 'उपनिनयति' उपनिनयेत् स्या- पितृलेखपरि किञ्चित् क्षिपेत् । तथा कृत्या क्षिपेत् 'यथा' च 'बलिं' तं बलिं 'न प्रवदयति' न प्रवहेत् ॥ १४ ॥

भा०-अनन्तर उस दूर्वा से एक ही धार में पूरा सत्तू उठाले और पूर्व दिशा में गोबर से लीपे हुए स्थान में उस चमस पात्र में रखे जल सीधकर उस के ऊपर यथा क्रम से "यः प्राच्यां" इस मन्त्र से बलिभाग रखे ॥ १३ ॥ उस चमस पात्र के बचे जल को उस बलि पर छीटे। इस जल को इस प्रकार छीटे जिस में ये बलि आदि वह न जावे ॥ १४ ॥

सद्यं बाहुमन्वावृत्त्य चमसदर्व्यावभ्युक्ष्य प्रताप्यैवं दक्षिणैवं प्रतीच्येवमुदीची यथालिङ्गमव्यावर्त्तमानः । शूर्पेण शेषमग्नावोप्यानतिप्रणीतस्याहुं ब्रजति ॥ १५, १६ ॥

ततश्च 'अव्यावर्त्तमान', तत्रैकत्रैवस्थितौ 'सद्यं बाहुम् 'अन्वावृत्त्य' वा- भागावर्त्तनक्रमेण 'एवं' यथोक्तेन सकृत् सङ्गृहीतादिप्रकारेण 'दक्षिणा' दक्षि- णास्यां दिशि देवा बलिः 'यथालिङ्गं' मन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य मन्त्रलिङ्गानुसारत- एव मन्त्रं (यो दक्षिणास्यां दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥२॥ यः प्रतीच्या दिशि सर्पराज एष ते बलिः ॥ ३ ॥ यः उदीच्या दिशि सर्पराज एष ते बलिः" ॥४॥ म०ब्रा०२,१,२-४) पठित्वा हर्त्तव्येति । 'एवं प्रतीची' बलिः हर्त्तव्या । 'एवम् उ- दीची' बलिः च हर्त्तव्या । ततश्च 'चमसदर्व्या' 'अभ्युक्ष्य' जलधौते प्रकृत्य 'प्रताप्य' तस्मिन्नेवाग्नी, 'शेषं' अवशिष्टसक्तुभागम् 'अग्नी' तस्मिन्नेव 'ओप्य' प्रतिप्य 'अनतिप्रणीतस्य' चिरस्थायिनएव तस्य, यतो गृहीत्या एषोऽतिप्रणीतः तस्य 'अहुं' समीपं 'ब्रजति' ब्रजेत् ॥ १५, १६ ॥

भा०-उसी एक स्थान में रहते हुए 'पीड़ावाई' और हटकर, इसी प्रकार दक्षिण ओर एक बलि पश्चिम ओर एक और उत्तर ओर भी एक बलि, रखे और उस २ बलि, के देते समय 'मन्त्र ब्राह्मणोक्त' अथवा तीन मन्त्र अर्थानुसार यथा यथ मन्त्रो क्ता व्यवहार करे । पीछे चारों ओर चार बलि प्रदान करे और उस के ऊपर यथा जल छिड़के । पीछे खाली चमस और दूर्वा जल में धोकर उसी अग्नि के ऊपर सुटाकर और अवशिष्ट सत्तू आदि उसी अग्नि

में डालकर जिस अग्नि में कुछ आग लेकर यह अग्नि प्रस्तुत हुआ है, उसी चिरस्थायी अग्नि के निकट जावे ॥ १५-१६ ॥

पश्चादग्ने भूमौ न्यञ्जी पाणी प्रतिष्ठाप्य नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं जपति । १७ । प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ १८ ॥

'अग्नेः' चिरस्थापितस्य अनतिप्रखीतस्य तस्य 'पश्चात्' भूमौ 'न्यञ्जी' अधोमुत्ती 'पाणी' हस्ती 'प्रतिष्ठाप्य' "नमः पृथिव्यै दथंष्ट्राय विश्वभृन्मा ते अन्ते रिपान् ॥ मथंइतं माविषधी विंइतं मा भिसंवधीः" ॥५॥ (म० ब्रा० २,१,३) 'इति एतं मन्त्रं जपति' ॥१७॥ ततः 'प्रदोषे' रात्रिप्रथमयामे 'पायसः चरुः' पक्तव्यः ॥१८

भा०:-उप अनति प्रखीत चिरस्थापित अग्नि के पृष्ठ भाग में दोनों हाथ नीचे कर "नमः पृथिव्यै" इम मन्त्र का जप करे ॥ १७ ॥ उस के पीछे रात्रि के पहिले अथ पहर में पायस चरु पकावे ॥ १८ ॥

तस्य जुहुयात्; श्रवणाय विष्णवेऽग्नये प्रजापतये विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥ १९ ॥

'तस्य' घरो; एकैकं भागं गृहीत्वा 'श्रवणाय स्वाहा' 'इति' इत्येवं पञ्चभिः मन्त्रैः 'जुहुयात्' पञ्चहोमान् कुपांदिति ॥ १९ ॥

भा०:-उस घर में से एक २ भाग लेकर 'श्रवणाय स्वाहा' प्रभृति पांच मन्त्रों से पांच आहुति देवे ॥ १९ ॥

स्थालीपाकावृताऽन्यत् । २० । उत्तरतोऽग्नेर्दभस्तम्बथं समूलं प्रतिष्ठाप्य सोमोराजेत्येतं मन्त्रं जपति याथं सन्धाथं समधत्तेति च ॥२१॥

'अन्यत्' कर्मशेषं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या कर्त्तव्येति, शेषः ॥२० 'अग्नेः' तस्यैव 'उत्तरतः' 'समूलं दभस्तम्बं' 'प्रतिष्ठाप्य' "सोमो राजा सोमस्तम्बो राजा सोमो स्ताकथं राजा सोमस्य यथथंस्मः ॥ अहिजम्भन मसि सौमस्तम्बथं सौमस्तम्ब महिजम्भन मसि" ॥६॥ (म० ब्रा० २,१,४) 'इति' 'एत' 'मन्त्रं' 'च' अपि "याथं सन्धाथं समधत्त यूयथं सप्तज्ञपिभिः सह।ताथं सर्पानात्पक्रानिट नमो वो अस्तु नानो हिथंसिष्ट" ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २,१,५) 'इति' मन्त्रं 'जपति' ॥ २१ ॥

भाः:-अपर शेष कर्मसंघ स्थाली, पाकपत्र जिस प्रकार सिद्ध करना होता उसी प्रणालि से करे ॥२०॥ उस अग्नि के उत्तर भाग में मूल के साथ कुगपुद्गु स्थापन कर 'सोमो राजा' यह मन्त्र और 'याथं सन्धाथं' मन्त्र पढ़े ॥२१॥

श्वस्ततोऽक्षतसक्तून् कारयित्वा नवे पात्रेऽपिधाय निदधाति।
अहरहस्तूष्णीं बलीन् हरेत् सायं प्राग्घोमादाग्रहायण्याः ॥२२, २३

'ततः' तदनन्तरं 'श्वः' परदिने 'अक्षतसक्तून्' यवसक्तून् 'कारयित्वा' पुत्र-
पुरोहितादिना 'नवे पात्रे' 'अपिधाय' आच्छाद्य 'निदधाति' स्थापयति। तैरेव
सक्तुभिः 'अहरहः' प्रतिदिनं 'सायं होमात्' सायङ्कालीनहोमतः पुरस्तादेव
'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव 'बलीन् हरेत्' । 'आ आग्रहायण्याः' अग्रहायणमासी-
यपौर्णमासीं यावत् पौर्णमासीतः प्राग्दिनपर्यन्तमिति । समाप्तं श्रवणाकर्म ॥२२, २३
इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रतृतीयप्रपाठकेसप्तमखण्डस्यव्याख्यानंसमाप्तम् ३, ७

भा०:-उस के दूसरे दिन अपने पुत्र, या पुरोहित आदि द्वारा यव का
सक्तू प्रस्तुत कराकर नये पात्र में ढाक कर रखे और इसी सक्तू से प्रतिदिन
सांयहोम के पहिले पूर्ववत् बलिभाग यथा स्थान में प्रदान करे। अग्रहण
महीने की पूर्णिमा के पूर्वदिन तक इसी प्रकार करे ॥ २२, २३ ॥ *

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीयप्रपाठक के सप्तम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३, ७॥

आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां पृषातके पायसश्चरुः ॥१॥

'आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां' आश्विनपूर्णिमायां 'पृषातके' आन्वमिश्रिते
पयसि सम्पादिते (इति भावतोलब्धः) 'रुद्रः' रुद्रदेवताकः 'पायसः चरुः'
पक्व्यः इति शेषः ॥१॥

भा०:-आश्विन मास की पूर्णिमा की, पृषातक अर्थात् घृत मिश्रित दुग्ध
सम्पादन पूर्वक रुद्र देवता की तुष्टि के लिये पायस चरु पाक करे ॥ १ ॥ *

तस्य जुहुयादा नो मित्रावरुणेति प्रथमां मानस्तोक
इति द्वितीयाम् ॥ २ ॥

'तस्य' चरोः एकैकशं गृहीत्वा 'आनोमित्रावरुणा' (छ० आ० ३, १, ३, ७)
'इति' 'प्रथमाम्' आहुतिं किञ्च "मानस्तोके तनये मान आयी मा नो गोषु मा
नो अरवेपु रीरिपः । वीरान्ना नो रुद्र भानिनो वधी हंविष्मन्तः सदभिर्या
हवामहे" ॥८॥ (म० ब्रा० २, १, ८) 'इति' 'द्वितीयाम्' 'आहुतिं' 'जुहुयात्' ॥२॥

भा०:-उक्त चरु का एक २ भाग लेकर "आनो मित्रावरुणा" (छ०आ०४,
१, ३, ७) मन्त्र से प्रथम और "मानस्तोके तनये" मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥२॥

* आज इसी "अन्याकर्म", के बदले सावन की पूर्णिमा की सलीनी 'राखी', वा 'रघानन्धन',
शाक्य लोग अपने २ यजमानों को "धेनु बन्दी बली राजा दानेबन्दी गदावतरने त्वा प्रतिवन्धामि रके मान्त
मान्त", इस श्लोक को पढ़ (राखी रङ्गीन धागा) बान्ध कर दक्षिणा पाते हैं ॥

* इसी के बदले "कौजागरी मन्त्र", अर्थात् कौजागरी पौर्णमासी को लक्ष्मी पूजा हुआ करती है ॥

गोनामभिश्च पृथक् काम्यासीत्येतत्प्रभृतिभिः ३ । स्था-
लीपाकावृताऽन्यत् ॥ ४ ॥

‘ष’ अपि ‘काम्यासि इत्येतत्प्रभृतिभिः’ यजुर्वेदप्रसिद्धैः (य० वे० सं० ८, ४३) ‘गोनामभिः’ एकादशभिः, ‘पृथक्’ नामशः एकादशाहुती जुहुयात्तस्यैव चरोरंशं गृहीत्वेति ॥ ३ ॥ ‘अन्यत्’ सर्वं ‘स्थालीपाकावृता’ स्थालीपाकरीत्या एव कर्त्तव्यमिति ॥ ४ ॥

भा०:-‘काम्यासि’ प्रभृति यजुर्वेद के प्रसिद्ध ग्यारह (य० वे० सं० ८, ४३) गौ के नामों का उच्चारण करे, इस षष्ठ के भाग को लेकर भिन्न २ * ग्यारह आहुति देवे ॥ ३ ॥ और अन्यान्य सब कार्य स्थालीपाक की नाईं करे ॥ ४ ॥

पृपातकं प्रदक्षिणमग्निं पर्याणीय ब्राह्मणानवेक्षयित्वा-
स्वयमवेक्षेत; तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुञ्चरत् । पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतमिति ॥ ५ ॥

ततः ‘अग्निं प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘पृपातकम्’ आश्रय मिश्रितं पयः
‘पर्याणीय’ स्वसनीयं गृहीत्वा तच्च ‘ब्राह्मणान्’ तत्रागतान् ‘अवेक्षयित्वा’ ‘दर्श-
यित्वा’ ‘तच्चक्षुर्देवहितम्’-‘इति’ इमं मन्त्रं पठन् ‘स्वयम्’ अवेक्षेत ॥ ५ ॥

भा०:-उस के अनन्तर अग्नि की प्रदक्षिण कराकर उस पृपातक को अ-
पने निकटस्थ लेकर स्थानीय ब्राह्मणों को देखावे एवं ‘तच्चक्षुर्देवहितं, इत्यादि
मन्त्र पढ़ २ कर उस में अपना मुख देखे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणान् भोजयित्वा स्वयं भुक्त्वा जातुपान्मणीन्
सर्वौषधिमिश्रानावधनीरन् स्वस्त्ययनार्थम् ॥ ६ ॥

‘ब्राह्मणान्’ निमन्त्रितान् ‘भोजयित्वा’ भोजनदानेन तपेयित्वा ततः
‘स्वयं भुक्त्वा’ ‘सर्वौषधिमिश्रान्’ त्रीहिशालिसुद्गोधूम-सर्षप-तिल यव-मिश्रणो-
दलिसहितान् ‘जातुपान्’ जातुपानामकीन् लाक्षाकृतान् ‘मणीन्’ ‘स्वस्त्ययनार्थं’
कल्याणाय ‘अवधनीरन्’ स्वब्राह्मणादाविति ॥ ६ ॥

भा०:-इस प्रकार कर्म की समाप्ति में, निमन्त्रित ब्राह्मणादिकों को
भोजन करा कर, आप भी भोजन करे और १ त्रीहि, २ धान्य, ३ मूग, ४ गोहूम,
५ सर्षप, ६ तिल, ७ यव, इन सात शस्य (अनाज) की पुटली बना इस के

* इडा रग्मा, इष्ठा, काम्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुति, अग्न्या, ये ११

यजुर्वेदोक्त गौ रे नाम हैं ।

साथ * जातुप नामक कर्ह एक मणि के साथ बाहु पर, या दूसरे किसी कमर से ऊपर के ** अङ्गों में बान्धे । इस से कल्याण की वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

सायं गाः पृषातकं प्राशयित्वा सहवत्सा वासयेत स्व-
स्ति हासां भवति । ७, ८ नवयज्ञे पायसश्चरुर्इन्द्राग्नः ॥६॥

'सायं' समुपस्थिते 'गाः' 'पृषातकं' तत् 'प्राशयित्वा' पाययित्वा 'सहव-
त्साः' वत्सैः सहिताः ताः 'वासयेत' तां रात्रिमिति । एतेन कर्मणा 'आसां'
गवां 'स्वस्ति' शुखं 'भवति' । ७, ८ 'नवयज्ञे' नूतनशस्यनिमित्तोत्साहादिप्रका-
शनाय परमदेवाद्यर्चनं कर्तव्यं भवति, तत्र । 'पायसः पयसा दुग्धेन सम्पादितः'
'चरुः' पक्वव्यः । स च चरुः 'इन्द्राग्नः' इन्द्राग्निदेवताको भवेदिति नवयज्ञ-
द्रव्यदेवतानिर्द्देशः ॥ ८ ॥

भा०—सायंकाल में, जब गीयें घर कर बाहर से वापस आवें, उन को वह पृषातक पिलावे और रात्रि में बच्चों को अलग २ न बान्धकर, अप-
नी २ माके निकट ही रखे । इस से गी आदिक प्रसन्न रहेंगी ॥ ७, ८ ॥
नूतन शस्य निमित्तक उत्साह आदि प्रकाशनाय परम देवतार्चन यज्ञ करना
होता है । (नवाग्नेष्टि) इस में इन्द्राग्नी कहकर प्रसिद्ध दोनों देवता के नाम से
आहुति दीयी जावेगी और वह उसी नये शस्य के पायस चरुसे सम्पन्नहोगी ८

तस्य मुख्याथ हविराहुतिथं हुत्वा चतसृभिराज्याहु-
तिभि रभिजुहोति शतायुधायेत्येतत्प्रभृतिभिः । १० स्थाली
पाकावृताऽन्यत् ॥ ११ ॥

'तस्य' नवयज्ञस्य 'मुख्याम् आहुतिं' इन्द्राग्निदेवताकां 'हुत्वा' ततः परं
"शतायुधाय शतयीर्याय शतोत्तयेभिनात्तिपाहे । शतं यो नः शरदो अग्नीजा-
दिन्द्रो नेपदतिदुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥ ये चत्वारः पयसो देवयाना अन्तरा
द्यायापृषियी विपन्ति । तेषां यो अज्यानि मग्नीजिमायहास्तस्मै नो देवाः
परिदत्तेह सर्वे ॥१०॥ ग्रीधमो हेमन्त उत नो वसन्तः शरद्वर्षाः सुधितसो अस्तु ।

* आत्र इमी के बरने आदर्य गय 'नर्', (नयनी) बाधा बरने है । यद्यपि ये लिंग उक्त सात ७ अनात्र
मे रखा बन्धन नहीं करने, किन्तु कालिन माग के शुरुशर को नवमी की रात्रि में बानी के पूजाय को कल्प
रक्षणा जना, उस बेदी में जो बर बोधा रक्षणा है, उस को जग्मने पर दरामी के रिज आदर्य लंग बरने में मे
व्यक्त कर बरने २ यवमानों को श्रोत्र—(नयनी महता बाली, यश्वन्ती यवतिनी दुर्गे एमा घमा धागे,
मद्राली नभोगु ते) पद् बर उन को शिगा में बकनी बन्धनर दृष्टिगा पाने है ॥

** तिस का रग म'एशय की नार्, ल'द ल'गु र'गा रे उमी को जगु म'रने । इमामय भी रगी का
न'म' गर है । जगु म'रने का जगुप बरने ॥

तेषां मृतूनाथंशत शारदानां निवात एषा मभये स्याम ॥ ११ ॥ इद्वत्सराय पत्विदत्सराय संवत्सराय कृणुता वृहन्नमः । तेषां वयथं सुमती यज्ञियानां ज्योग् जीता अहताः स्याम ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, १, ९-१२)—'इत्येतत्प्रभृतिभिः' 'वतसृभिः' मन्त्रैः 'आज्याहुतिभिः' 'अभिजुहोति' ॥ १० ॥ अन्यत् अवशिष्टका- 'यंजातं स्यालीपाकावृता' स्यालीपाकयज्ञरीत्या एव भयेनाम ॥११॥

भा०.—उस नूतन यज्ञ की मुख्य यह ऐन्द्राग्नि आहुति देने पर "शता- सुधाय" इत्यादि चार मन्त्रों से आज्याहुति द्वारा और भी चार होम मरे ॥ १० ॥ अवशिष्ट कार्यं सद्य स्याली पाक यज्ञ के विधि अनुसार करे ॥११॥

हविरुच्छिष्टशेषं प्राशयेद् यावन्त उपेताः स्युः ॥ १२ ॥

'उच्छिष्टशेषम्' उत्सर्गकृतस्य हविः शेषं 'हविः' 'यावन्त' दर्शकाः परिजना निमन्त्रिताश्च 'उपेताः' तत्रागताः 'स्युः' तान् सर्वानेवाविशेषेण 'प्रा- शयेत्' ॥ १२ ॥

भा०:—होम में की बची हुई शेष हवि, यज्ञ दर्शनार्थ आये परिजन, नि- मन्त्रण से आये हुए लोगों की यथा भाग खवावे ॥ १२ ॥

सकृदपामुपस्तीर्य द्विश्वरोरवद्यति ॥१३ त्रिभृगूणाम् ॥१४

'चरोः' उपरि 'अपां' भागं 'सकृत्' एकवारम् 'उपस्तीर्य' प्रथमसिञ्चनं प्रकृत्य 'द्विः' द्विवारम् 'अवद्यति' तं चरं मेक्षणैनेति ॥१३॥ 'भृगूणां' भृगुगोत्रो- त्पन्नानां 'त्रिः' त्रिवारमद्यदानं कर्त्तव्यमिति विशेषः ॥१४॥

भा०:—होम से बचे हुए चरु के ऊपर एक बार जल छिड़क कर मेक्षण द्वारा, दो बार खरह २ करे अर्थात् उस चरु को तीन भाग करे ॥ १३ ॥ भृगु- गोत्र वाले उस चरु को ४ भाग में बाँटे, यही इसमें विशेषता है ॥ १४ ॥

अपाञ्चैवोपरिष्ठात् । १५ असत्स्वादानिगिरेद्ब्रान्नः श्रेय इति । १६ एवं त्रिः ॥ १७ ॥

'च' अपि 'उपरिष्ठात्' तस्यैवावदातस्य चरोः, 'अपां' प्रक्षेपः कर्त्तव्यः ॥१५॥ एयंकृत्या ततः किपन्मात्रं तच्चरं "भद्रान्नः श्रेयः समनैष्टदेवास्त्यया वसेन सम- शीमहि त्या । सनो मयोभूः पितेवाविशस्व शं तोकाय तन्वै स्योनः (स्वाहा)" ॥१३॥ (म० ब्रा० २, १, १३)—'इति' इमं मन्त्रं पठित्वा 'असत्स्वादं' तच्चरोः आस्वादं सम्यक् गृहीतं न भवति यथा तथाकृत्यैव 'निगिरेत्' दन्तैश्चवर्षांमकू- त्वैव गलाध कुपादिति ॥१६॥ 'एवं' मन्त्रपाठपूर्वकमसत्स्वादश्च 'त्रिः' त्रिवारम् निगिरणं कर्त्तव्यम् ॥१७॥

भा०:-उसी प्रकार कई भागों में बटे हुए चरु पर भी एक बार जल छिड़के ॥ १५ ॥ तत्पश्चात् उस चरु में से कुछ लेकर "भद्रान्नः श्रेयः" यह मन्त्र पढ़कर स्वाद न लेकर निगल जावे ॥ १६ ॥ इस प्रकार मन्त्र पढ़कर और स्वाद न लेकर तीनवार चरुभाग को गला के नीचे करे (निगलजावे) ॥ १७ ॥

तूष्णीं चतुर्थम् । १८ भूय एवावदाय कामन्त्रं संस्वादयेत् । १९ आचान्तोदकाः । २० प्रत्यभिमृशेरन्मुखं शिरोऽङ्गानीत्यनुलोमममो सीति ॥ २१ ॥

'चतुर्थं' निगरणं 'तूष्णीम्' अमन्त्रकमेव परमत्राप्यसंस्वादमिति वर्तते ॥ १८ ॥ 'भूयः' पुनरपि पूर्ववत् 'अवदाय' चरुच्छेदं प्रकृत्य 'तत्र' तस्मिन् पक्षे 'कामं' यथा स्यात् तथा 'संस्वादयेत्' तं चरुभागमिति । १९ ततः 'आचान्तोदकाः' भवेयुः उदकैः कृताचमनाः स्युरिति । २० ततश्च "अनोसि प्राणं तद्वत् ब्रवीम्यसा ह्यसि सर्वमनु प्रविष्टः । स मे जराशं रोगमपमृज्य शरीरादपाम एधि सा सृया न इन्द्र (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, १, १४) - 'इति' इमं मन्त्रं पठन्नेव 'मुखं' ललाटादि चिबुकपर्यन्तं 'शिरः' ब्रह्मरन्ध्रम् 'अङ्गानि' कर्णामूलादीनि पादाप्रान्तानि 'प्रत्यभिमृशेरन्' उदकैः सिञ्चेरन्निति ॥ २१ ॥

भा०:-चतुर्थवार में मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस बार भी स्वाद ग्रहण न करे ॥ १७ ॥ पुनः, उसी प्रकार मेलन द्वारा चरु सब को टुकड़ा २ कर भक्षण करे, परन्तु इस बार यदि इच्छा हो, तो, स्वाद भी ग्रहण कर सकता है ॥ १९ ॥ अनन्तर, जल से आचमन करे अर्थात् मुख और हाथ पैर धोवे ॥ २० ॥ उस के पश्चात् ही "अनोसि प्राणं" मन्त्र पाठकर ललाट से डाढ़ी पर्यन्त और ब्रह्मरन्ध्र प्रदेश एवं कान की जूड़े से पैर तक अच्छे प्रकार धोवो ॥ २१ ॥

एतयैवावृता श्यामाकयवानामग्निः प्राप्नातु प्रथम इति श्यामाकानामेतमुत्स्यं मधुना संयुतं यवमिति यवानाम् २२, २३, २४ । ३, ८ ॥

'एतया एव आवृता' अनया नवग्रीहियसोः करीत्या एव श्यामाकयवानाम् अपि नयानां यज्ञः कार्यः । विशेषस्तु :- 'श्यामाकानां' श्यामाकसम्बन्धिनि यज्ञे "अग्निः पश्चात् प्रथमः स हि वैद्यया ह्यिः शिवा । अस्मभ्य मोषधीः कृणोतु विषयवर्षणिः" (स्वाहा) ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, १, १५) - 'इति' एव मन्त्रो

[प्र० ३ खं० ८ सू० १८-२४, खं० ९ सू० १-३] आग्रहायणीकर्म ॥ १५१

व्यग्रहायः ; किञ्च 'यवानां' यवसम्बन्धिनि यज्ञे " एतमुत्पं मधुना संयुतं यवथं सरस्वत्या अधिवनाव चकुंधि। इन्द्र आसीत्सीरपतिगतक्रतुः कीनाशा आसन्नरुतः सुदानय." (स्वाहा) (न० ब्रा० २, १, १६) - 'इति' एव मन्त्रो व्यवहसंब्यइति । २२, २३, २४ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेत्तृतीयप्रपाठकेनष्टमखण्डस्यव्यार्यानंसमाप्तम्॥३,८॥

भा०:-पूर्व जो कहा गया है, ये सब ही नूतन ग्रीहि, शस्य के लिये हैं, परन्तु सामा, यव, शस्य के विषय में इसी रीति से यज्ञ सम्पन्न करे। विशेषता केवल यह है कि- नूतन श्यामाक (सामा) यज्ञ में 'शतायुधाय' मन्त्र के बदले "अग्निः प्राश्नात्" प्रथम मन्त्रका पाठकरे और नूतन यव यज्ञ में "एत मुत्पं मधुना" मन्त्र का व्यवहार करे ॥ २२, २३, २४, ॥

गोभिलगृह्यसूत्रकेतृतीय प्रपाठक के अष्टमखण्ड का भाषानुवाद पूराहुआ॥३,८॥

आग्रहायण्यां बलिहरणम् १ तत् श्रावणेनैव व्याख्यातम् ॥२॥

'आग्रहायणायाम्' अग्रहायणी मार्गशीर्षे इति पर्वायवचनम्। अग्रहायणस्ये यमाग्रहायणी, तस्यां पौर्णमास्याम् अपि 'बलिहरणं' कर्त्तव्यम् । १। एतच्च बलिहरणं 'श्रावणेन एव व्याख्यातम्' श्रावण्यां बलिहरणे यद्यदुपदिष्टमिहापि तत्तदेव धोध्यमिति । २ ।

भा०:-अग्रहन की पूर्णिमा को भी बलि प्रदान करे ॥१॥ * यह बलिप्रदान, श्रावण मास के बलिहरण से कहा गया है। अर्थात् श्रावण मास की पूर्णिमा को बलिहरण विषय में जो २ कहा गया है इस अग्रहन मास की पूर्णिमा के बलिहरण में भी वही २ नियम प्रतिपालन करे ॥२॥

नमः पृथिव्या इत्येतं मन्त्रं न जपति ॥ ३ ॥

'नमः पृथिव्यै' (पृ० १५१), - 'इति एतं मन्त्रं' 'न जपति' आग्रहायणाय- बलिहरणकारीति, श्रावण्यां बलिहरणे उक्तं 'न्यञ्जी पाणी प्रतिष्ठाप्य 'नमः पृथिव्या' इत्येतं मन्त्रं जपति (पृ० १५१)' तदत्र न भवतीत्येव विशेष इति ॥३॥ अपरायणपि कानिचित् तद्विनकर्त्तव्यान्वाहः-

भा०-श्रावण मास में जो बलिहरण आरम्भ हुआ है, उस में "नम.पृथिव्यै" मन्त्र का व्यवहार करने का विधि है। इस अग्रहन मास के बलिहरण में उस की आवश्यकता नहीं, यही इस में विशेषता है ॥ ३ ॥

* श्रावण की पूर्णिमा से प्रतिदिन जो स्वस्त्युपन होगा सो इसी बलिहरण में श्रेष्ठ होगा। प्राचीन समय में भी इसी बार मासों में श्रेष्ठ का भव होता था ॥

अथ पूर्वाह्णे एव प्रातराहुतिश्च हुत्वा दर्भान् शमीं
वीरणां फलवतीमपामार्गश्च शिरीषमेतान्याहारयित्वा तू-
ष्णीमक्षतसक्तूनामग्नौ कृत्वा ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्यैस्तैः स-
म्भारैः प्रदक्षिणमग्न्यागारात् प्रभृति धूमं शातयन् गृहान-
नुपरीयात् । ४ । उत्सृजेत् कृतार्थान् सम्भारान् ॥ ५ ॥

‘अथ’ शब्दो बलिप्रकरणतो वैभिनं द्योतयति । तद्दिने पूर्वाह्णे प्रात-
राहुतिं हुत्वा एव ‘दर्भान्’ कुशवृक्षानि, ‘शमीं’ तद्दृक्षपत्रं, ‘वीरणां’
वीरणातृणां, ‘फलवतीं’ सफलां बदरीशाखां, ‘अपामार्गं’ तच्छाखां, ‘शिरीषं’
तच्छाखां, ‘एतानि’ सम्भाराणि ‘आहारयित्वा’ येन केनचित् ‘अक्षतसक्तूनां’
यवसक्तूनां भागं ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकमेव ‘अग्नौ’ कृत्वा प्रक्षिप्य ब्राह्मणान् त-
त्रत्यान् दक्षिणादानादितोपशेन ‘स्वस्ति’ शब्दं कल्याणवचनं वा ‘वाचयित्वा’
‘एतैः’ दर्भादिभिः ‘सम्भारैः’ सह ‘प्रदक्षिणं’ यथा स्यात् तथा ‘अग्न्यागारात्’
अग्निगृहात् ‘प्रभृति’ ‘गृहान्’ सर्वानेव ‘अनु’ लक्ष्य ‘धूमं’ प्रदाय ‘शातयन्’ नि-
र्वापयंश्च ‘परीयात्’ सर्वतो व्रजेत् एतेन सर्वगृहेषु शान्त्यर्थं दर्भादिभिर्धूमदानं
कलितम् ॥४॥ तान् ‘सम्भारान्’ ‘कृतार्थान्’ निष्पन्नप्रयोजनान् इति ‘उत्सृजेत्’
परित्यजेत् ॥ ५ ॥

भा०-और भी,—उस दिन दो पहर के पीछे प्रातःकाल की आहुति दे
कर, पीछे कुश, पीपर का पत्ता, वीरणातृण, (खस) फल सहित घैर का ड़ाढ़,
वीरवीरी का ड़ाल, शिरीष की शाखा, ये सब किसी से संगवाकर अग्नि में
दिन मन्त्र पढ़े सत्तू होम कर, उस स्थान में उपस्थित ब्राह्मणों को दक्षिणा
दे कर प्रसन्न करे, ‘स्वस्ति’ कहवा कर, इन दर्भ आदि सम्भार, सब को लेकर
उम अग्निगृह से आरम्भ कर सम्पूर्ण घर में धूम देवे । परन्तु उस धूम को
ठगहा भी कर देवे ॥४॥ उक्त सम्भाली हुई यस्तुओं को अर्थात् कुश आदिक
को, काम हो जाने पर, फेंक देवे ॥ ५ ॥

जातशिलासु मणिकं प्रतिष्ठापयति वास्तोष्पतइत्येतेन
द्विकेन ॥ ६ ॥ पर्केण द्वावुदकम्भौ मणिक आसिञ्चेत् ॥ ७ ॥
समन्न्यायन्तीत्येतयर्च्चा प्रदोषे पायसश्चरुः ॥ ८ ॥

‘जातशिलासु’ उत्पन्नशिलासु शिलायद्दृढनिर्मितासु इष्टकासु इष्टकनि-
र्मितसु येनाम् ‘वास्तोष्पते’ (गे०गा०१,२,२०,२१),—‘इति’ ‘अनेन द्विकेन’ साम-

द्वयेन 'मणिके' मृगमयं ताम्रादिमयं वा एएत् जलाधारं 'प्रतिष्ठापयति' ॥ ६ ॥
 ततः तस्मिन् 'मणिके' 'पर्कण' पर्कणामन्त्रेण (गे० गा० १, १, १) 'द्वौ' 'उद-
 कुम्भी' उदकपूर्णकलशी 'आसिञ्चेत्' ॥ ७ ॥ 'प्रदोषे' रजनी मुखे 'समन्व्यायन्ति'
 (अ० ब्रा० ३, ३, ६) 'इति' 'एतया ऋष्या' 'पायसः चरुः' पक्षय्यः ॥ ८ ॥

भा०-पत्थर की नाईं सुदृढ (सूयमज्जयूत) ईंटों से घनी, वेदी के ऊ-
 पर "वास्तोष्पते" (गे० गा०-७, २०-२१) इन दीनों सामन्त्र पढ़ कर जल
 का घड़ा रखे ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् उस घड़े में 'पर्कणाम' (गे० गा० १, १, १)
 पाठ करते हुए कलशे से जल ढाले ॥ ७ ॥ प्रदोष समय (रात्रि-का आरम्भ)
 "समन्व्यायन्ति" (अ० ब्रा-३, ३, ६), यह मन्त्र पढ़ते हुए 'पायसचरु' पकावे ॥ ८ ॥

तस्य जुहुयात् प्रथमाहव्युवाससेति ॥ ९ ॥ स्यालीपाका-
 वृतान्यत् ॥ १० ॥ पश्चादग्नेर्वर्हिषि न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्य
 प्रतिक्षत्रइत्येताव्याहृतीर्जपति ॥ ११ ॥

'तस्य' शरोः अंगं गृहीत्वा "प्रथमा हव्युवास सा धेनु रभवद्यमे । सा नः
 पयस्वती दुहा उत्तरामुत्तराथं समाम्" ॥१॥ (म० ब्रा० २, २, १)-'इति' मन्त्रेण
 'जुहुयात्' ॥ ९ ॥ 'अन्यत्' अथशिष्टकार्यं जातं 'स्यालीपाकावृता' स्यालीपाकयज्ञ-
 रीत्याएव भवेत्काम ॥१०॥ 'अग्नेः' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमे 'वर्हिषि' आस्तृप्तकु-
 शोपरि 'न्यञ्चौ' अधोमुखी 'पाणी' हस्ती 'प्रतिष्ठाप्य' "प्रतिक्षत्रे प्रतितिष्ठामि
 राष्ट्र ॥२॥ प्रत्यश्वेषु प्रतितिष्ठामि गोषु ॥३॥ प्रतिप्राणेषु प्रतितिष्ठामि पुष्टौ ॥४॥
 प्रतपङ्केषु प्रतितिष्ठाम्यात्मनि ॥५॥ प्रतिद्याया पृथिव्योः प्रतितिष्ठामि पश्वे" ॥६॥
 (म० ब्रा० २, २, २-६)-'इति एताव्याहृतीः जपति' ॥११॥

भा०-उस चरु का कुछ अंग ले कर 'प्रथमाहव्युवाससा' यह मन्त्र पढ़
 कर एक आहुति देवे ॥ ९ ॥ अপর सब कार्य पूर्वोक्त स्यालीपाक यज्ञ की रीति
 से होंगे ॥१०॥ अग्नि के पश्चिम भाग में कुण्ड के ऊपर, दीनों हाथ नीचे स्थापन
 कर 'प्रतिक्षत्रे' आदि इन तीन व्याहृति मन्त्रों का जप करे ॥ ११ ॥

पश्चादग्नेः स्रस्तरमास्तारयेदुदगग्रैरुदकप्रवणम्
 ॥१२॥ तस्मिन्नाहतान्यास्तरणान्यास्तीर्य दक्षिणतो गृहपति
 रुपविशति ॥१३॥ अनन्तरा अवरे याथाज्येष्ठम् ॥१४॥

'अग्ने' तस्य 'पश्चात्' पश्चिमस्यां दिशि 'उदगग्रैः' तपोः उत्तराधीकृतेः कु-
 शादिभिः 'उदकप्रवणं' उत्तरनिम्नं यथा स्यात्तथा 'स्रस्तरं' प्रासनं 'प्रास्तारयेत्'

आस्तृतं कुर्यात् ॥१२॥ 'तस्मिन्' स्वस्ते 'अहतानि' अखण्डितानि 'आस्तरणानि'
तिर्य्यक्प्रक्षोपणीयतृणानि 'आस्तीर्य्यं' पातयित्वा तत्र 'दक्षिणतः' दक्षिणस्यां
'गृहपतिः' अनुष्ठानकारी 'उपविशति' उपविशेत् ॥१३॥ 'अनन्तराः' अद्यवहिता
'अनन्तराः' अव्यवहिताः 'अवरे' गृहपतितः कनिष्ठाः याथाज्येष्ठं ज्येष्ठानुक्रमेण
उत्तरोत्तरं स्थानमधिकुर्य्युरिति ॥ १४ ॥

भा०—शनन्तर अग्नि के पश्चिम ओर उत्तराय कुशा आदि से घैठने के
लिये आसन बनाने में यत्नवान् होवे, यह स्थान उत्तर दिशा में गहरा होगा
॥ १२ ॥ उस के ऊपर अच्छिन्न (टूटा नहीं) आस्तरण आदि बिछा कर
सब से दक्षिण ओर पर फा मालिक बैठे ॥ १३ ॥ उन के बायें क्रम से ज्येष्ठा-
नुसार भाई आदि बैठे । अर्थात् उन के बाईं ओर प्रथम बड़े बैठे, तत्पश्चात्
छोटे, इसी रीति से और भी बैठें ॥ १४ ॥

अनन्तराश्च भार्याः सजाताः । १५ समुपविष्टेषु गृहप-
तिः स्वस्तयेत् । १६ न्यञ्जी पाणी प्रतिष्ठाप्य स्योनापथिवि-
नोभवेत्येतामृचं जपति ॥ १७ ॥

'अनन्तराः' तदव्यवहिताः 'भार्या' गृहपतिवध्वादयः 'च' अपि याथा-
ज्येष्ठमुत्तरोत्तरं उपविशेपुरित्येव । तत्र विशेषमाह 'सजाताः' समानजातीयाः
असवर्णानामत्रोपवेशने नाधिकार इति भावः । १५ 'समुपविष्टेषु' स्वावरादि-
भार्यान्तेषु परिजनेषु 'गृहपतिः' अनुष्ठानात् 'स्वस्तयेत् स्वस्तिवाचनं कुर्यात्
। १६ तथाहि स्वस्तिवाचनप्रकारमेव दर्शयति । 'न्यञ्जी' अधोमुखी 'पाणी' हस्ती
'प्रतिष्ठाप्य' "मंस्थाप्य स्योनापथिवि नो भवानृक्षरानिवेशनी । यच्छानः शर्म स
प्रथमो देवान्मा भयादिति" ॥३॥ (म०त्रा० २,२,७)—'इति एतां ऋचं जपति' ॥१७॥

भा०—एवं उस से पश्चात् अपने घर की भार्या आदि भी उक्त प्रकार बड़े
छोटे क्रम से बैठे ॥ १५ ॥ सब के ठीक २ बैठजाने पर, घर का मालिक स्व-
स्त्ययन आरम्भ करे ॥ १६ ॥ दोनों हाथ नीचे कर 'श्योनापथिविनो भवा' इस
मन्त्र का पाठ करे ॥ १७ ॥

समाप्तायां संविशन्ति दक्षिणैः पार्श्वैः । १८ एवं त्रिर-
भ्यात्मानृत्य स्वस्त्ययनानि प्रयुज्य यथान्यायम् ॥ १९ ॥

'समाप्तायां' पाठक्रियायां 'दक्षिणैः पार्श्वैः' दक्षिणपार्श्वानुसारेण 'स्वाव-
रादिभार्यान्तोपविष्टः सर्वपरिजनप्रदक्षिणतः इति यावत् 'संविशन्ति' अग्नि-
परिजनयोर्मध्यतः आगच्छन्ति । १८ 'एवं' परिजनप्रदक्षिणया 'त्रिः' त्रिवारम्

[प्र०३खं०९सू०१५-२१, खं०१०सू०१-४] आग्रहायणी कर्म अष्टकाविधिश्च ॥ १६१
 'अभ्यात्म' स्वोपवेशनस्थानमभिलक्ष्य 'आवृत्य' आयत्तनं कृत्वा 'स्वस्त्ययनानि'
 वामदेव्यादीनि सामानि 'प्रयुज्य' गीत्वा "यथान्यायं" पूर्वोक्तवत् क्रियाशेषं
 कार्प्यमिति ॥ १९ ॥

भा०-पाठ समाप्त होने पर सद्य को प्रदक्षिणा कर, अग्नि और परिजन
 इन के बीच हो कर अपनी जगह आ बैठे ॥ १८ ॥ इसीप्रकार तीनवार
 प्रदक्षिणा कर 'वामदेव्यादि' 'स्वस्त्ययन' सामगान के अन्त में पूर्वोक्त रीति से
 क्रिया शेष करे ॥ १९ ॥

अरिष्टसामसंयोगमेके। २०। उपस्पृश्य यथार्थम् ॥ २१ ॥ ३-९

'एके' आचार्या अत्र 'अरिष्टसामसयोग' अरिष्टनामकसाम्नः | संयोगमपि
 आहुः । २० "उपस्पृश्य" अप आचम्य क्रियासमाप्तिं मत्वा 'यथार्थं' स्वप्रयोज-
 नानुगतं विहरेदिति ॥ २१ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रे तृतीयप्रपाठके नवमखण्डस्य व्याख्यानसमाप्तम् ३-९

भा०-कोई २ आचार्य इस स्वस्त्ययन में अरिष्ट नामक साम को मिलाना
 चाहते हैं ॥ २० ॥ क्रिया समाप्त होने पर आचमन कर जहां चाहे, जावे, या
 अपने प्रयोजनानुसार कार्य करे ॥ २१ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके तृतीयप्रपाठक के नवम खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ३, ९ ॥

अष्टका रात्रिदेवता । १ । पुष्टिकर्म ॥ २ ॥

'रात्रिदेवता' रात्रिः देवता अस्याः 'अष्टका' इति नाम क्रिया कर्त्तव्येति
 शेषः । १ । "पुष्टिकर्म" पुष्टिः पोषणं फलमस्येति । पुष्टिकाम एवास्याधिकारी
 तथाचास्य काम्यत्वं स्थितम् ॥ २ ॥

भा०-अष्टका नामक एक क्रिया रात्रि में करनी पड़ती है ॥ १ ॥ जिन्हें
 पुष्टि की इच्छा हो, वे ही इस यज्ञ को करें ॥ २ ॥

आग्नेयी पित्र्या वा प्राजापत्यर्त्तुदेवता वैश्वदेवीति दे-
 वताविचाराः । ३ चतुरष्टको हेमन्तस्ताः सर्वाः समांसाश्चि-
 कीर्षेदिति कौत्सः ॥ ४ ॥

'आग्नेयी' अग्निदेवताका 'पित्र्या' पितृदेवताका 'वा' अथवा 'प्राजापत्या'
 प्रजापतिदेवताका 'चतुरष्टको' अतएव देवता अस्याः 'वैश्वदेवी' सर्वदेव-
 ता 'इति' एवं 'देवताविचाराः' सन्तीति शेषः । ३ । 'कौत्सः' आचार्यस्तु 'हेमन्तः'
 कार्तिकादिमाघान्तोमासचतुष्टयः 'चतुरष्टकः' चतसृभिरष्टकाभिरुपेतः 'इति' मन्यते

१. किञ्च 'ताः सर्वाः अष्टकाः 'समांसाः' मांसद्रव्यकाः 'चिकीर्षेत' कर्तुमिच्छेत ।
 भा०—किंसी का मत है कि इस कार्य की देवता अग्नि है, कोई कहता कि पितृगण के तोषणार्थ यह यज्ञ किया जाता, कोई २ कहता कि प्रजापति की तुष्टि के लिये इस का अनुष्ठान किया जाता है, कतिपय लोगों का यह मत है कि इस के द्वारा शीतऋतु के उपभोगार्थ प्रकृत रूप से सम्पादित किया जाता है । अनेक लोग कहते हैं कि इसका अनुष्ठान सब देवताओं के प्रीति के लिये है ॥३॥ कौत्स नामक आचार्य अग्रहायण प्रभृति हेमन्त *—चार महीनों में चार 'अष्टका' करना चाहिये । और ये चार अष्टका मांसद्वारा करे ऐसा मानते हैं ॥ ४ ॥

त्र्यष्टकइत्यौद्गाहमानिस्तथा गौतमवार्कखण्डी ॥५॥

'श्रौद्गाहमानिः' 'तथा' 'गौतम-वार्कखण्डी' इमे आचार्याः, हेमन्तः 'त्र्यष्टक-
 तिस्रोऽष्टका यत्र 'इति' मन्यन्ते इति शेषः ॥ ५ ॥

भा०—उद्गाहमानि नामक आचार्य एवं गौतम और वार्कखण्डी आचार्य ये आचार्यगण—हेमन्त ऋतु में तीन ही ** अष्टका यज्ञ करना मानते हैं ॥५॥

योद्ध्वर्वाग्रहायण्यास्तामिस्राष्टमी तामपूपाष्टकेत्याचक्षते ॥६॥

'आग्रहायण्याः' पौर्णिमास्याः 'ऊर्ध्वम्' उपरि 'या' 'तामिस्राष्टमी' अन्ध-
 कारपक्षीया अष्टमी' तिथिः 'ताम्' तिथिम् 'अपूपाष्टका'—'इति' 'आचक्षते'
 आचार्या इति यावत् । एतेन तत्राष्टम्याम् अष्टकाकृत्यं कर्तव्यम्, तच्च अपूपैः
 साध्यमिति फलितम् ॥ ६ ॥

भा०—अग्रहायणमास की पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी को आचार्यलोग
 'अपूपाष्टक' कहते हैं । अर्थात् उस तिथि में अपूप द्वारा अष्टका करे ॥६॥ ***

स्थालीपाकावृता तण्डुलानुपस्कृत्य चरुं प्रपयति ॥ ७ ॥

'स्थालीपाकावृता' पूर्वोक्तया स्थालीपाकरीत्या 'तण्डुलान्' 'उपस्कृत्य'
 संस्कृत्य तैरेव तण्डुलैः 'चरुं' हवनीयान्नं 'प्रपयति' प्रपयेत् परिपचेत् ॥ ७ ॥

*—'हुवा'दरा मासाः पञ्चत्वे हेमन्त शिशिरयो. समासेन ॥ ऐ० भा० १, १, १। इस से 'पंच ऋतु में एक वर्ष पूरा होता है,—इस मत से हेमन्त और शिशिर दोनों ही ऋतु को हेमन्त कहते हैं और वेद में "शतं हिमा" "शब्दः शत" इत्यादि अनेक प्रयोग रहनेसे शरत् ऋतु में वर्ष की पूर्ति और हेमन्त में ही वर्षारम्भ जान पड़ता है, अग्रहायण पदसे वर्षका पहिला महीना जान पड़ता है, मृगश्रवण से हेमन्त ऋतु गिनना चाहिये ॥

** चार महीनों में तीन अष्टका कर्तव्य होने से, सुतरा एक मास छूट जावेगा । कौन महीना छूटेगा, सी स्पष्ट न कहने से जिस २ मास में जिस २ प्रकार अष्टका करनी होगी सो कम से कहा जावेगा, तो जिस मास में कुछ नहीं कहा जावेगा, वही मास छूटेगा ऐसा जानना चाहिये ॥

*** पूमा—का परिचय और उम के द्वारा अष्टका कृत्य किन प्रकार करना होगा, सो सब कम में कहा जावेगा ॥

भा०-इस के पूर्व स्थालीपाक प्रकरण में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार तण्डुल आदि से 'चरु' पाक करे ॥ ७ ॥

अष्टौ चापूपान् कपालेऽपरिवर्त्तयन् ॥८॥

'ष' अपि 'कपाले' एकस्मिन् सृत्कटाहे 'अष्टौ' 'अपूपान्' पिष्टकविशेषान् 'अपरिवर्त्तयन्' मेषणादिना अस्पृशन्नेव श्रपयेत् ॥८॥

भा०-और एक थड़ी मही की कराही में, आठ पूआ पकावे । (एक समय में ८ पूआ आवश्यक होनेसे आठ कराही आवश्यक होंगी) पूआको इस भांति बनावे जिस से यह टूटे नहीं ॥ ८ ॥

एककपालानमन्त्रानित्यौद्गाहमानिः । ९ । त्रैयम्बकप्रमाणान् १०

इमान् अपूपान् परिमाणेन 'एककपालान्' एककपालपूर्णामितान्, किञ्च 'अमन्त्रान्' मन्त्रपाठसाहित्यशून्यान् 'इति' 'औद्गाहमानिः' आचार्यः मन्यते इति शेषः ९ त्रैयम्बकं करतलम्, तत्प्रमाणानेव अपूपान् श्रपयेत् इत्यस्माकं मतमिति ।

भा०-उद्गाहमानि नामक आचार्यके मतसे पूए आदि को एक २ कराही में बनावे (अर्थात् आठों को अलग २) और पूआ बनाते समय मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ एक २ पूआ हथेली की बराबर होगा ॥ १० ॥

शृतानभिघार्योद्गुद्धास्य प्रत्यभिघारयेत् ॥११॥

'शृतान्' पक्वान् तान् 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' उत्तरतः अग्नेः, 'उद्गास्य' संस्थाप्य 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव तानपूपानिति ॥११॥

भा०-पूआ आदि पक जाने पर घी का ढार दे कर अग्नि की उत्तर में उतार कर पुनः घी का ढार देवे ॥ ११ ॥

स्थालीपाकावृतावदाय चरोश्चापूपानाञ्चाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥१२॥ स्थालीपाकावृतान्यत् ॥१३॥

'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्या 'चरोश्च' तस्य 'अपूपानाञ्च' तेषाम् अंशान् 'अवदाय' सङ्कर्य गृहीत्वा " अष्टकायै स्वाहा " - 'इति' अनेन मन्त्रेण 'जुहोति' जुहुयात् ॥१२॥ 'अन्यत्' क्रियाशेषं सर्वं स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यं मिति समाप्तापूपपाटका ॥१३॥

भा०-पूर्वोक्त स्थालीपाक के नियमसे उस चरु और पूए आदि से कुछ २ अंश काट कर, इस काटे हुए अंश को "अष्टकायैस्वाहा"-इस मन्त्र से अग्नि

में डाले ॥ १२ ॥ स्थालीपाक प्रकरण में जो २ साधारण नियम पहिले कहे गये हैं, वे सब ही नियम यहां वर्त्ते जावेंगे ॥ १३ ॥

तैष्याऋद्धर्ध्वमष्टम्यां गौः ॥१४॥ तां सन्धिवेलासमीपं पुर-
स्तादग्नेरवस्थाप्योपस्थितायां जुहुयाद्यत्पशवः प्रध्यायतेति ॥१५॥

‘तैष्याः’ पीपपीर्णनास्याः ‘ऋद्धर्ध्वम्’ परस्तात् ‘अष्टम्यां’ कृष्णपक्षीयायाम्, ‘गौः’ आलब्धव्येति शेषः ॥ १४ ॥ ‘सन्धिवेलासमीपं’ सूर्योदयकालात् किञ्चित् पूर्वमेव ‘तां’ गौं ‘अग्नेः पुरस्तात् अवस्थाप्य’ ‘उपस्थितायां’ तस्यां सन्धिवेलायाम्, सूर्योदयक्षणे इति यावत्, “ यत्पशवः प्रध्यायत मनसा हृदये न च । वाचा सहस्रपायथा मयि बध्नामि वो मनः ” ॥२॥ (म० ब्रा० २, २, ८) — ‘इति’ मन्त्रेण तत्रैवाग्नौ ‘जुहुयात्’ घृत मिति ॥१५॥

भा०—पीप मास की पूर्णिमा के पीछे अष्टमीतिथि की गोमांसद्वारा मांसाष्टका करे ॥ १४ ॥ सन्धिवेला (रात और दिन का संयोगसमय) के कुछ पहिले अग्निके पूर्वभाग में उस गौको लाकर रखे, पीछे सन्धिवेला होने पर “यत्पशवप्रध्यायत” इस मन्त्रसे घी की आहुति दे कर कार्यारम्भ करे ॥१५॥

हुत्वा चानुमन्त्रयेतानु त्वा माता मन्यतामिति ॥१६॥

‘हुत्वा’ कार्यारम्भद्योतिका माहुतिं पूर्वोक्ताम्, ‘घ’ अपि ‘तां’ गाम् “अनु-
त्वा माता मन्यता मनुपितानुभ्रातानु सगर्भ्यांनुसखा सयूष्यः” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, २, ९) — ‘इति’ मन्त्रेण ‘अनुमन्त्रयेत’ संज्ञपनार्थं निमन्त्रयेदिति ॥१६॥

भा०—कार्य के आरम्भ सूचक पूर्वोक्त आहुति देने पर इससमय यव मिला जल पवित्र, क्षुर, शाखा विशाखा, बर्हिः इध्म, आज्य, दो समिधा, और खुब, ये सब भी अपने पास आवश्यकतानुसार ठीक रखे “अनुत्वा” इस मन्त्र को पाठ करते हुए गौ की मारने के लिये निमन्त्रण देवे ॥ १६ ॥

यवमतीभिरद्भिः प्रोक्षेदष्टकायै त्वा जुष्टां प्रोक्षामीति ॥१७॥

‘अष्टकायै’ अष्टकानामदेवतायाः तुष्ट्यर्थं ‘त्वा’ ‘जुष्टां’ प्रीति-सेवनीयां गाम् ‘प्रोक्षामि’ अहम्—‘ इति ’ मन्त्रं पठन् ‘यवमतीभिः’ अद्भिः ‘प्रोक्षेत्’ ता मालब्धव्यां गामिति ॥१७॥

भा०—“अष्टका देवता की प्रीतिके लिये प्रीति पूर्वक सेवनीय तुम्हें धोता हूँ”—पह मन्त्र पढ़ते हुए उस बध्प गौ की यव से भींगा जलसे धोवे ॥ १७ ॥

उल्मुकेन परिहरेत् परिव्राजपतिः कविरिति ॥१८॥ अपः

पानाय दद्यात् ॥ १९ ॥

“परिव्राजपतिः कविः (ख० ब्रा० १, १, ३, १०)”-‘इति’ मन्त्रम्पठन् ‘उल्मुकेन’ प्रग्वलिताग्निना ‘परिहरेत्’ प्रदक्षिणीकुपांत्, तां गा मिति ॥ १८ ॥ तस्यै गवे इति शेषः ॥ १९ ॥

भा०-“परिव्राजपति” (ख० ब्रा० १, १, ३, १०) इस मन्त्र को पढ़ कर, एक मुट्टी खर जला कर, उस जलते हुए खर से उस गौ की प्रदक्षिणा करे ॥ १८ ॥ उस गौ को एक पात्र में जल पीने को देवे ॥ १९ ॥

पीतशेषमधस्तात्पशोरवसिञ्चेदात्तदेवभ्योहविरिति ॥२०॥

‘पीतशेष’ पानायशिष्टमुदकम् “आत्तं देवभ्यो हविः।१० (म० ब्रा० २, २, १०)” ‘इति’ मन्त्रम्पठन् ‘पशोः’ तस्यैव ‘अधस्तात् अवसिञ्चेत्’ नीचैः सिञ्चनं कुर्वीत ॥२०॥

भा०-पीने से जो पानी बचे, उस में “आत्तं देवभ्यो हविः” इस मन्त्र को पढ़ कर उस गौ के अधोभाग को सोंचे ॥ २० ॥

अथैनामुदगुत्सृप्य संज्ञपयन्ति ॥२१॥ प्राक्शिरसमुदकपदीं देवदेवत्ये दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं पितृदेवत्ये २२, २३॥

‘अथ’ अनन्तरम् ‘एनाम्’ गाम् ‘उदक’ अग्नेरुत्तरतः ‘उत्सृप्य’ उत्सर्पणेन नीत्या ‘संज्ञपयन्ति’ हन्युः शासितार ऋत्विज इति ॥२१॥ तत्र च-‘देवदेवत्ये’ कार्यं तां ‘प्राक्शिरसम् उदकपदीं’ किन्तु पितृदेवत्ये कार्यं ‘दक्षिणाशिरसं प्रत्यक्पदीं’ संज्ञपयुरिति ॥ २२, २३ ॥

भा०-अनन्तर मारने के लिये प्रस्तुत (तैयार) ऋत्विक्गण, उस गौको अग्नि के उत्तर ला कर काट डालें ॥ २१ ॥ यदि देवकार्य निमित्त गौ मारे जावे, तो पशु का मस्तक पूर्वदिशा में रखे और चारो पैर उत्तर की ओर रखे और यदि पितृकार्य के लिये गो-बध हो, तो पशु का मस्तक दक्षिण दिशा में, और उस के पैर सब पश्चिम ओर रखे ॥ २२ ॥ २३ ॥

संज्ञप्रायां जुहुयाद्यत्पशुर्मायुमकृतेति ॥ २४ ॥

‘संज्ञप्रायां’ तस्यां “यत्पशुर्मायु मकृतीरीयापद्भिराहत । अग्निर्मां तस्मादेनसो विश्वामुञ्जत्वर्थहसः” ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, २, ११)-‘इति’ मन्त्रेण ‘जुहुयात्’ आन्व मिति शेषः ॥ २४ ॥

भा०-उक्त गौ मारे जाने पर “यत्पशु” मन्त्र से आज्य होम करे ॥२४॥

पत्नी चोदकमादाय पशोः सर्वाणि स्तोतांसि प्रक्षालयेत् ॥२५॥

‘य’ अपि तदव ‘पत्नी’ यजमानस्य, ‘उदकम्’ आंदाय ‘पशोः’ संकृतस्य
‘सर्वाणि स्त्रीतांसि’ चक्षुरिन्द्रियादीनि ‘प्रक्षालयेत्’ ॥ २५ ॥

भा०-एवं उस समय यजमान की स्त्री जल से, उस कटे हुए शिरवाली
गौ के नेत्र आदि-इन्द्रिय अच्छे प्रकार धोवे (माथे में नेत्र आदि सात, चार
स्तन, नाभि, कटिदेश, गुह्यदेश, ये १४ स्थान हैं) ॥ २५ ॥

अग्रेण नाभिं पवित्रे अन्तर्धायानुलोम आकृत्यवपा मुहुरन्ति २६

‘अग्रेण नाभिं’ नाभेरग्रतः नाभिसमीपे ‘पवित्रे’ ‘अन्तर्धाय’ ‘अनुलोमं’
यथा स्यात्तथा ‘आकृत्य’ क्षुरेण निम्नाभिगानि कर्त्तनं कृत्वा, ततः ‘वपा’ मे-
दसम् ‘उहुरन्ति’ उहुरेयुः ॥ २६ ॥

भा०-नाभि के समीप पवित्रद्वय छिपा कर लोमानुसरण क्रम से क्षुर से
निम्न-गामि घालन से काट कर उस में से वपा निकाले ॥ २६ ॥

तांशाखाविशाखयोः काष्ठयोरवसज्याभ्युक्ष्य श्रपयेत्
। २७ । प्रश्च्युतितयां विशसयेति ब्रूयात् ॥ २८ ॥

‘शाखाविशाखयोः’ एतन्नामकपात्रयोः ‘काष्ठयोः’ पलाशनिर्मितयोः ऊ-
र्द्धांधोमुखीभावावस्थितयोः आधाराच्छादनयोः मध्ये ‘तां’ वपां ‘अवसज्य’
संस्थाप्य ‘अभ्युक्ष्य’ जलपातैः श्रपयेत् पचेदिति । २७ । ‘प्रश्च्युतितयां’ प्रक्षा-
रितायां तस्यां वपायां ‘विशसय’ गां विगतधर्मां कुरुष ‘इति’ ब्रूयात् ॥ २८ ॥

भा०-और निकाली हुई वपा को, शाखा, विशाखा नामक पलाश की
लकड़ी का बनाहुआ ढक्कन के आधार पर रख कर, जल से सामान्यरूप से
धोकर, अग्नि से सिद्ध करे ॥ २७ ॥ इधर, उस गौ के नाभि के समीप से काट
कर, मेद निकाल, इस गौ के घनरा निकालने की आज्ञा करे ॥ २८ ॥

यथा न प्राग्ग्नेर्भूमिंशोणितं गच्छेत् । २९ शृता मभि-
चार्योदगुद्वास्य प्रत्यभिचारयेत् । ३० स्थालीपाकावृता वपा
मवदाय स्विष्टकृदावृता वाष्टकायै स्वाहेति जुहोति ॥ ३१ ॥

परं तत्र विशसने सातर्क्यं मिदं मवलम्ब्यम् ;—‘अग्नेः’ ‘प्राक्’ पुरतः भूमिं
‘शोणितं’ ‘यथा न गच्छेत्’ इति । २९ । ‘शृतां’ पक्षां वपाम् ‘अभिचार्यं’ पृतेन,
‘उदक्’ अग्नेः उत्तरतः ‘उद्वास्य संस्थाप्य ‘प्रत्यभिचारयेत्’ पृनर्पृतेनैवाभिचार-
णं कुर्यात् । ३० । ततः शैत्येन कठिनीभूतां तां ‘वपाम्’ स्थालीपाकरीत्या स्विष्ट-
कृद्रीत्या वा अवदानेन ‘अवदाय’ कर्त्तयित्वा, कर्त्तितसंगं गृहीत्वा “अष्टकायै
स्वाहा”—‘इति’ मन्त्रेण तत्र अग्नी ‘जुहोति’ जुहुयात् ॥ ३१ ॥

[प्र० ३ ख० १० मू० २५-३३, प्र० ४ ख० १ मू० १-३] गांताष्टकाहोमः ॥ १६१

भा०-परन्तु घमरा लुढ़ाते ममय, ऐमा न दो कि अग्नि के आगे ही कर रुधिर बहचले ॥ २८ ॥ इस वषा के तैयार होने पर, उस में घी का ढार दे कर, उसे अग्नि के उत्तरभाग में उतार कर रखे और पुनः उस में घी का ढार देये ॥ ३० ॥ अनन्तर उस आग में पकी वषा, जो ठंडे के कारण जम जायेगी, उसे 'स्थालीपाक' की रीति से, या स्विष्टकृत की रीति से चाकू से काट कर, उस में से लेकर " अष्टमायै स्वाहा " इस मन्त्र से होम करे ॥ ३१ ॥

स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपाकावृतान्यत् ॥३२॥

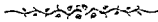
'अन्यत्' अथशिष्टकार्यजातं 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कुर्या-
दिति शेषः । द्विवचनं प्रपाठकसमाप्तिसूचक मिति । ३२॥१० ॥

इतिनाभवेदीयेगोभिलागृह्यसूत्रेवृतीयप्रपाठकेऽग्नयस्यव्याख्यानंतन्माप्तम् ॥३१॥०॥

अध्यायश्च समाप्तः ॥ ३ ॥

भा०-घाकी मद्य काम 'स्थालीपाक' के नियम से होंगे ॥ ३२ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के तृतीय प्रपाठक के दशम राण्डका भाषानुवाद पूराहुआ
और तीसरा प्रपाठक भी समाप्तहुआ ॥ ३ । १० ॥



अनु प्रहरति वपाश्रपण्यौ प्राची मेकशूलां प्रतीचीमितराम् ॥१॥

'अनु' पश्चात्, वषाहोमानन्तर मिति यावत् । 'वपाश्रपण्यौ' वषाश्रपण-
माधन्यौ ते पूर्वोक्ते शाखा-विशासे 'प्रहरति' परिहरत्, प्रक्षिपेत् । क ? पूर्वो-
क्तन्यायात् तत्रैवाधौ । तत्र च प्रहरण्ये नियमः, -'एकशूलां' शाखानामिकां
वपाश्रपणीं 'प्राचीं' प्राग्ग्राम्, 'इतरान्' अपरां विशाखानामिकां वपाश्रपणीं
'प्रतीचीं' प्रत्यग्ग्राम्; प्रहरेदिति योज्यम् ॥ १ ॥

भा०-वषा पाककर्म समाप्त होने पर उन दोनों "वपाश्रपणी" की उनी अग्नि
में इस प्रकार डाल देवे कि एकशूला पूर्वाग्रा हो एवं अपर पश्चिमाग्रा हो ॥१॥

**अंबद्यन्त्यवदानानि सर्वाङ्गैभ्योऽन्यत्र वामाच्च सवधुः
क्लोमश्च ॥ २ ॥ वामाच्च सक्थ्यन्वष्टवयाय निदध्यात् ॥३॥**

'वामात्' सक्थुः, 'क्लोमः' च, अन्यत्र, वामसक्थि क्लोम च बलंयित्वा

* अर्थात् ऊपर नीचे भाव से जोड़ा पत्तारा काठ निर्मित, वषा पाक की सिद्धि के लिये दो पात्र । एक में वषा रग कर मिद्ध की जाती और उस के ऊपर ढारा रहता है, उस में से ऊपर वाले पात्र को "शाम्ना" और "एकशूला" भी कहते हैं । इस में वषा दित होता है और उस क ऊपर ढाकने के लिये नीचे मुड़ रखे पात्र को "विशाखा" कहते हैं ॥

** यह उम अग्नि में डाला जाता, इन का-ए इमे (वपाश्रपणी) कहते हैं ॥

अन्येभ्यः 'सर्वाङ्गेभ्यः' 'अवदानानि' मांसानि 'अवद्यन्ति' क्षुरेश खगडरगडीवु-
र्वन्ति ॥ २ ॥ तदखगिहृतं 'वामं सकृच्चि' अन्वष्टक्याय अनुपदवद्वयमासायकर्मणे
निदध्यात् संस्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०-वाम सक्रिय (करु) और क्लोम (पित्तकोप) छोड़ कर, मद्य अङ्गों
से खगड २ करके मांस ग्रहण करे ॥ २ ॥ वाम सक्रिय समस्त ही 'अन्यष्टका'
कार्य में व्यवहार के लिये रकरे ॥ ३ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ श्रपयत्योदनचरुञ्जमाथ्सचरुञ्जपृथङ्मे-
क्षणाम्भ्यां प्रदक्षिण मुदायुवन् । ४ । शृतावभिघार्योदगुद्वास्य
प्रत्यभिघारयेत् ॥ ५ ॥

'तस्मिन्नेव' एकस्मिन् 'अग्नौ' 'ओदनचरुञ्ज मांसचरुञ्ज' उभावेव चरु
'पृथङ्मेक्षणाम्भ्यां पृथक्पृथक्स्थापिताभ्यां मेक्षणाम्भ्यां 'प्रदक्षिणं' दक्षिणावर्त्तन
मेक्षणचालनं यथा स्यात्तथा 'उदायुवन्' ऊर्ध्व्वेमीपन्मिश्रयन् 'श्रपयति' श्रप-
येत् पषेदिति ॥ ४ ॥ 'शृती' तौ चरु 'अभिघार्य' घृतेन, 'उदक्' अग्नेरुत्तरतः
'उद्वास्य' 'प्रत्यभिघारयेत्' घृतेनैव ॥ ५ ॥

भा०-उसी एक अग्नि में 'ओदनचरु' और 'मांसचरु' ये दोनों चरु पंकावे,
परन्तु दोनों चरु में भिन्न २ चलाने (मेक्षण) से चलावे, एक ही से नहीं ॥
॥ ४ ॥ इन दोनों चरुओं के अच्छे प्रकार पकवाने पर, घी का ढार दे अग्नि
के ऊपर भाग में उतार-लेवे और पुनः उस में घी का ढार देवे ॥ ५ ॥

कंसे रसमवासिच्य प्लक्षशाखावतिप्रस्तरेऽवदानानिकृत्वां
स्थालोपाकावृतावदानानां कथंसेऽवद्यति स्विष्टकृतश्च पृथक् ६

मांसचरुस्थालीतः निचोड्य 'रसं' मांसयूपं 'कंसे' कांस्यपात्रे 'अवासिच्य'
पातयित्वा 'प्लक्षशाखावति' प्लक्षशाखानिर्मिताच्छादनविशिष्टे 'प्रस्तरे' प्रस्तर-
निर्मितकुड्ये 'अवदानानि' यूपहीनमांसपण्डानि 'कृत्या' स्थापयित्वा 'च' अपि
'स्विष्टकृतः' स्विष्टकृद्वागार्धं 'पृथक् कंसे' पूर्वस्थापितयूपधारातिरिक्तकांस्यपात्रे
'स्थालोपाकरीत्या' 'अवदानानां' मांसानाकिञ्चिदंशम् 'अवद्यति' सहृदयं गच्छति ॥ ६ ॥

भा०-मांस के यूप को, एक कांसे के वर्त्तन में ढार रखे मांस आदिक
को एक पत्थर की कुण्डी में रखे और पुनः उस मांस में से थोड़ा स्थालीपाक के
नियम से काट लेवे, एवं उसे स्विष्टकृत यागार्ध दूसरे कांस्यपात्र में रख दो ॥ ६ ॥

चरोरुद्धृत्य विल्वमात्रं भवदानैः सह यूपणं सन्नयेत् ॥७॥

श्रोदनचरुस्थालीतः 'विल्वमात्रं' विल्वप्रमाणं 'चरोः' अंशम् 'उद्धृत्य' 'अवदानैः' हस्तशाखाच्छादितप्रस्तरपात्रस्थितैः मांसखण्डैः 'सह' 'यूपेण' कांस्यपात्रस्थेन मांसरसेन 'सन्नयेत्' एकीकुर्यात् तत्रैव यूपपात्रे यूपमध्ये एव स्थापयेदिति ७

भा०—श्रोदन की हांड़ी से बेल की बराबर चरु ले कर (उम पत्थर की कुण्डी में रक्खा) मांस खण्ड के साथ (उम कांसेके पात्र में रक्खे हुए) यूप को मिलावे । अर्थात् उम यूप के पात्र में यूप के बीच रक्खे ॥ ७ ॥

चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाष्टर्चप्रथमया जुहुयादग्नाव-
ग्निरिति ॥ ८ ॥

'चतुर्गृहीतम् आज्यम्' (पूर्ववत्) गृहीत्वा 'अष्टर्चप्रथमया' अष्टानां सृष्टां समाहारोऽष्टर्चम् (म० ब्रा० २, २, १२-१८), तत्र या प्रथमा ऋक् तया "अग्नाव-
ग्निरश्नति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः । स नः स्योनः सुयज्ञा यज्ञा च यथा देवानां जनिमानि वेद" ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, २, १२)—'इति' 'अनया जुहुयात्' गृहीतं तत् ॥ ८ ॥

भा०—पूर्वोक्त रीति से चार चार ग्रहण किया हुआ आज्य ले कर 'अग्ना-
यग्निः' आदि आठ मंत्रों में से "अग्नावग्निः" मन्त्र पढ़ कर हवन करे ॥ ८ ॥

सन्नीतात् तृतीयमात्रं भवदाय द्वितीयातृतीयाभ्यां जुहोत्तु-
त्तरस्यां स्वाहाकारं दधात्येव मेवावरेचतुर्थोपञ्चमीभ्यां
पष्ठीसप्तमीभ्याञ्च शेषं भवदायसौविष्टकृतमष्टम्यां जुहुयात् ॥९॥

'सन्नीतात्' (पूर्वोक्तात्) यूपपात्रे नीतात् विल्वप्रमाणात् श्रोदनचरोः 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांशम् 'भवदाय' कर्त्तव्यत्वात् 'द्वितीयातृतीयाभ्याम्' "श्रीलूग्बलाः सम्प्रदन्ति प्रावाणो हविष्कृषवन्तः परिवत्सरीणाम् । एकाष्टके सुप्र-
जसः सुवीरा ज्योग् जीवेम बलिहृतो वयं ते ॥ १३ ॥ इडायास्पदं घृतवत्सरी-
सृष्टं जातवेदः प्रतिहव्या शृभाय । ये ग्राम्याः पशयो विश्वरूपारस्तेपाशुं सप्तानां मयि रन्ति रस्तु" (स्वाहा) ॥ १४ ॥ (म० ब्रा० २, २, १३-१४)—इत्येताभ्यां सृष्ट्यां 'जुहोति' जुहुयात् । तत्र च 'उत्तरस्याम्' तृतीयायाम् "इडायास्पदम्" इत्येतस्याम् एव अन्ते 'स्वाहाकारं दधाति' स्वाहापदं प्रयुज्यात् । 'अवरे' अपरे द्वे तृतीयमात्रे 'चतुर्थो-पञ्चमीभ्याम्' "एषैव सा या पूर्वो व्यीच्छत् से यमत्स्व-
न्तश्नरति प्रविष्टा । वमूजिंगाय प्रथमा जनित्री विग्रे ह्यस्यां महिमानो अन्तः

॥ १५ ॥ एषैव सा या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभद्विश्वरूपा । सम्बत्सरस्य
या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली” (स्वाहा) ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, २, १५-१६)
इत्येताभ्याम् ऋग्भ्यां पृष्ठीमत्तमीभ्यां “ यां देवाः प्रतिपश्यन्ति रात्रौ धेनु
निवायतीम् । सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा सुत्तराशंसनाम् ॥१७ ॥ सम्बत्सरस्य
प्रतिमां यां त्वा रात्रिं यजामहे । प्रजा सत्रयां नः कुष्ठ रायस्पोषेण सशंसृज ”
(स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, २, १७-१८) इत्येताभ्यां जुहुयादिति । ‘सौ-
विष्टकृतम्’ स्विष्टकृदर्थं ‘शपम्’ इत्येताभ्यां सृग्भ्यां ‘च’ एव मेव “ उत्तरस्यां
स्वाहाकार ”—इत्येतन्नियमेनैव स्थालीपाकरीत्या यद्गृहीतम्, तत् ‘अवदाय’
गृहीत्वा अष्टम्या, “ अन्वियन्तो अनुमति र्यज्ञं देवेषु मन्यताम् । अग्निश्च हव्य-
वाहनः स नोऽदाहाद्वाशुपे मयः १९ । (म० ब्रा० २, २, १९) इत्यनयर्चा ‘जुहुयात्’ ए

भा०—पूर्वाक्त बिल्व की यरावर जो शोदनकर भांस के साथ मिलाकर
यूप में रक्खागया है, उस में से एक तिहाई लेकर द्वितीय और तृतीय मन्त्र
से एक आहुति देवे, उस के तृतीय आहुति के अन्तमें ‘स्वाहा’ शब्दका प्रयोग
करे । अपर दो तिहाई भी चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र से, एवं छठा और सातवां
मन्त्र से, इसी नियम से अर्थात् शेष मन्त्र के अन्त में ‘स्वाहा’ जोड़कर यथा-
क्रम दो आहुति देवे । सब के अन्त में अष्टम मन्त्र पढ़कर स्विष्टकृत यागके
लिये पूर्वगृहीत (अलग कांसेके पात्रमें रक्खा) भांसपरशु आदि होम करे ॥९॥

यद्यवा अल्पसम्भारतमः स्यादपि पशुनैव कुर्वीता-
पिवा स्थालीपाकं कुर्वीतापि वा गोघ्रास माहरेदपि वार-
ण्ये कक्ष मुपाधाय ब्रूयादेपा मेऽष्टकेति—न त्वेव न कुर्वीत
न त्वेव न कुर्वीत । १० ॥ १ ॥

‘यदि’ ‘उ’ अपि ‘वै’ निश्चयेन ‘अल्पसम्भारतमः’ अत्याल्पपायोक्तनः पुरुषः
स्यात्, ‘अपि’ तथापि ‘पशुना’ सप्तानां ग्राम्याणां पशूना मन्वतमेन येन के-
नापि ‘कुर्वीत’ ‘एव’ सम्पादयतीति एतामष्टकाय् । ‘अपि वा पशुमावेगपि
‘स्थालीपाकं’ ‘कुर्वीत’ एव । अपि वा’ स्थालीपाककरणनामार्थमावेगपि ‘गो-
घ्रासम् आहरेत्’—एतेनापि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । अपि वा ‘अरण्ये’ कक्षम्
उपाधाय कक्षं दर्शयित्वा, कक्षं ग्राह्यं भूत्तिति यावत्, एपा न अष्टका’—इति
‘ब्रूयात्’ एतेन पि सिद्धेनामाष्टकाकृत्यम् । ‘तु’ प्रत्युत गोपश्वलाभे गांता-
ष्टकां ‘न कुर्वीत’—इति ‘न एव’ । द्विर्यवनं प्रपाठकममाप्तिद्योतकमिति मनासा
मांसाष्टका । १० ॥ १ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रेणतुषंप्रपाठकेप्रथमखण्डस्यष्टमास्याननमाप्तम् ॥१॥

भा०—यद्यपि विशेष सामग्री नकर सके, तथापि पशुद्वारा ही मांसाष्टका करे। यदि पशुद्वारा न कर सके तो स्थालीपाक द्वारा करे। दोनों के अभाव में गौकों 'ग्रास देने से भी हो सकता है। उस के करने का भी सामर्थ्य न हो, तो धन में जाकर दोनों बाहू उठा कर कहे कि—'यही हमारा मांसाष्टका है' परन्तु 'मांसाष्टका' न करे ऐसा किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ १० ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके प्रथमखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।१।



श्वस्ततोन्वष्टक्य मपरश्वो वा ।१। दक्षिणपूर्वोऽष्टमदेशे
परिवारयन्ति तथायतं तथामुखैः कृत्यम् ॥ २ ॥

'ततः' अष्टकाकार्यादनन्तरम् । 'श्वः' द्वितीयदिने 'अपरश्वः', तृतीयदिने 'वा' 'अन्वष्टक्यम्' अन्वष्टकाकृत्यं कुर्यादिति ॥१॥ स्वावासभूमौ 'दक्षिणपूर्व' दक्षिण-पूर्वयोर्दिशोरन्तराले आग्नेयकोशे, 'अष्टमदेशे' स्वावासस्थानाष्टमे भागे, 'तथायतं' दक्षिणपूर्वायतं स्थानम्, 'तथामुखैः' आग्नेयाभिमुखैः स्थापित सम्भारादिभिः 'कृत्यम्' अन्वष्टक्यम् कार्यं यथा स्यादेव प्रशस्तं कृत्वा 'परिवारयन्ति' परितः आच्छादयन्ति, आच्छादयेयुर्जना यजमानकर्मकरा इति ॥२॥

भा०—अष्टका कार्य के दूसरे दिन, या उस के तीसरे दिन, 'अन्वष्टका' कार्य करे ॥ १ ॥ रहने के घर से अग्रिकोण में, अष्टम भाग स्थान रोक कर, दक्षिण-पूर्वदिशा में विस्तृत, इस अग्रिकोणाभिमुख स्थापित द्रव्यादि द्वारा कार्य सिद्ध करने के लिये रुकावट न हो, इस प्रकार उत्तम एक मण्डप बनावे ॥२॥

चतुरवराद्दध्यान् प्रक्रमान् पश्चादुपसञ्चार उत्तरार्द्धे परि
वृतस्य लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्ति ॥३॥

'परिवृतस्य' तस्य मण्डपस्य 'अवराद्दध्यान्' अपरार्द्धे विदितान् 'चतुःप्रक्रमान्' अन्यूनान् द्वादशपदभूमिं विहाय ततः 'पश्चात्' 'उपसञ्चारः' गमनागमन मार्गः भवेत्, 'उत्तरार्द्धे' तु 'लक्षणां' पूर्वार्कं 'कृत्वा' 'अग्निं प्रणयन्ति' ॥३॥

भा०—उस मण्डप में ऊपर की ओर कमसे कम १२ गारह पग भूमि छोड़ कर, तत्पश्चात् जाने आने का रास्ता छोड़, नीचे के आधे भाग में 'लक्षणा' कर उसमें अग्नि प्रणयन करे ॥ ३ ॥

पश्चादग्नेरुलूखलं दृश्यं हयित्वा सकृत्संगृहीतं त्रीहिमुष्टि
भवहन्ति सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्याम् ॥४॥

‘अग्नेः पश्चात्’ उलूखलं दृढं हयित्वा दृढं स्थापयित्वा तत्र ‘सकृत्’ एकवारैव ‘संगृहीतं’ ‘श्रीहिमुष्टिम्’ कतिपयमुष्टिपरिमितं धान्यं यथा च कृत्यं सम्पद्येत ‘सव्योत्तराभ्याम्’ उभाभ्यामेव ‘पाणिभ्यां’ मुसलं गृहीत्वा ‘अवहन्ति’ अवहन्यात् ॥४॥

भा०—अग्नि के पश्चिम भाग में दृढ़ता के साथ उलूखल स्थापन कर, उस में एकही वार कईएक मुट्टी धान्य लेकर, दोनों हाथ से मूसल पकड़ धान्य कूटे ॥४॥

यदा वितुषाः स्युः सकृदेव सुफलीकृतान् कुर्वीत ॥५॥

तेनावघातेन ‘यदा’ ते धान्यसंघाताः ‘वितुषाः’ विगततुषाः ‘स्युः’ तदा ‘सकृदेव’ एकवारैवैव तान् अवहतधान्यसमूहान् ‘सुफलीकृतान्’ शूर्पादिना तुषान् पृथक्कृत्य तण्डुलरूपान् ‘कुर्वीत’ ॥५॥

भा०—पूर्वोक्त प्रकार कूटने से धान्य आदि में जब भूसी न रहे, तब उसे सूपसे फटक कर, उस भूसी आदिको उड़ादेवे (यों तण्डुल तैयार करे) ॥५॥

अथामुष्माच्च सवथ्नो मांसपेशीमवकृत्य नवायाथ्सून्यामणुशश्छेदयेद्यथा मांसाभिघाराः पिण्डा भविष्यन्तीति ॥६॥

‘अथ’ अपरत्र ‘च’ ‘अमुष्मात्’ अष्टकायै हतायाः गोः ‘सक्युः’ रक्षितवाससक्यिभागात् ‘मांसपेशीम्’ ‘अवकृत्य’ कर्त्तनेन गृहीत्वा ‘नवायां’ ‘सून्यां’ व्यञ्जनकर्त्तन्यां तथा ‘अणुशः’ छेदयेत् ‘यथा’ कर्त्तिताः ते ‘मांसाभिघाराः’ घृतमिश्रिताः सन्तः ‘पिण्डाः’ पिण्डाकाराः भवेयुर्नाम ॥ ६ ॥

भा०—इधर, उस पूर्व-रक्षित घाम-ऊरु से मांस-पेशी आदि काट कर नये वर्त्तन में खण्ड २ कर काटे, इस प्रकार खण्ड २ करे, जिस में घी के ढार देते वह पिण्डाकार बन जावे ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवाग्नौ अपयत्योदनचरुञ्च मांसचरुञ्च पृथक् मेक्षणाम्भ्यां प्रसव्य मुदायुवन् ॥ ७ ॥

‘तस्मिन्नेव’ एकस्मिन् ‘अग्नी’ ‘ओदनचरुञ्च मांसचरुञ्च’ उभावेव च ‘पृथक्मेक्षणाम्भ्यां’ पृथक् पृथक् स्थापिताभ्यां मेक्षणद्वयाभ्यां ‘प्रसव्यं’ धान्यावर्त्तन मेक्षणचालनं यथा स्यात् तथा ‘उदायुवन्’ ऊर्ध्वमीपन्मिश्रयन् ‘अपयेत्’ पचेदिति ॥७॥

भा०—एक ही अग्नि पर ‘ओदनचरु’ और ‘मांसचरु’ को भिन्न २ रक्तेहूए मेक्षणद्वारा घाँड़े और से चलाये और ऊपर की चलीना से उठा २ कर धर देखता हुआ पकाये ॥ ७ ॥

शूतावभिचार्य दक्षिणोद्वास्य न प्रत्यभिचारयेत् ॥ ८ ॥

'शूता' तौ चरु 'अभिचार्य' घृतेन, 'दक्षिणा' अग्नेर्दक्षिणतः 'उद्वास्य' संस्थाप्य 'न प्रत्यभिचारयेत्' अष्टकाया मिवात्र प्रत्यभिचारणं न कुर्वीतेति ॥८॥

भा०—इन दोनों चरु के अच्छे प्रकार पक जाने पर, घी का ढार दे, अग्नि के दक्षिणभाग में उतारे, परन्तु उस में पूर्ववत् पुनः घी का ढार न देवे ॥ ८ ॥

दक्षिणाद्धे परिवृतस्य तिस्रः कर्पूः खानयेत् पूर्वोपक्रमाः-
प्रादेशयामाश्चतुरङ्गुलपृथिवीस्तथावखाताः ॥ ९ ॥

'परिवृतस्य तस्य मण्डपस्य 'दक्षिणाद्धे' दक्षिणेश्च 'तिस्रः कर्पूः त्रीन् गतान् 'खानयेत्'; ताश्च कर्पवः पूर्वोपक्रमाः पूर्वदिगारभ्य क्रमेणारब्धाः, 'प्रादेशयामाः' प्रादेशपरिमितदीर्घाः, 'चतुरङ्गुलप्रशस्ताः, 'तथा अवखाताः' चतुरङ्गुलखातविशिष्टाः भवेयुरिति ॥ ९ ॥

भा०—उस मण्डप के दक्षिण भागमें तीन गढ़ा खुदवावे। इन गढ़ों की लम्बाई प्रादेशमात्र, चौड़ाई ४ अंगुल, चार ही 'अंगुल' गहराई भी होगी ॥ ९ ॥

पूर्वस्थाः कर्प्वाः पुरस्ताल्लक्षणं कृत्वाग्निं प्रणयन्त्यप-
रेण कर्पूः पर्याहृत्य लक्षणे निदध्यात् । १०, ११ ॥

'पूर्वस्थाः कर्प्वाः' प्रथमस्य गत्तस्य 'पुरस्तात्' 'लक्षणं' पूर्वोक्तरूपं 'कृत्या' तत्र 'अग्निं' 'प्रणयन्ति' प्रणयेयुरिति । किञ्च, 'अपरेण कर्पू' कर्पूणाम् अपरपार्श्वेऽदूरे एव अग्निं 'पर्याहृत्य' परित आहृत्य 'लक्षणे' पूर्वोक्ते 'निध्यात्' स्थापयेत् । १०, ११ ॥

भा०—पहिला गड़हे के सामने लक्षण पूर्यक अग्नि प्रणयन करे और इन दो 'लक्षणों' से अग्नि लावे, और उसे गड़हों के निकट दूसरे बगल में रखे ॥१०, ११॥
सकृदाच्छिन्नं दर्भमुष्टिं स्तृणोति कर्पूश्च पूर्वोपक्रमाः ॥१२, १३॥

'आच्छिन्नं' ह्यपच्छिन्नं किञ्चिन्मूलच्छिन्नं 'दर्भमुष्टिम्' 'सकृत्' एकवारं 'स्तृणोति' स्तृणुयात्, अग्नेश्चर्दिह । 'च' अपि 'पूर्वोपक्रमाः' कर्पूः स्तृणुयादेव १२, १३

भा०—कुछ जड़ काटी हुई कुश मुट्टी एक ही बार में अग्नि के चारों ओर बिछादेवे और पूर्यादि क्रमसे उस गड़हे में भी वही कुशमुट्टी बिछावे ॥१२, ॥१३॥

पश्चात् कर्पूणां स्वस्तर मास्तारयेद्दक्षिणाग्नेः कुशैर्द-
क्षिणाप्रवणम् । १४ वृषीञ्जीपदध्यात्तत्र ॥ १५ ॥

'कर्पूणां' गत्तानां 'पश्चात्' 'दक्षिणाग्नेः कुशैः' 'दक्षिणाप्रवणम्' 'स्वस्तरम्'

‘आस्तारयेत्’ । १४ ‘तत्र’ कर्पूणां पश्चादेव ‘घृषीं’ काष्ठासनं ‘च’ ‘उपदध्यात्’
स्थापयेदिति ॥ १५ ॥

भा०—इन तीनों गड़हेके पश्चिम भागमें दक्षिणाय कई एक कुण्ड से दक्षिणा
प्रयणस्वरूप स्वसारातरण करे १४ । उसी स्थान में पटा भी रखे ॥ १५ ॥

अस्माआहरन्त्येकैकशः सव्यं बाहु मनु चरुस्थाल्यौ
मेक्षणे कथं संदर्शो मुदक मिति ॥ १६ ॥

‘अस्मै’ अस्य यजमानस्य ‘सव्यं’ बाहुम् अनु लक्ष्मीकृत्य वामभागे इति या-
वत् ‘चरुस्थाल्यौ’ मांसीदनयोः ‘मेक्षणे’ अन्नाद्यावत्तनसाधने ‘कंसम्’ अन्नद्या-
धारभूतं कांस्यपात्रम् ‘दर्शोम्’ परिवेशनसाधनम् ‘उदकम्’ च ‘एकैकशः’ क्रमात्
‘आहरन्ति’ आहृत्य स्थापयेयुः ॥ १६ ॥

भा०—इस यजमान को बाईं ओर मांस और चरुकी दो हांडी एवं दोनों
के चलौना और जल ले रखे ॥ १६ ॥

पत्नी वहिंपि शिलां निधाय स्थगरं पिनष्टि तस्याञ्चै-
वाञ्जनं निघृष्य तिस्रो दर्भपिञ्जलीरञ्जति सव्यन्तरास्तैलञ्चो-
पकल्पयेत् क्षौमदशाञ्च । १७-२० ॥

‘पत्नी’ यजमानस्य, ‘वहिंपि’ कुशोपरि ‘शिलां’ पेपणाधारभूतां ‘निधाय
संस्थाप्य, तत्र ‘स्थगरं’ चन्दनादिकं गन्धद्रव्यं ‘पिनष्टि’ पेपणं कुर्यात् । किञ्च
‘तस्याम्’ एव शिलायाम् ‘अञ्जनं’ सौवीरं ‘निघृष्य’ घर्षयित्वा तेन ‘तिस्रः दर्भ-
पिञ्जलीः’ ‘स-व्यन्तराः’ व्यन्तरः पुनःपुनरवकाशः, तत्सहिताः कृत्वा ‘अञ्जति’
अञ्जेत् । ‘च’ अपि ‘तैलम्’ ‘उपकल्पयेत्’ करतलमर्दनादिना पेपणेनैव वा तिला-
नाम् । ‘क्षौमदशां’ क्षुमनिर्मित वसनस्य ‘दशां’ प्रान्तस्थितदशास्यसूत्रम् ‘च’ अपि
‘उपकल्पयेत्’ क्षौमवसनप्रान्ततो निष्कास्य रक्षेत् । १७-२० ॥

भा०—यजमान की स्त्री बिछाए हुए कुश के ऊपर शिला (पत्थर) रखे,
उस पर चन्दनादि पीसे । एवं उस में ‘अञ्जन’ घिस कर, उस अञ्जन से तीन
दर्भपिंजली छोड़ी २ दूर पर रंगे । उसी शिला पर तेल भी सम्पादन करे एवं
रेशमी कपड़े के किनारे से सूत निकाल कर रखे ॥ १७, १८, १९, २० ॥ -

शुचौ देशे ब्राह्मणाननिन्द्यानयुग्मानुदङ्मुखानुपवेश्य
दर्भान् प्रदायोदकपूर्वं तिलोदकं ददाति पितुर्नाम गृहीत्वा-
ऽन्नावेतत्ते तिलोदकं ये चात्र त्वा मनुयाथश्च त्वमनु तस्मै
ते स्वधेति ॥ २१ ॥

‘शुची देशे’ पवित्रे स्थाने (कर्पूणां ‘दक्षिणत एव, यथा च तेषामग्रत एव कर्पूपिण्डाः स्युः) ‘अनिन्द्यान्’ पाङ्क्त्यान्’ ‘श्रयुग्मान्’ त्रीन् ‘ब्राह्मणान्’ ‘उदङ्मुखान्’ ‘उपवेश्य’ तेभ्यो ‘दर्भान्’ आसनाद्यं ‘प्रदाय’ ‘पितुः’ स्वस्य ‘नान’ ‘गृहीत्वा’ “असावेतत्ते”—इत्यादिकमन्त्रेण ‘उदकपूर्वं’ उदकदानपूर्वम्, ‘तिलोदकम्’ तिलैर्भिन्नित्रित मुदकं ‘ददाति’ दद्यात् ॥ २१ ॥

भा०—उन गड़हे के दक्षिणभाग में कुशासन पर तीन अनिन्द्य ब्राह्मणों को उत्तर मुंह झिठला कर अपने पिता का नाम धर, उन में से एक ब्राह्मणके हाथ में कुछ जल देकर, तत्पश्चात् “असावेतत्ते”—इत्यादि मन्त्र पढ़ कर तिल मिला जलदान देवे ॥ २१ ॥

अथ उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ २२ ॥

‘इतरयोः’ स्वपितामहप्रपितामहयोः प्रतिनिधिब्राह्मणयोः अपि ‘एव मेव’ उदकपूर्वं तिलोदकदानम्, परम् ‘अप उपस्पृश्य’ जलस्पर्शनं कृत्वा । एकस्मै ब्राह्मणाय स्वपितृनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कृत्वा ततो जलस्पर्शनं हस्तधीतं कृत्वैवापरस्मै द्वितीयब्राह्मणाय स्वपितामहनामो-च्चारणपूर्वकं मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च प्रकृत्य ततः पुनरपि जलस्पर्शनं प्रकृत्य तृतीयब्राह्मणाय स्वप्रपितामहनामोच्चारणपूर्वकं मुदकदानं त मनु तिलोदकदानञ्च कुर्यादिति ॥ २२ ॥

भा०—पितामह और प्रपितामह के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य दो ब्राह्मणों को भी इसी प्रकार जल दे कर तिल जल दान करे । परन्तु एक को देने पर, दूसरे को देने के पहिले, हाथ धो लिया करे ॥ २२ ॥

तथा गन्धान् २३ अग्नौ करिष्यामीत्यामन्त्रणं होप्यतः ॥ २४ ॥

‘गन्धान्’ अपि तेभ्यः ‘तथा’ एव दद्यात् । २३ । ‘होप्यतः’ होमं करिष्यती यजमानस्य “अग्नौ करिष्यामि” “इति” उस्तथा ‘आमन्त्रणं’ कर्त्तव्यमिति ॥ २४ ॥

भा०—गन्धादि भी उसी प्रकार उनको देवे ॥ २३ ॥ होम करने के पहिले यजमान उन तीनों ब्राह्मणों को पूछे, कि—अग्निमें पितृगण की अर्चना कहां ? ॥ २४ ॥

कुर्वित्युक्ते कथंसे चरु समवदाय मैक्षणेनीपघातं जुहुयात् स्वाहा सोमाय पितृमत इति पूर्वांश्च स्वाहाग्नये कव्यवाहनायेत्युत्तराम् । २५ ॥ २ ॥

ते आमन्त्रितब्राह्मणैः “कुरु”—इति ‘उक्ते’ होमकारणे प्रवृत्तो यजमानः

'कांसे' कांस्यपात्रे 'चरु' ओदनयत्तं मांसचरुञ्च 'समघदाय' एकीकृत्य 'मेक्षणो' तदीयं किञ्चिद् गृहीत्वा 'उपघातं जुहुयात् उपघातनामहवनं यागारम्भसूचकं होमं कुर्यात् । तत्र 'पूर्वांस्' आहुतिं "स्वाहा सोमाय पितृमते"—इति, 'उत्तरांस्' आहुतिं "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय"—इति । २५ ॥ २ ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके द्वितीयखण्डस्य व्याख्यानंसमाप्तम् ४२

भा०—वे तीनों ब्राह्मण (जिनसे पूंछा गया) एक वाक्य से 'करो' ऐसा कहें । इस पर यजमान कांसे के वर्तन में मांसचरु, और ओदनचरु, दोनों चरु एकत्र ले कर उस में से थोड़ासा मेक्षण द्वारा ले कर उपघात होम * करे । उन में से "स्वाहा सोमाय पितृमते" इस मन्त्र से प्रथम आहुति देवे, और "स्वाहाग्नये कव्यवाहनाय" इस मन्त्र से दूसरी आहुति देवे ॥ २५, २ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठकके द्वितीय खण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ४।२



अत ऊर्ध्वं प्राचीनावीतिना वाग्यतेन कृत्यम् ॥ १ ॥

'अतः ऊर्ध्वम्' इत आरभ्य अन्वष्टक्यसमाप्तिं यावत् । 'प्राचीनावीतिना' दक्षिणस्कन्धत उपवीतं धृत्वा, 'वाग्यतेन' नियतवाग् भूत्वा 'कृत्यम्' एतदन्वष्टक्यं नाम कार्यं मिति ॥ १ ॥

भा०—इसके पश्चात् 'अन्वष्टका' कार्य की समाप्ति पर्यन्त जो २ क्रिया करनी पड़ेगी, उस में 'प्राचीनावीति' (प्र० १ ख० १ सू० ३, ४) होकर करे और उस समय प्रयोजन से अधिक वाक्य व्यवहार न करे ॥ १ ॥

सव्येन पाणिना दर्भपिङ्गुलीं गृहीत्वा दक्षिणाग्रां लेखा मुल्लिखेदपहता असुरा इति ॥ २ ॥

'सव्येन' वामेन 'पाणिना' 'दर्भपिङ्गुली' स्वस्तरात् 'गृहीत्वा' दक्षिणे पाणी "अपहता असुरा रक्षाथंसि वेदिपदः" ॥३५॥ (स०. ब्रा० २, ३, ३)—इति मन्त्रेण 'दक्षिणाग्रां लेखाम्' तथैव पिङ्गुल्या 'उल्लिखेत्' तासु कर्पूष्विति ॥ २ ॥

भा०—बायें हाथ में 'स्वस्तर' से एक 'दर्भ पिङ्गुली' लेकर दहिने हाथ में लेते हुए, उस के द्वारा "अपहता असुरा" इस मन्त्र से उन तीन कर्पू से क्रम से दक्षिण मुंह रेखापात करे ॥ २ ॥

सव्येनैव पाणिनोल्मुकं गृहीत्वा दक्षिणाद्वे कर्पूणां नि-

दध्याद्यै रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना इति ॥ ३ ॥

‘सव्येन एव पाणिना’ ‘उलमुकं उवलदग्निं’ ‘गृहीत्वा’ आनीय दक्षिणे पाणी ‘कर्पूणां’ तासां मध्ये ‘दक्षिणाद्धे’ (तथा च रेखापातमुखे इति फलितम्) “ये रूपाणि प्रति मुञ्चमाना अक्षुराः मन्तः स्वधया चरन्ति । परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठांल्लोकात् प्रशुदत्वस्मात्” ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ४)—इति मन्त्रं सर्वत्रैव पठन् तं हस्तस्य मुलमुकं ‘निदध्यात्’ स्थापयेत् ॥ ३ ॥

भा०:—वाम हाथ में जलती आग लेकर दहिने हाथ में रक्ख, उस कर्पू आदि के मध्य में रेखा पात के अगले भाग में “ये रूपाणि” यह मन्त्र पढ़ कर स्थापन करे ॥ ३ ॥

अथ पितृनावाहयत्येत पितरः सोम्यास इति ॥ ४ ॥

‘अथ’ अनन्तरम् । तत्रैव “एत पितरः सोम्यासो गम्भीरेभिः पथिभिः पूर्वैशोभिः । दत्तास्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्वदीरं नियच्छत” ॥५॥ (म० ब्रा० २, ३, ५)—इति ‘पितृन्’ पितृपितामहपितामहान् यथाक्रमेण ‘आवाहयति’ आवाहयेदिति ॥ ४ ॥

भा०:—अनन्तर, उन्हीं तीन कर्पू से एक ही समय पिता, पितामह, और पितामह, इनतीन व्यक्तियोंको “एत पितरः” मन्त्र पाठानुसार आवाहन करे।

अथोदपात्रान् कर्पूषु निदध्यात् ॥ ५ ॥

‘अथ’ आवाहनानन्तरम्, ‘कर्पूषु’ ‘उदपात्रान्’ त्रीन् एकैकक्रमेण ‘निदध्यात्’ स्थापयेदिति ॥ ५ ॥

भा०:—इस के अनन्तर, उन कर्पू आदि में एक २ जलपात्र रक्खे ॥ ५ ॥

सव्येनैव पाणिनोदपात्रं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां द्रर्भेषु निनयेत् पितुर्नाम गृहीत्वासाववनेनिद्व ये चात्र त्वा मनु याथश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेति ॥६॥

‘सव्येन एव पाणिना’ ‘उदपात्रं’ इतः पूर्वमेव स्थापित मुदकपात्रं ‘गृहीत्वा’ तदुदकपात्रस्यं जनम् ‘अवसलवि’ दक्षिणहस्तवृद्धाङ्गुष्ठमूलेन पितृतीर्थेन तथा ‘पितुर्नाम गृहीत्वा’ स्वपितृनामग्रहणपूर्वकं “असाधवनेनिद्व” —इति मन्त्र पठन् ‘पूर्वस्यां कर्ष्वां’ पातिता ये दर्भाः, तेषु ‘द्रर्भेषु’ ‘निनयेत्’ आहूतं पितरं प्रापयेदिति ॥ ६ ॥

भा०:—दायें हाथसे कर्पू के पास रक्खे हुए जलपात्र को लेकर दहिने हाथ

के अंगुठे की जड़ से जल ढार कर, उस जल को पिता का नाम लेकर "असौ अयने निदध्व"-इत्यादि मन्त्र पढ़ कर पहिले से रखे हुए कर्पू के ऊपर दर्भ में आहूत अपने पिता को-प्राप्त करावे; इसी को 'निनयन' कहते हैं ॥ ६ ॥

अप उपरुपृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ७ ॥

'इतरयोः' पितामहप्रपितामहयोरर्थयोरपि निनयनम् 'एवमेव' कार्यम् अपरयोः कर्ष्वोर्यथाक्रमेणेति । तत्र च प्रतिवारम् अप उपरुपृशनं कर्त्तव्यमिति ॥७॥

भा०:-पितामह और प्रपितामह के उद्देश से भी इसी प्रकार 'निनयन' करे; परन्तु प्रतिवार जल स्पर्श करे। अर्थात्पितृनिनयन के पीछे हाथ धोकर पितामह 'निनयन' करे, फिर हाथ धोकर, प्रपितामह के लिये निनयन करे ॥७॥

सव्येनैव पाणिनादर्वां गृहीत्वा सन्नीतात् तृतीयमात्र भवदायावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां दर्भेषु निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेप ते पिण्डो ये चात्र त्वा मनु याथ्श्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपरुपृश्यैव मेवेतरयोः ॥ ८ । ९ ॥

यथा पूर्वं निनयनं कृतम् तथैव तिसृध्वेव कर्ष्यु पिण्डदानञ्च कार्यं मिति कलितार्थः । अत्र मन्त्रे "असावेप ते पिण्डः"-इत्येव विशेषः । पूर्वस्थापितां 'दर्वांम्' । 'सन्नीतात्' पूर्वं कांस्यपात्रे ओदनचरुर्मांसचरुश्च सन्नीतः, तस्मात् । 'तृतीयमात्रम्' एकतृतीयांश मिति ॥ ८ ॥ ९ ॥

भा०-पूर्वगृहीत कांसे के पात्र में मिला हुआ चरु, दर्वां द्वारा काटकर तीन भाग करे और एक २ कर क्रम से (धीच २ में हाथ धोले) कुश के ऊपर अपने पिता का नाम ले कर "असावेप ते पिण्डः"-इस मन्त्र से यथाक्रम तीन पिण्ड दान करे ॥ ८ ॥ ९ ॥

यदि नामानि न विद्यात् स्वधा पितृभ्यः पृथिवीपद्भ्य इति प्रथमं पिण्डं निदध्यात् स्वधा पितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्य इति द्वितीयं स्वधा पितृभ्यो दिविपद्भ्य इति तृतीयम् ॥१०॥

'यदि' 'नामानि' पित्रादीनाम्, 'न विद्यात्' ? तर्हि 'प्रथमं पिण्डं' "स्वधा०"-इति मन्त्रेण 'निदध्यात्' तत्र कर्ष्युमध्ये पूर्ववदित्येयः-द्वितीयं 'पिण्डं' "स्वधा०"-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येयः-तृतीयं पिण्डं "स्वधा०"-इति मन्त्रेण निदध्यादित्येय ॥१०॥

भा०-यदि पिता का नाम स्मरण न हो, तो, पहिला पिण्ड पृथिवी स्थायी

पितृगण के लिये, द्वितीय पिण्ड अन्तरिक्ष स्थायी पितृगण के निमित्त एवं तृतीय पिण्ड द्युनोकस्य पितृगण के निमित्त, उन्हीं कर्पूओं के बीच पूर्वोक्तानुसार स्थापित करे ॥ १० ॥

निधाय जपत्यत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग मावृषायध्वमित्यपर्यावृत्त्य ॥ ११ ॥ पुरोच्छ्वासादभिपर्यावर्त्तमानो जपेदमी मदन्त पितरो यथाभाग मा वृषायिपतेति ॥१२॥

पिण्डान् त्रीनेव तिसृषु कर्पूषु यद्योपदिष्टं 'निधाय' 'अपर्यावृत्त्य' पर्यावर्त्तनं वर्त्तयित्वा एकत्रैव स्थितो यजमानः "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ६) 'इति' मन्त्रं 'जपति' जपेदिति ॥११॥ 'उच्छ्वासात्' नामिकया श्वासत्यागात् 'पुरा' प्रागेव 'अभिपर्यावर्त्तमानः' तिस्रः कर्पूः अभिव्याप्य 'परि' सर्वतः (अनुलम्फेनेति भाव) 'आवर्त्तमानः' आवर्त्तनं कुर्वाणो यजमानः "अमी मदन्त पितरो यथाभागमावृषायिपतेति" ॥१२॥ (म० ब्रा० २, ३, ७) 'इति' इमं मन्त्रं जपेत् अभिपर्यावर्त्तनञ्चैतद्दामत एव पैत्रे सद्यस्यैव सर्वत्र विधानात् ॥ १२ ॥

भा०—उन्हीं तीन गड़हों में पूर्वोक्त रीति से स्थापन करने के पीछे यजमान एक स्थान में बैठ कर "अत्र पितरः" यह मन्त्र पढ़े ॥११॥ एक निःश्वास के काल की बराबर वाईं ओर से गड़हे आदि की परिक्रमा कर आवे और उसी समय "अमी मदन्त" मन्त्र का पाठ करे ॥१२॥

सद्येनैव पाणिना दर्भपिञ्जलीं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां कर्ष्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्त आज्ञनं ये चात्र त्वा मनु याथ्श्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृश्यैव मेवेतरयोः ॥ १३ । १४ ॥

यथा पूर्वं निनयनं पिण्डदानञ्च कृतम्, तथैव 'दर्भपिञ्जली'पत्रया सीवी-राञ्जनेनाक्तां स्थितां क्रमतोऽप उपस्पृश्य पिण्डानामुपरि दद्यादिति । तदत्र मन्त्रे "असावेतत्त आज्ञनम्"—इत्येव विशेषः । १३, १४ ॥

भा०—वांघे हाथ में, उस आज्ञन से रंगा-कुण की तीन पिंजली ले कर दहिने हाथ के अंगुठे की जड़से पूर्व आदि तीन गड़हा में स्थित तीन पिण्ड के ऊपर एक-एक क्रम से "असावेतत् त आज्ञनम्—मन्त्र पढ़ कर, प्रदान करे । और प्रथम और द्वितीयपिण्ड परपिञ्जली देनेके पीछे एक-एक बारहाथ धोये ॥१३, १४॥

तथा तैलं तथा सुरभि ॥ १५ । १६ ॥

'तथा' पिङ्गुलीदानोक्तप्रकारेणैव 'तैल' पत्न्यापादितं तेनैव मन्त्रेण तास्वेव कर्पूषु दद्यात् । किञ्च 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'सुरभि पत्न्या' पिष्टं स्थगं तेनेव मन्त्रेण तास्वेव कर्पूषु दद्यात् । परं मुभयत्रैव "असावेतत्ते तैलम्"—इति, "असावेतत्ते सुरभि"—इति चोहनं कर्त्तव्यं मेव ॥ १५ । १६ ॥

भा०—तदन्तरं इत्थं पिङ्गुली दानके अनुसारं इत्थं मन्त्रं से उक्तं २ के ऊपर तैल एवं सुगन्धि (चन्दनादि) प्रदानं करे । विशेषता—मन्त्रं में यह होगी कि 'आञ्जन' शब्द के बदले 'तैल' और 'सुरभि' शब्द व्यवहृत होंगे ॥ १५ । १६ ॥

अथ निन्दुते पूर्वस्यां कर्ष्वां दक्षिणोत्तानौ पाणी कृत्वा नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूपायेति मध्यमायाश्च सव्योत्तानौ नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसायेत्युत्तमायां दक्षिणोत्तानौ नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यवे इत्यथाञ्जलि कृतो जपति नमो वः पितरः पितरो नमो व इति ॥ १७—२१ ॥

'अथ' सुरभिदानानन्तरं 'निन्दुते' निन्दयनं नमस्करणं कार्षमिति । तत्र 'पूर्वस्याम्' 'उत्तमायां' च 'कर्ष्वां' 'दक्षिणोत्तानौ' 'पाणी' कृत्वा 'मध्यमायां' तु 'सव्योत्तानौ' पाणी कृत्वा ततो तिसृष्वेव कर्पूष्वेकदैव 'अञ्जलि कृतः' जपति जपेत् यथाक्रमेण चतुरो मन्त्रान् "नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः शूपाय । नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो रसाय । नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो मन्यवे । १० । नमो वः पितरः पितरो नमो वः ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ३, ८—११)—इत्यादिकानिति ॥ १७—२१ ॥

भा०—अनन्तरं पहिला पिण्ड पर दक्षिणोत्तान दोनों हाथ (दक्षिण करतल ऊपर को [चिन्न] रहे एवं उसके ऊपर बायां करतल नीचे को ही) तत् पश्चात् मध्यम पिण्ड पर वामोत्तान दोनों हाथ (बायां करतल ऊर्ध्वं मुख और उसके ऊपर दक्षिण करतल अधो मुख) पर अनन्तर तृतीय पिण्ड पर, पुनः दक्षिणोत्तान दोनों हाथ पर मध्य के अन्त में ममस्त पिण्ड लक्ष्य कर अञ्जलि पूर्यक "नमो वः" इत्यादि चार नमस्कार करे ॥ १७—२१ ॥

गृहानवेक्षते गृहान् नः पितरो दत्तेति । २२ । पिण्डानवेक्षते सद्यो वः पितरो देप्तेति ॥ २३ ॥

ततः 'गृहान्' स्वगृहिणीम् 'अवेक्षते' अत्रेक्षते; "गृहात्रः पितरो दत्त" ॥१२॥
(म० ब्रा० २, ३, १२)—'इति' मन्त्रं पठन्निति ॥ २२ ॥ "ततः सद्यो वः पितरो
देष्म" ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १३)—'इति' मन्त्रं पठन् 'पिण्डान्' तानेव 'अवे-
क्षतेति ॥ २३ ॥

भा०:—अनन्तर "गृहात्रः" इस मन्त्र को पढ़कर गृहिणी को देखे ॥ २२ ॥
इसके अनन्तर 'सद्यो वः पितरो' मन्त्र का पाठकर पिण्ड आदि देसे ॥२३॥

सव्येनैव पाणिना सूत्रतन्तुं गृहीत्वावसलवि पूर्वस्यां
कपर्वां पिण्डे निदध्यात् पितुर्नाम गृहीत्वासावेतत्ते वासो ये
चात्र त्वा मनु याथश्च त्व मनु तस्मै ते स्वधेत्यप उपस्पृ-
श्यैव मेवेतरयोः । २४, २५ ॥

पत्न्या सम्पादिता क्षीमदशा, त एव एकैकं 'सूत्रतन्तुं' 'गृहीत्वा' पूर्वा-
दिषु कर्षुषु क्रमात् पित्रादिनामग्रहणपूर्वकं निदध्यात् । मन्त्रे तु "एतद्दः पि-
तरो वासः" ॥ १४ ॥—इत्येव विशेषः । अत्रापि द्वितीयतृतीयोरप उपस्पर्शनं
कार्यं मेव ॥ २४, २५ ॥

भा०:—पत्नी कर्तृक सम्पादित उस रेशमी कपड़े के किनारे से एक २ सूत
लेकर पूर्वादि गड़हे क्रम से पिता आदि के नाम ले २ कर "यह तुम्हारा वास
है" इत्यादि मन्त्र से पिण्ड आदि के ऊपर प्रदान करे ॥ २४, २५ ॥

सव्येनैव पाणिनादपात्रं गृहीत्वावसलवि पिण्डान् प-
रिपिञ्चेदूर्जं वहन्तीरिति । २६ । मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्रा-
श्रीयादाधत्त पितरो गर्भ मिति ॥ २७ ॥

'उदपात्रं' पूर्वमेव स्थापितं तत् 'सव्येनैव पाणिना गृहीत्वा' 'अवसलवि'
पितृतीर्थेन "ऊर्जं वहन्ती रमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्त्रुतथंस्वधास्य तर्पयत मे
वितुन्" ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १५)—'इति' मन्त्रेण 'पिण्डान्' त्रीन् एकदैव
'परिपिञ्चेत् ॥ २६ ॥ 'पुत्रकामा पत्नी' "आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्।
यथेह पुरुषः स्यात् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १६) 'इति' मन्त्रं पठती 'मध्यमं
पिण्डम्' समग्रं तदीयं किञ्चिदंशं वा 'प्राश्रीयात्' ॥ २७ ॥

भा०:—पूर्व स्थापित उस जल पात्र को दायें हाथ में लेकर पहिले की
नाई 'पितृतीर्थं' मार्ग से अंगुठे से एक ही धार में तीन पिण्ड पर "ऊर्जं
वहन्ती" मन्त्र से परिपिञ्चन करे ॥२६॥ पुत्र की कामना वाली पत्नी "आधत्त"
इस मन्त्र का पाठ कर मध्यम पिण्ड को सव्य, या घेष्टा भक्षण करे ॥२७॥

यो वा तेषां ब्राह्मणानां मुच्छिष्टभाक् स्यात् ॥ २८ ॥
 अभून्नो दूतो हविषो जातवेदा इत्युल्मुकं मद्भिर्भ्युक्ष्य
 द्वन्द्वंपात्राणि प्रक्षाल्य प्रत्यतिहारयेत् ॥ २९ ॥

'उच्छिष्टभाक्' दौहित्रः अद्वासमन्वितश्च । प्राशीयादित्येव । २८ "अभून्नो
 दूतो हविषो जातवेदा अत्राह्द्वयानि नुरभीणि कृत्वा । प्रादात् पितृभ्यः स्व-
 धया ते अन्नं प्रजानग्ने पुरेहि योनिम्" ॥ १७ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १७)
 'इति' मन्त्रं पठन् 'उल्मुकं' कर्षूदक्षिणाह्ने स्थापितम् 'अद्भिः' 'अभ्युक्ष्य' तदी-
 येनैव भस्मना 'द्वन्द्वं' यथा स्यात् तथा 'पात्राणि' चरुस्थाल्यादीनि 'प्रक्षाल्य'
 'प्रत्यतिहारयेत्, आनयेत् शिष्यादिनेति ॥ २९ ॥

भा०—उत्त ब्राह्मणों के जो कोई, उच्छिष्ट भाक् हों (वधा हुआ खाने
 वाला) वे भी इन २ पिण्डों को समस्त, या कुछ अंश खा सकते हैं ॥ २८ ॥
 "अभून्नो" इस मन्त्र को पढ़कर गड़हे आदि के दक्षिणाह्ने में रखा इंगोरा पर
 जल छिड़के एवं उस भस्म पर चरुस्थाली पात्र आदि धोकर लावे ॥२९॥

अप्सु पिण्डान्तसादयेत् प्रणीते वाग्नौ ब्राह्मणं वा भो-
 जयेद् गवे वा दद्याद् ॥ ३०-३३ ॥ वृद्धिपूर्त्तेषु युग्मानाशयेत्
 प्रदक्षिणमुपचारः । ३४, ३५ ॥ यवैस्तिलार्थः । ३६ ॥ ३ ॥

तान् त्रीनेत्र 'पिण्डान्' मुक्तशेषान् वा पिण्डांगान् 'अप्सु' नद्यादिषु 'सादयेत्'
 निक्षिपेत् । 'वा' अथवा 'प्रणीते वाग्नौ' तत्रैव सादयेदित्येव, 'वा' अथवा 'ब्राह्मणं'
 यं क मपि क्षुधातुरं 'भोजयेत्' । 'वा' अथवा 'गवे' यस्ये कस्यै चिद् दद्यादिति समाप्त
 मन्वएष्यम् । ३०-३३ । आहुमसङ्गात् वृद्ध्यादिषु विशेष उपदिशतिः—वृद्धिः
 शरीरवृद्धयनुमास्तः सम्पाद्या अन्नप्राशनादिका, पूर्वार्त्तु वापीकूपतडागादयः,
 तेष्वपि कर्त्तव्येषु तत्तत्कर्माणः प्रागेव अन्वएष्यवत् पित्रर्चनं कर्त्तव्य मिति ।
 विशेषतस्तु तेषु 'युग्मान्' ब्राह्मणान् 'आशयेत्' इह तु 'अयुग्मान्-इत्युक्तम्
 (म० ४ सं० २ सू० २१) किञ्च इहोपचारे 'प्रचय्यम्' इत्युक्तम् (म० ४ सं० २ सू० २१)
 वृद्ध्यादिषु तु 'प्रदक्षिणम्' यथा स्यात् तथा 'उपचारः' कर्त्तव्यः इति । ३४, ३५
 अथ तेषु द्रव्यातिदेश उच्यते । तिलैः यः अर्घः प्रयोजनं भयेत्, यद्यैः अपि स
 एवार्घः चिह्नेदिति । ३६ ॥३॥

इतिशास्त्रेदीयेगोभिलग्रन्थसूत्रेषुपुर्णप्रपाठके दृष्टीयत्तव्यस्यानं समाप्तम् ॥३॥

भा०:—उन सब पिण्डों को जल में फेंक देवे, या उसी अग्नि में डाले या किसी भूरे ब्राह्मण को भोजन करावे, या किसी गौ को खिलावे । वृद्धि * और पूर्ण**के उपलक्षमें पितृलोक की अर्चना समय भी पूर्वोक्त अनुष्ठान सब करना चाहिये । विशेषतः—अन्वष्टका कार्यमें अयुग्म(१,३,५आदि)ब्राह्मण की व्यवस्था है, यहां जोड़ा (२, ४ आदि) ब्राह्मण भोजन करावे एवं अन्वष्टका कार्य में वामावर्त्त में चक्र पाक करने का नियम है, यहां दक्षिणा वर्त्त में चक्र पाक करे ३५३५ तिल से जो २ कार्य कहे गये हैं, यव से भी वह २ कार्य होंगे ॥ ३६ ॥ गोभिलगृह्यमूत्र के चतुर्थप्रपाठक के तृतीयखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥३६॥



अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः ॥ १ ॥

'पिण्डपितृयज्ञः' पिण्डं शरीरं, भक्ष्यभूतं तदुपलक्ष्य यत् पितृपुरुषस्यार्चनम्, तदेव कर्म पिण्डपितृयज्ञइत्युच्यते । स च यज्ञो ऽनेनैव पुरस्तादुक्तेन अन्वष्टक्यविहितेन स्थालीपाकेनेव 'व्याख्यातम्' । तत्र स्थालीपाकनियमो यथा विहितः, अत्रापि तद्येवत्यतिदेशः । १ ।

भा०:—अन्वष्टका कार्य में स्थाली पाक की जो व्यवस्था कियी है, पिण्ड पितृ यज्ञ में भी उसी प्रकार जानना ॥ १ ॥

अमावास्यायां तच्छ्राद्धम् ॥२॥ इतरदन्वाहार्यं मासीनम् ।
३। दक्षिणाग्नौ हविषः सथ्स्र्करणं ततश्चैवातिप्रणयः ४, ५॥

'तत्' पिण्डपितृयज्ञं कर्म 'श्राद्धम्'—इत्याचक्षते, 'अमावास्यायाम्' पित्रादि-मरणानन्तरं प्रथमाया मेव वर्षमभ्ये यस्यां कस्याश्चिद्वा कर्त्तव्यम् । २ । 'इतरत्' अपरं नपि श्राद्धम्, 'मासीनम्' मासि मासि क्रमेण संवत्सरं यावत् 'अन्वाहार्यम्' प्रथमं मनु प्रथमं सिव व्यवहार्यम् । ३ । आहिताग्नेरिति ॥ ४, ५ ॥

भा०:—उस पिण्ड पितृयज्ञ-श्राद्ध को पिता आदि के वियोग होने पर, प्रथम अमावास्या को करे, ॥२॥न हीने से वर्षकी जिसकिसी अमावास्या को कटे, अपर ११ अमावास्या को भी ११ श्राद्ध इसी प्रकार करे ३। आहिताग्नि यजमान-गण, इस श्राद्ध के हवि को, दक्षिणाग्नि में संस्फुट करें और उसी में पूर्वोक्त अति प्रणय करें ॥ ४, ५ ॥

शालाग्नावनाहिताग्नेः ॥ ६ ॥ एका कर्पूः ॥ ७ ॥ तस्या दक्षिणतोऽग्नेः स्थानम् ॥ ८ ॥

अनाहिताग्नेः 'शालाग्नी' गृह्याग्नी एव । ६ । नान्ववष्टक्यवत् कर्पूत्रय-
मिति भावः । ७ । 'तस्याः' कर्षाः । नान्ववष्टक्यवत् पूर्वत इति भावः ॥ ८ ॥

भा०—अनाहिताग्नि के गृह्यअग्नि में वह सम्पन्न होगा । ६। इस स्थान में
अन्वष्टका कार्यकी नाईं तीन कर्पू न होंगे, ७। अथ एक ही कर्पू होगा उस कर्पू
के दक्षिण ओर में अग्निस्थान होगा; अन्वष्टका की नाईं कर्पूके पूर्व भागमें होगा । ८।

नात्रोल्मुकनिधानं न स्वस्तरो नाञ्जनाभ्यञ्जने न सुरभि
न निह्वन मुदपात्रान्तो वासस्तु निदध्यात् । ९-१५ ॥

'अत्र' पिण्डपितृयज्ञे अन्वष्टक्यवत् 'उल्मुकनिधानं' 'स्वस्तरः', 'अञ्जनाभ्य-
ञ्जने', 'सुरभि' 'निह्वनं' च 'न' भवति, ततश्च 'उदपात्रान्तः' एवासी यज्ञः,
'तु' अपि अत्र 'वासः निदध्यात्' न अन्वष्टक्यवत् दशासूत्रमिति समाप्त
प्रासङ्गिकी कथा । ९-१५

भा०—इस पिण्ड पितृ-यज्ञ में अन्वष्टका कार्य की नाईं "उल्मुक निधान,"
"स्वस्तर," "अञ्जनाभ्यञ्जने," "सुरभिदान," और "निह्वन" न करे अत्र यह
उदपात्रान्त ही समाप्त होगा, एवं इस में पिण्ड पर अन्वष्टका कार्य की नाईं
सूत न देकर बस डाले ॥ ९-१५ ॥

माघ्या ऊर्ध्वं मष्टम्यां स्थालीपाकः ॥ १६ ॥

माघनासीयपौरोनास्याः परस्तात् कृष्णाष्टम्यां तृतीयाष्टका शाकाष्टकास्या
कर्त्तव्या, तत्र स्थालीपाकः पूर्ववत् पक्तव्यः ॥ १६ ॥

भा०—माघी पूर्णिमा के पीछे कृष्णाष्टमी, । तिथिको "शाकाष्टका" नामक
तृतीय अष्टका करने और उस में भी पूर्ववत् स्थालीपाक करना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्य जुहुयादष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थालीपाकावृ-
तान्यच्छाकं व्यञ्जन मन्वाहार्यम् ॥ १७-२० ॥

नवं पूर्ववत्, विशेषतस्त्विह 'शाक' नाम 'द्वयञ्ज' भोजनोपकरणम् 'अन्वा-
हार्यम्' भवेदिति शाकाष्टका ॥ १७-२० ॥

भा०—उस स्थालीपाक का कुछ अंश "अष्टकायै स्वाहा" मन्त्र से होमकरे;
और अन्यान्य कार्य भी स्थाली पाक की नाईं होंगे । विशेषत इत में शाक
व्यञ्जन खाना चाहिये ॥ १७-२० ॥

अथ पितृदेवत्येषु पशुषु वह वपां जातवेदः पितृभ्य-
इति वपां जुहुयाद्देवदेवत्येषु जातवेदो वपयागच्छ देवानि-

त्यनाज्ञातेषु तथादेशं यथाष्टकायै स्वाहेति जुहोति स्थाली-
पाकावृतान्यत् ॥ २१-२४ ॥

'अथ' अष्टकाविधानसमनन्तरम् । सर्वत्रैव 'पितृदेवत्येषु पशुषु' "वह वपां
जातवेदः पितृभ्यो यत्रैन्वेत्य निहितान् पराचः । मेदमः कुत्सा अभितान्त् स्त्रवन्तु
सत्या एषा माश्रिषः सन्तु कामात्" (स्वाहा) ॥ १८ ॥ (म० ब्रा० २, ३, १८)
इति मन्त्रेण,—'देवदेवत्येषु' पशुषु "जातवेदो वपया गच्छ देवाश्चस्त्वश्चिहि होता
प्रथमो यभूय । सत्या वपा प्रग्रहीता मे अस्तु समृध्यतां मे यदिदं करोमि" १९॥
(म० ब्रा० २, ३, १९) इति मन्त्रेण,—'अनाज्ञातेषु' यत्र सन्नप्यमानपशौ देवता
'आ' सम्पक् न ज्ञाता, तादृशेषु, सन्दिग्धदेवत्येषु बहुदेवत्येषु वा पशुषु 'तथा-
देशं' तत्र तत्रव यथा विहितं तथा विहितानुरूपेणैव मन्त्रेण 'वपां जुहुयात्' ।
अनाज्ञातेषु मन्त्रप्रयोगदृष्टान्तं दर्शयति—'यथा' "अष्टकायै स्वाहा"—'इति' म-
न्त्रेण 'जुहोति' 'अष्टकाकर्मणि' अष्टकापशोश्च बहुदेवतात्यात् विवदमानदेवता-
त्याद्वा अनाज्ञातदेवदेवत्यत्वम् । वपाहोमे 'अन्यत्' सर्व 'स्थालीपाकावृता'
स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम् ॥ २१-२४ ॥

भा०—जिस स्थान में पितृगण के निमित्त पशु हनन करे, उस स्थान में
"वह वपा" इस मन्त्र से वपाहोम करे । जिस किसी स्थान में किन्हीं देवता
के निमित्त पशुहनन करे, वहां "जात वेदो वपया" इस मन्त्र से वपा होम
करे । जहां कर्त्तव्य कार्य के देवता निश्चय में सन्देह हो (कि यहां कौन देवता
होनी चाहिये) ऐसे स्थान के लिये विशेष मन्त्र कहा जाता है । ऐसे स्थानों
में जो मन्त्र कहा जावे उसी मन्त्र से वपा होम करे । जिस प्रकार अष्टका
कार्य में "अष्टकायै स्वाहा" यही मन्त्र वपा होम में व्यवहृत होगा । अन्यान्य
सब कार्य स्थाली-पाक के नियम से होंगे ॥ २१-२४ ॥

ऋषे प्रज्ञायमाने गोलकानां मध्यमपर्णेन जुहुयाद्यत्कु-
सीद मिति । २५ । अथातो हलाभियोगः ॥ २६ ॥

'ऋषे प्रज्ञायमाने' स्वल्प मृणम्, ऋण मिति न ज्ञातं भवति, तदन्यत्र,
यह्यृषे जाते इति यावत् । 'गोलकानां' पलाशाना (?) 'मध्यमपर्णेन' "यत्
कुसीद सप्रदत्तं भयेहयेन यमस्य निधिना चराणि । इदं तदग्ने अन्नृणो भवामि
जीवन्नेव प्रतिदत्ते ददानि" ॥२०॥ (म० ब्रा० २, ३, १९) 'इति' मन्त्रेण जुहुयात्' २५
'अथ' अनन्तरम् । 'अतः' आरम्भ 'हलाभियोगः' हलप्रयोग उपदिश्यते इतिशेषः २६

भा०—जब यह जाने कि ऋण (कर्ज) बहुत ही गया, तो "यत् कुसीदम्"

इस मन्त्र का पाठ करके ऋषि संख्यानुसार (जितना कर्ज हो) मध्यम गोलक पत्र होमकरे ॥२५॥ अब इसके आगे हलप्रयोग का विधि कहा जाता है ॥ २६ ॥

पुण्येनक्षत्रे स्थालीपाकश्चाप्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयादिन्द्राय मरुद्भ्यः पर्जन्यायाशन्यै भगाय । २७ । सीतामाशामरडामनघाञ्च यजेत ॥ २८ ॥

स्पष्टम् । २७ । सीतादीनि चत्वारि कृपियन्त्राणि च पूजयेत् ॥ २८ ॥

भा०-पुण्य नक्षत्र में अर्थात् खेती के लिये उपयुक्त काल में कृषि कार्य में प्रवृत्त होकर पहिले स्थालीपाक कर वक्ष्यमाण देवता आदि को आहुति देवे; "इन्द्राय स्वाहा" मन्त्र से देवराट् इन्द्र को, * 'मरुद्भ्यः स्वाहा,' मन्त्र से मरुद् गण ** को, 'पर्जन्याय स्वाहा' मन्त्र से पर्जन्य देव को *** अशन्ये स्वाहा' मन्त्रसे अशनि देवता को****और 'भगाय स्वाहा' मन्त्रसे, भग देवता को ॥२७॥ सीता, * (हल का फाला) आशा, अरडा, अनघाकी पूजा करे २८****

एता एव देवताः सीतायज्ञखलयज्ञप्रवपणप्रलवनपर्य्य यणेपु । २९ । आसुराजञ्जीत्करेपु यजेत ॥ ३० ॥

यदा 'सीतायज्ञः' सीतायाः लाङ्गलपट्टतेद्यालनम्, 'खलयज्ञः' खले शस्यादीनां महुंनम्, 'प्रवपणम्' शस्यबीजानाम्, 'प्रलवनम्' पकानां शस्यानां छेदनम्, 'पर्ययणम्' तृणवियुक्तधान्यादिशस्यानां गृहानयनम् ; अत्र सर्वत्रैव 'एताः' पूर्वोक्ताः इन्द्रादयः 'एव' 'देवताः' स्मर्त्तव्याः । २९ । 'उत्करेपु' सूयिकास्थानेषु 'आसुराजञ्च' 'यजेत' तत्खाद्य दानेन सोपयेत् ॥ ३० ॥

भा०-जिस समय हल चलावे, जिस समय खलिहान में दौनी करे, जिस समय रेत में बीज बोये, जिस समय पके शस्य (गन्ना) काटे जावें, एवं जिस समय प्रस्तुत (तैयार) अनाज घर में लावे; इन समयों में पूर्वोक्त इन्द्रादि देवता को स्मरण करे ॥२९॥ पीछे शस्य आदि घर में रखने पर चहे के घिल में भी भूस की तुष्टि के लिये कुछ अनाज देवे ॥ ३० ॥

* जो वृष (मेष) के साथ युद्ध करे, बहुत बज्र फेंके, उस अगुर के (बलवान् जलधार के) शरीर को सट्टर करने एवं राधा (सब कर्नो का) पति, जिन के प्रभाव से सब क्रिया निवृत्त होती है (पेरवरीय वन विरोध)

** जो देवगण वृषासुर के साथ युद्ध काल में इन्द्र की सहायता करने हैं और चौधे वृष देह की सट्ट २ होने पर वह पृथिवी पर सब के साथ गिराने हैं (बायु मरुद्) ॥

*** जो वेद में वृषासुर नाम से परिचित हैं (मेष) ॥

**** बज्र—। बज्रुत्त. मेषाभिनयन मात्र धी अशनि कहते, जिस के प्रकाशमान ज्योति की विद्युत्, कहते हैं ॥

***** भग शब्द ऐश्वर्य वाचक और कृषि ही राव प्रसार के ऐश्वर्य की जड़ है अतएव जिस देवता के अनुग्रह से कृषि सुख्य हो, उ हां का भग, देना करने (मर्त्य) ॥

• आना प्रभूत चार ही दौनी के मन्त्र दंत हैं ।

[प्र० सं० ४ सू० २७-३३, सं० ५ सू० १-५] यपाण्योर्होमोहलाभियोगश्च । १८३

इन्द्राण्याः स्थालीपाकस्तस्य जुहुयादेकाष्टका तपसा
तप्यमानेति ॥ ३१, ३२ ॥ स्थालीपाकावृतान्यत् स्थालीपा-
कावृतान्यत् । ३३ ॥ ४ ॥

इन्द्राणीदेवतातोपणाय 'स्थालीपाकः' पक्तव्यः । पक्तस्य च 'तस्य' स्था-
लीपाकस्य अग्रं गृहीत्या "एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमान
मिन्द्रम् । तेन देवा असहन्त शत्रून् हन्ता सुराणां नभयच्छचीभिः" ॥ २१ ॥
(स० ब्रा० २, ३, २१)—'इति' मन्त्रेण जुहुयात्" । ३१, ३२ । 'अन्यत्' सर्वं यद्-
अनुपदिष्टं ततः, 'स्थालीपाकावृता' स्थालीपाकरीत्यैव कार्यम्, न तत्र कश्चि-
दपि विशेष इति भावः । द्विरुक्तं खण्डसमाप्तिमूचक मिति हलाभियोगः ॥३३॥४॥
इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके तृतीयखण्डस्य व्याख्यानसमाप्तम् ॥४॥

भा०—अनन्तर इन्द्राणी * देवता के परितोष के लिये स्थालीपाक करे और
परिपक्व स्थालीपाक में से घोड़ा लेकर " एकाष्टका तपसा"—मन्त्र से आहुति
देवे ॥३१॥३॥ अन्यान्य सद्य कार्य पूर्वोक्त स्थालीपाक की रीति से सम्पन्न करे ॥३३॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थप्रपाठके चतुर्थखण्डका भाषानुवाद पूरा हुआ ॥ ४, ४ ।

काम्येष्वत ऊर्ध्वम्पूर्वेषु चैके ॥ १, २ ॥

'अत ऊर्ध्वं' यत् किञ्चिद्ब्रह्मण तत्सर्वं नेत्र 'काम्येषु' वेदितव्यम् ।
'एके' प्रधानाः, गोभिलादयः पुनराचार्याः ब्रह्मण मपि किञ्चित् विरूपाक्ष-
जपादिकम् 'पूर्वेषु' नित्यनैमित्तिकेषु 'च' स्वीकुर्वन्ति ॥ १, २ ॥

भा०—इस के पीछे जो कुछ कहा जावेगा, सो सब काम्य ** कर्म विषय
में जानना, प्रधान आचार्य्य गण के मत में ब्रह्मण विरूपाक्ष जप आदि
कई ए-रु कार्य, पूर्वोक्त नित्य नैमित्तिक कार्य में भी व्यवहृत होंगे ॥१,२॥

पश्चादग्नेर्भूमौ न्यञ्चौ पाणी प्रतिष्ठाप्येदम्भूमेर्भजा-
मह इति ॥३॥ वस्वन्तश्चरात्रौ धन मिति दिवा ॥४॥ इमं
स्तोम मिति त्वेन परिसमूहेत् ॥ ५ ॥

* इन्द्र को अर्थात् अन्तर्वन वा सहचारिणी, अर्थात् राची मिया मत्र ॥

** कर्म तीन प्रकार का होता—'नित्य', 'नैमित्तिक', और 'काम्य' । जो करना ही होगा, न करने से पाप
हा उसे 'नित्य', कर्म कहने । जो किसी निमित्त में करना पड़े, न करने से वह निमित्त निर्दोष न होवे, वह
'नैमित्तिक', है । किसी कामना की निम्निके लिये जा किया जाये, उस को 'काम्यकर्म' कहते, काम्यकर्म बरे न
करे कर्ता की इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् काम्य कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता ॥

'अग्नेः पश्चाद्' 'भूमौ' 'पाणी' स्वकीयौ 'न्यक्षौ' आत्माभिमुखौ वक्रौ 'प्रतिष्ठाप्य' "इदं भूमेर्भजामहे इदं भद्रं शुभं सुमङ्गलम् । परा सपत्नान् वाधस्वान्येषां विन्दते वसु ॥ (अन्येषां विन्दते धनम्)" ॥ १ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १) 'इति' मन्त्रं जपेदिति भूमिजपः । ३। 'रात्रौ' भूमिजपं चेत् 'वस्वन्तं' वसुपदान्तं मन्त्रं जपेत् 'दिवा' अहनि चेत् 'धनम्'—इत्यन्तं जपेदित्येव ॥ ४ ॥ "कृत्वाग्न्यभिमुखौ; हस्तौ स्वस्थानस्थौ सुसंहितौ । प्रदक्षिणं तथासीनः क्षुर्यात् परिसमूहनम्"—इति कर्मप्रदीपः । तिसृणां सूचां समाहारः तृचः तेन । एष च तृचः ३० आ० ४, १, १, १-२-३ । "इमं स्तोमं सहेते जातवेदसे रथमिव सम्महेना मनीषया । मद्रा हि नः प्रमतिरस्य सत्सद्यग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव ॥ २ ॥ भ्रामेधम कृणवामा हवींश्चि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम् । जीवातवे प्रतरात्साधय धियोऽग्ने सख्ये मारिषामा वय तव ॥ ३ ॥ शक्रेम त्वा समिधत्सां साधया धियस्त्वे देवा हविरदयन्त्या हुतम् । त्वमादित्यात् आवह तात्सं सस्यग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव" ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ४, २-४) ५

भा०—अग्नि के पश्चिम भाग में, अपना दोनों हाथ, अपने सम्मुख वक्र-भाव से रक्के "इदं भूमेर्भजामहे" यह मन्त्र जप करे । इसी की 'भूमिजप' कहते ॥ ३ ॥ रात्रि काल में इस मन्त्र के अन्त में 'वसु' इस पद का प्रयोग करे और दिन में, प्रयोग काल में उस के अन्त्यपद 'धनम्' पढ़े ॥ ४ ॥ "इमं स्तोमं" प्रभृति तीन मन्त्रों से परिसमूहन करे (ये तीनों मन्त्र ३० आ० ४, १, १, १-२-३, और म० ब्रा० के २ । ४ । २-४ मन्त्र हैं) ॥ ५ ॥

वैरूपाक्षः पुरस्ताद्धोमानाङ्गाम्येषु च प्रपदस्तपश्चतेजश्चेति ६

नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वत्रैव 'होमानां' 'पुरस्तात्' वैरूपाक्षः "विरूपाक्षोऽसि दन्ताङ्घ्रिस्तस्य ते शय्यापर्णो गृहा अन्तरिक्षे धिमितं हिरण्यं तद्देवानात् हृदयान्ययस्मये कुम्भे अन्तः सन्निहितानि तानि यत्नमृच्च यत्नसाच्च रक्षतोऽग्रमनी अनिमिपतः सत्यं यत्ते द्वादश पुत्रास्ते त्वा सम्घत्सरे सम्घत्सरे कामप्रेण यज्ञेन याजयित्वा पुनर्ब्रह्मचर्यमुपयन्ति त्व देवेषु ब्राह्मणो ऽप्यहं अनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मण मुपधावत्युप त्वा धायामि जपन्तं नामा प्रतिजापी जुंहुन्तं नामा प्रतिहीपीः कुर्वन्तं नामाप्रतिकार्यैस्त्वां प्रपद्ये त्वया प्रभूत इदं कर्म करिष्यामि तन्मे राध्यतां तन्मे समृध्यतां तन्म उपपद्यतां स मुद्रो मा विश्वश्रधा ब्रह्मानुजानात् तुषो मा विश्वयेदा ब्रह्मणः पुत्रोऽनुजानात् श्वाप्नो मा प्रथेता मैत्रावरुणो ऽनुजानात् तस्मै विरूपाक्षाय दत्ताङ्घ्रये समुद्राय

[प्र० ४ खं० ५ सू० ६-१२] होमपूर्वकृत्यानि भोजननियमश्च ॥ १८९

विश्वव्यघसे तुषाय विश्ववेदसे श्वात्राय प्रचेतसे सहस्राक्षाय ब्रह्मणः पुत्राय नमः" ॥६॥ (म०ब्रा० २, ४, ५)-इति मन्त्रः पठितव्यः । 'काम्येषु' कर्मसु 'प्रपदश्च' "तपश्च तेजश्च श्रद्धा च हीश्च सत्यञ्चाक्रोधश्च त्यागश्च धृतिश्च धर्मश्च सत्यञ्च वाक्च मनश्चात्मा च ब्रह्म च तानि प्रपद्ये तानि मा मवन्तु भू भुवः स्वरोम्म-हान्त मात्मनः प्रपद्ये" ॥५॥ (म०ब्रा० २, ४, ५)-इति प्रपदमन्त्रोऽपि पठितव्यः । ६, ७॥

भा०-नित्य, नैमित्तिक और काम्य, इन तीन प्रकार के कर्मों में जो कोई होम हो, होम के पहिले " वैरूपाक्षोसि" यह मन्त्र पढ़े । सब काम्य कर्मों में "तपश्च" मन्त्र का भी पाठ करे ॥ ६ । ७ ॥

जपित्वा प्राणायाम मायम्यार्थमना वैरूपाक्ष मारभ्योच्छ्वसेत्

काम्येषु प्रपदवैरूपाक्षयोक्तमयोरेव जपो विहितः । तत्र प्रपदजपानन्तरं प्राणायामः कर्तव्यः । "पूरककुम्भकरेचकारस्यः प्राणायामः"-इति सन्ध्यासूत्रोक्त एवात्र ग्राह्यः । तत्र पूरककुम्भकयोः प्रपदमन्त्रार्थमननं कर्तव्यम्, रेचकारम्भत एव वैरूपाक्षमन्त्रं जपदिति । ८ । अथ भोजननियमः ।-

भा०-काम्य कर्मों में 'प्रपद' मन्त्र और 'वैरूपाक्ष' मन्त्र दोनों ही के पाठ करने की व्यवस्था है, उन में प्रपद मन्त्र पढ़ कर प्राणायाम आरम्भ करे एवं उस प्राणायाम काल में 'पूरक' और 'कुम्भक' प्रपद मन्त्र के अर्थ का विचार कर 'रेचक' प्रणायामानुसार वैरूपाक्ष मन्त्र जप करे ॥८॥

काम्येषु तिरात्राभोजनं त्रीणि वा भक्तानि । ९, १० ।

'काम्येषु' कर्मसु कर्तव्येषु 'तिरात्राभोजनं' कर्मारम्भदिवसस्याव्यवहितेषु पूर्वेषु त्रिषु दिवसेषु त्रिषु भोजनं माध्याह्निकं नैशं च न कर्तव्यम् । 'वा' असमर्थत्वे तेषु दिवसेषु 'त्रीणि' एव 'भक्तानि' भोजनानि कर्तव्यानि तथा च तेषु दिवसेषु माध्यन्दिनं त्रैशं वा एकैकमेव भोक्तव्यम् ; न तु यथानियमं वारद्वयम् ॥९, १०॥

भा०-काम्य कर्म करने के पूर्व दिन, तीन मध्याह्न और दो रात्रि का भोजन छोड़ देवे, यदि एक साथ दोनों भोजन न छोड़ सके तो कम से कम, एक भोजन छोड़ देवे । अर्थात् दिनरात में केवल एक वारभोजन करे ॥९॥१०॥

नित्यप्रयुक्तानान्तु प्रथमप्रयोगेषु । ११ । उपोष्य तु य-
जनीयप्रयोगेषु ॥ १२ ॥

कश्चित् काम नभिलक्ष्य यत् कर्म द्विवार मनेकवारं वा क्रियते, तदेव नित्यप्रयुक्त नित्युच्यते ; तादृशान्तु कर्मणां 'प्रथमप्रयोगेषु' एव पूर्वोक्तो भोजननियमः कर्तव्यः, न तु द्वितीयादिषु ॥ ११ ॥ यानि कर्माणि बहुदिनं

याद्यत् प्रतिदिनं यजनीयतया प्रयुज्यन्ते, तादृशेषु 'यजनीयप्रयोगेषु तु' 'उपोष्य' प्रातराशादिकं सत्पाहारं मेव कृत्वा तत्तद्यजनं विधेयम् ॥ १२ ॥

भा०—जो कर्म, किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक बार करना पड़े, ऐसे कार्य में एक ही बार, प्रथम बार, पूर्वोक्त पहिला तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन व्यवस्था अर्थात् प्रतिवार कार्य आरम्भ के पूर्व तीन दिन भोजन न करे, या एक भोजन न करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो सब कर्म कई एक दिन वा बहुत समय में समाप्त हो, ऐसे सब कर्मों में प्रतिदिन प्रातराशादि षोडश * खा कर प्रवृत्त हो ॥ १२ ॥

- - उपरिष्टाद् दैक्ष्यसान्निपातिकम् ॥ १३ ॥

'सान्निपातिकं' नैमित्तिकं कर्म, 'उपरिष्टाद्दैक्ष्यं' निमित्त घटनात् पर मेव तस्य दीक्षा इति वेदितव्यं मिति भोजननियमः ॥ १३ ॥ अथ ब्रह्मवर्चसकामकर्म-

भा०—निमित्त घटना के पीछे नैमित्तिक कर्म समूह की दीक्षा कर्त्तव्य है, वही वेसे कार्यों के लिये निर्दिष्ट काल है, उस के पूर्व अभोजन, (नहीं खाना) या एक भोजन, या 'उपवास, यथासम्भव व्यवस्थित होंगे ॥ १३ ॥

अरण्ये प्रपदं प्रयुञ्जीत दर्भेण्वासीनः प्राक्कूलेषु ब्रह्मवर्चसकामः । १४ । उदक्कूलेषु पुत्रपशुकामः ॥ १५ ॥

यः कथं 'ब्रह्मवर्चसकामः' स्यात् स एव 'अरण्ये' गत्वा 'प्राक्कूलेषु' दर्भेषु 'आसीनः' मन् 'प्रपदं' (तपश्च पृ० १८९)—इति मन्त्रं 'प्रयुञ्जीत' । १४ । यः कथं पुत्रकामः पशुकामो वा स्यात्, स खलु अरण्ये गत्वा 'उदक्कूलेषु' दर्भेषु आसीनः त मेव प्रपदमन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥ १५ ॥ अथ ब्रह्मवर्चस-पुत्रपशुकामकर्म ।

भा०—जो कोई 'ब्रह्मवर्चस' की इच्छा करे, वह वन में जा कर पूर्वाप रवत्ते हुए कुण पर बैठ कर 'प्रपद' मन्त्र द्वारा पठित मन्त्रों से साधना करे ॥ १४ ॥ और जो कोई पुत्र, या पशु की इच्छा करे, वह वन में जा कर उत्तराप कुण पर बैठ कर इस "प्रपद" मन्त्र से साधना करे ॥ १५ ॥

उभयेषूभयकामः । १६ । पशुस्वस्त्ययनकामो व्रीहियवहीमं प्रयुञ्जीत सहस्रवाहुर्गोपत्य इति ॥ १७ ॥

'उभयकामः' प्रथममूत्रोपात्तं ब्रह्मवर्चसं द्वितीयमूत्रोपात्तं पुत्रं पशुं च यः कामयेत, स रतु अरण्ये गत्वा युगपत् 'उभयेषु' प्राक्कूलेषु, तदुपरि पातितेषु

* प्रातः समाप्त में प्रातराशा, करि वेदे खाने की व्यवस्था, पहले वे, इतनी उपवास, उपरि से एक बार पूजा का भा ॥

[प्र० ४ खं० ५ मू० १३-२३] ब्रह्मवर्चसादिकाम्यकर्मणि ॥ १९१

उदक्कूलेषु च दर्भेषु आसीनः, त मेव प्रपदं नाम मन्त्रं प्रयुञ्जीत ॥१६॥ पशूनां गृहपालितामां गवादीनां स्वस्त्ययनं कानयेत चेत् "सहस्रबाहु गौपत्यः स पशूनभिरक्षतु । मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु मयि प्रजां प्रजापतिः" (स्याहा) ॥ ७५ ॥ (न० ब्रा० २, ४, ७)—'इति' मन्त्रेण 'व्रीहियवहोमं' व्रीहिणा यवेन च आहुतिमग्नौ 'प्रयुञ्जीत' ॥ १७ ॥

भा०—प्रथम सूत्रोक्त 'ब्रह्मवर्चस' एवं द्वितीय सूत्रोक्त पुत्र और पशु, इन दो की जो कामना करे, वह वन में जा कर, पूर्वोक्त कुश चिखा कर उस पर उत्तराय कुश रखे, उस पर बैठ 'प्रपद' मन्त्र से साधना करे ॥ १६ ॥ जो पालतू गौ भेड़आदि की भलाई चाहे, वह "सहस्र बाहुः" मन्त्र से धान्य और यव का होम करे ॥ १७ ॥

कौतोमतेन महावृक्षफलानि परिजप्य प्रयच्छेद्यस्यात्मनि प्रसाद मिच्छेत्तस्मा एकभूयात्स्य्यात्मनायुग्मानि कुर्यात् ॥ १८, १९ ॥ वृक्ष इवेति पञ्चर्चः ॥ २० ॥

अथ प्रसादकामकर्म ।—'यस्य' कस्य चिज्जनस्य पुरुषस्य स्त्रिया वा 'प्रसादम्' प्रसन्नताम् 'इच्छेत्', 'तस्मै' "कौतोमतथं संवननथं सुभागं फरणं मम नाकुली नाम ते मातायाहं पुरुषानयः । यज्ञौ कामस्य विच्छिन्नं तवी सन्धे ह्योपधे" ॥ ८ ॥ (न० ब्रा० २, ४, ८) महावृक्षफलानि गुवाकानि आत्राणि वा 'परिजप्य' 'प्रयच्छेत्' । तानि च फलानि 'एकभूयांसि' एकस्मिन्नेव गुच्छे वृष्टिनि विद्यन्ते चेत्, तर्हि 'दानात् पूर्वमेव 'आत्मनः' आत्मना स्वयमेव 'अयुग्मानि' विच्छिन्नानि 'कुर्यात्' ॥ १८, १९ ॥ अथ पार्थिवं कर्म ।—(न० ब्रा० २, ४, ९-१३) अधिकृतो वेदितव्यः ॥ २० ॥

भा०—जिस किसी व्यक्ति की प्रसन्नता लाभ करने की इच्छा हो, तो उस व्यक्ति को "कौतोम" मन्त्र से पठित कई एक * महावृक्षफल प्रदान करे, इन फलों को गुच्छा से स्वयं एक २ कर तोड़ लेवे ॥ १८, १९ ॥ "वृक्ष इव" इत्यादि पांच मन्त्र हैं, उन का व्यवहार, यथाक्रम से कहा जाता है ॥ २० ॥

तस्मिन् प्रथमं पार्थिवं कर्म ॥ २१ ॥ अर्द्धमास मभुक्त्वा ऽशक्तौ वा पेया मन्यतरं कालम् ॥ २२, २३ ॥

'तस्मिन्' अधिकृते पञ्चर्चे, तेनैव पञ्चर्चेन समुदितेन 'प्रथमम्' एकं 'कर्म'

* इस में महावृक्ष फल शब्द से यहा 'आम्र' और गुवाक (झपारी) इत्यादि जानना ॥

‘पार्थिवं’ क्षेत्राद्यर्थं कुर्यादिति । २१। तच्च पार्थिवं कर्म ‘अर्द्धमास मभुक्त्वा’ एव कार्यम् । अभोजनेऽसमर्थयेत् ‘अन्यतरं कालं’ दिवा रात्रौ वा एकवार मेव ‘पेयां’ मण्ड-दुग्धादिकं पिबेदिति ॥ २२, २३ ॥

भा०-उन्हीं पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म अर्थात् खेत आदि की उत्तर्वरता (खेत को ऐसा करे कि जिस से उस में सब प्रकार के शस्य अच्छेप्रकार उत्पन्न हों) आदि सिद्धि के लिये एक क्रियाका अनुष्ठान किया जाता है ॥ २१ ॥ यह पार्थिव कर्म, अर्द्धमास पर्यन्त अभोजन रह कर करे, यदि बिना खाये न रहा जावे, तो एक सप्तकेवल पेय (दुग्ध, आदि) पानकरे २२, २३

यत्रात्मानं परिपश्येत् ॥२४॥ एतद्ब्रत मर्द्धमासव्रतेषु ॥२५॥

‘यत्र’ पेयायाम् ‘आत्मानं’ आत्मच्छायां दर्पणादाविव ‘परिपश्येत्’ तादृशीमेव तरलां पेयां पिबेदिति ॥२४॥ ‘एतत्’ पार्थिवं कर्म ‘व्रतम्’ उच्यते, तच्च ‘अर्द्धमासव्रतेषु’ गण्यते । तथाच शुक्लप्रतिपद्यस्यारम्भः पौर्णमास्यां च समाप्तिः सिद्धा २५

भा०-जिस ‘पेय’ वस्तु में अपना मुंह दीख पड़े, इसप्रकार तरलवस्तु पीवे ॥ २४ ॥ यह पार्थिवकर्म एक व्रत विशेष है, यह अर्द्धमास व्रतों में गणनीय है । इस से यह व्रत शुक्ल पक्ष की परिवा से आरम्भ कर पूर्णिमाको पूराकरे २५

पौर्णमास्यां रात्रावविदासिनि हृदे नाभिमात्र मवगाह्याक्षततण्डुलानृगन्तेष्व्वास्थेन जुहुयात् स्वाहेत्युदके ॥२६॥

‘पौर्णमास्यां रात्रौ’ ‘अवदासिनि’ हृदे’ निदाघेऽपि यस्य विदासः शोषो न, तादृशे जलाशये ‘नाभिमात्र मवगाह्य’ ‘अक्षततण्डुलान्’ आस्ये कृत्वा तेनैव ‘आस्थेन’ अधिकृतानां पद्धानामेकैकेनघां ‘उदके’ तत्रैव ‘जुहुयात्’; ‘अगन्तेषु’ तासां पद्धाना मृधा मन्तेषु च ‘स्याहा-इति’ ब्रूयादिति पार्थिवं कर्म ॥ २६ ॥ अथ भोगादिकामक्रमाणि ।—

भा०-पूर्णिमा की रात में अविदासी जलाशय में (जिस का जल पीठम श्रुत में भी न सूखे) नाभि मात्र जलमें पीठ, स्नान कर, मुंहमें अक्षत तण्डुल ले कर उन्हीं पांच मन्त्रों से, उमी जल में एक २ कर पांच आहुनि देवे एवं इन पांच मन्त्रों में से, प्रत्येक के अन्त में “स्याहा” शब्द का भी प्रयोग करता जाये २६

अथापरम् ॥२७॥ प्रथमयाऽऽदित्य सुपतिष्ठेत भोगकामोऽर्थपतिचक्षुर्विपये सिद्धत्यर्थः ॥२८॥

पद्धाना अधिकृताना मृधां समुदितानां व्यवहारेण प्रथमं कर्म पार्थिवं नाम २७, २८; ‘अथ’ अनन्तरम्, तामामेवघां समुदितानां व्यवहारेण ‘अपरम्’

[प्र० ४ खं० ५ मू० २४-३१] पार्थिवं कर्म भोगादिकामकर्मणि च ॥ १८३

द्वितीयं कर्म आदित्योपस्थानादिकं वक्ष्यते इति ॥ २७ ॥ 'भोगकामः' पुरुषः, 'प्रथमया' "वृत्त इव पङ्क्तिष्ठसि सर्वान् कामान् भुञ्ज्यते । यत्त्वेवं वेद तस्मै मे भोगान् धुश्रांसतान् वृहन्" ॥६॥ (म० ब्रा० २, ४, ९)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपतिष्ठेत' । क्वीपतिष्ठेत ? इत्याह,—'अर्थपतिच्छुधियये' यतोऽर्थपतेः अर्थं कामयते, तस्यैव चक्षुर्गोचरे प्रदेगे । तथाच 'अर्थः' प्रयोजनं 'सिद्धयति' ॥२८॥

भा०:-उक्त पांच मन्त्रों द्वारा पहिले पार्थिव कर्म कहा गया है, अथ चन्हीं पांच में से प्रत्येक के व्यवहार में एक २ अथवा कर्म कहा जाता है ॥२७॥ जिस किमी को भोग की इच्छा हो, यह "वृत्त इव" मन्त्र से सूर्योपस्थान करे। जिस स्थान में उन प्रयोजन के होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थल में यह अनुष्ठान किया जावे, ऐसा ही करने पर वह प्रयोजन सिद्ध होगा ॥ २८ ॥

द्वितीययाऽऽदित्ये परिविष्यमाणेऽक्षततण्डुलान् जुहुयाद् वृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः ॥२९॥

पत्रं वाहनम्, वृहत्पत्र हस्तपश्वादि, 'वृहत्पत्रस्वस्त्ययनकामः' पुरुषः, 'द्वितीयया' "ऋतं सत्ये प्रतिष्ठितं भूतं भविष्यता सह । आकाश उपनिरञ्जतु मच्छामन्न मथोश्रियम्" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ४, १०)-इत्यनयर्चा 'आदित्ये परिविष्यमाणे' 'अक्षत तण्डुलान्' 'जुहुयात्' । "वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः करः । मालाभा व्योम्नि दृश्यन्ते परिवेषस्तु सः स्मृतः" ॥-इति ।

भा०:-हाथी आदि बड़े वाहन के कल्याणार्थ "ऋतं सत्ये" इस द्वितीय मन्त्र से अक्षत तण्डुल हवन करे । जिस समय सूर्य मण्डल में परिवेष उपस्थित हो, उसी समय यह किया जावे ॥ २९ ॥

तृतीयया चन्द्रमसि तिलतण्डुलान् क्षुद्रपशुस्वस्त्ययनकामः ॥३०॥ चतुर्थ्यादित्य मुपस्थायाथान् प्रपद्येत स्वस्त्यर्थवानागच्छति ॥३१॥

क्षुद्रपशवो गोमेपादयः, तत्स्वस्त्ययनकामः पुरुषः, तृतीयया "अभिभागोऽसि सर्वस्मिथं स्तदु सर्वं त्वयिभ्रितम् । तेन सर्वेषां सर्वो मा विवासन विवासय" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ४, ११)-इत्यनयर्चा 'चन्द्रमसि' परिविष्यमाणे एव काल 'तिल तण्डुलान्' जुहुयादित्येव ॥३०॥ 'चतुर्थ्यां' "कोश इव पूरणो वसुना त्वं प्रीतो ददसे । अष्टष्टोष्ट माभर सर्वान् कामान् प्रयच्छ मे" ॥१२॥ (म० ब्रा० २, ४, १२)-इत्यनयर्चा 'आदित्य मुपस्थाया' 'अर्थान्' 'अभिलक्ष्य' 'प्रपद्येत' यात्रां कुर्वीत, तेन सः 'स्वस्त्यर्थवान्' सन् 'आगच्छति' गहानिति ॥३१॥

भा०:—गौ, भेड़ आदि छोटे २ पशुओं के कल्याण चाहने वाले “अभिम-
गोऽसि” इस तृतीय मन्त्र से कई एक तिल तण्डुल होम करे, जिस समय च-
न्द्रमण्डल में परिवेप उपस्थित हो, उसी समय यह कर्म किया जावे ॥ ३० ॥
“कोश इव” इस मन्त्र से सूर्योपस्थान कर प्रयोजन को लक्ष्य कर, यात्रा करने
से प्रयोजन सिद्ध कर निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३१ ॥

पञ्चम्यादित्य मुपस्थाय गृहान् प्रपद्येत स्वस्ति गृहा-
नागच्छति स्वस्तिगृहानागच्छति । ३२ ॥ ५ ॥

‘पञ्चम्या’ “आकाशस्यैव आकाशे यदेतद् भाति मण्डलम् । एवं त्वा वेद यो
वेद वेदेशानेशान् प्रपच्छ मे” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ४, १३)—इत्यनयर्चा ‘आ-
दित्य मुपस्थाय’ ‘गृहान्’ अभिलक्ष्य ‘प्रपद्येत’ यात्रां कुर्वीत, तेन सः प्रवा-
सात् प्रतिचलितः ‘स्वस्ति’ यथा स्यात्तथा ‘आगच्छति’ प्रत्यायाति । द्विवचनं
खण्डसमाप्तिद्योतनार्थम् । ३२ ॥ ५ ॥

इतिसामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठकेपञ्चमखण्डस्यव्याख्यामंसमाप्तम् ॥४५

भा०:—“आकाशस्यैव” इस पञ्चम मन्त्र से सूर्योपस्थान कर अपने घर
को लक्ष्य कर प्रति यात्रा में करने से निर्विघ्न घर वापस आवेगा ॥ ३२ । ५ ॥
गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ अध्याय के पञ्चमखण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥५॥

—○:—*—:○—

भूरित्यनकाममारं नित्यं प्रयुञ्जीत न पापरोगान्नाभि
चाराद्भयम् ॥ १ ॥

भूर्भुवः स्वरोऽं सूर्य इव हृशे भूपास नम्रिरिव तेजसा घायुरिव प्राणेन
सोम इव गन्धेन शृङ्गपतिरिव बुद्ध्याऽश्विनाविव रूपेणोन्द्रांग्री इव बलेन
ब्रह्मभाग एवाहं भूपासं पाप्माभागा मे द्विपन्तः” ॥१४॥ (म०ब्रा० २, ४, १४) ‘इति’
अनकाममारं; इच्छामरणासाधनं मन्त्रं ‘नित्यं’ सतत मेव, प्रतिदिनं वा प्रयुञ्जी
त’ इति ‘न’ ‘पापरोगात्’ कुष्ठादितः, ‘न’ च ‘अभिचारात्, शत्रुकृतात् भयम्’ स्यात् ॥

भा०:—जो लोग बिना कष्ट उचित समय (अपनी पूरी आयु में) मृत्यु
की इच्छा करें। अर्थात् दुःख के साथ अकाल मृत्यु न हो, वे “भूः” इस मन्त्र
को सतत लप करें; इस मन्त्र के प्रभाय से शत्रुकृत मारण आदि से भय नहीं
रहता एवं कुष्ठादि पाप रोग से भी भय नहीं होता ॥ १ ॥

अलक्ष्मीनिर्णोदो यजनीयप्रयोगो मूर्ध्नोऽधिम इत्येकैकया ॥२॥

[प्र०४ खं०५ सू०३२, खं०६ सू०९-६] आत्मदेहरक्षादिकामकर्माणि ॥ १८५

मूर्ध्नोऽधि मे वैश्रवणाञ्छिरसीऽनुप्रवेशिनः । ललाटाद् घस्वरान् घोरांश्च
विघ्नान् विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ १ ॥ ग्रीवाभ्यो मे स्कन्धाभ्यां मे नस्तो
मे ऽनुप्रवेशिनः । मुखान्मे वद्वदान् घोरांश्च विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ २ ॥ वा-
हुभ्यां मे यतो यतः पार्श्वयोरुत्तुतानधि । उरस्तो वद्वदान् घोरांश्च विघ्नान्
विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ ३ ॥ वङ्क्षणाभ्यां मे लोहितादान् योनिहान् पञ्चि-
हानधि । ऊरुभ्यो निश्रिलयो घोरांश्च विघ्नान् विद्वहामि वः (स्वाहा) ॥ ४ ॥
जङ्घाभ्यां मे यतो यतः पाप्यर्योरुत्तु तानधि । पादयो र्धिकारान् विद्वहामि वः
(स्वाहा) ॥ ५ ॥ परिधायं यजामहेऽणु जङ्घथं शत्रुलोदरम् । योनोऽय परिवा-
धते दानाय च भगाय च (स्वाहा) ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १-८) 'इति'
अष्टर्चस्य सूक्तस्य 'एकेकया' ऋचा एकेका आहुतिर्हीतव्या । अथ मेव पूर्वोक्तो
यजनीयप्रयोगः—इत्युच्यते । एतस्यहि कर्मणः प्रभावात् 'अलक्ष्मीनिर्णादः' दा-
रिद्र्यनाशः भवेदिति ॥ २ ॥

भा०—“मूर्ध्नोऽधि मे” इत्यादि मन्त्रों से एक २ आहुति प्रदान करे । यह यजनीय प्रयोग में गणनीय है । इस क्रिया के फल से दरिद्रता दूर होती है ॥२॥

या तिरश्चीति सप्तमी वामदेव्यर्च्यो महाव्याहृतयः प्रजापत इत्युत्तमया ॥३-६॥

इह यजनीयप्रयोगे या 'सप्तमी' आहुतिः, सा मन्त्रपाठक्रमात् “अपेहि
त्वं परिवाध ना विवाध विवाध्रघाः । सुगपन्थानं मे क्षुरु येन सा धन मेष्यति”
(स्वाहा) ॥१॥ (म० ब्रा० २, ५, ७)—इत्यनया प्राप्ता परं न तथाभीष्टा; अपि
तस्याः स्थाने “या तिरश्ची (?)”—इत्येया प्रयोक्तव्या । किञ्च; ततो 'वामदे-
व्यर्च्यः (उ० ब्रा० १, १, १२, १)”—'महाव्याहृतयः', च जप्तव्याः, ततः “प्रजा-
पते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता वभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्त
जो अस्तु वयथंस्याम पतपो रयीणाथं” (स्वाहा) ॥८॥ (म० ब्रा० २, ५, ८)
इत्यनया अष्टम्या ऋचा अष्टमी आहुतिर्हीतव्येति ॥३-६॥ अथ यशस्कामकर्म ।

भा०—इस यजनीय प्रयोग में जो आठ आहुति होगी, उनमें सप्तम मन्त्र से सप्तम आहुति न दे कर “या तिरश्ची” इस मन्त्र से सप्तम आहुति होगी एवं उस के पश्चात् 'वामदेव्य' (उ० ब्रा० १, १, १२, १) इन तीन मन्त्र से और उस के पश्चात् महाव्याहृति आदि का पाठ करे इह के पश्चात् “प्रजापते” इस आठवें मन्त्र से आठ आहुति देनी चाहिये ॥ ३-६ ॥

यशोऽहं भवामीति यशस्काम आदित्य मुपतिष्ठेत पू-

वर्हामध्यन्दिनापराह्नेषु प्रातरह्णस्येति सन्नामयन् ॥७॥

‘यशस्कामः’ पुरुषः, “यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशाम् । यशः सत्यस्य भवानि भवानि यशसां यशः ॥ ९ ॥ पुनर्ना यन्तु देवता या मदपचक्रमुः । महस्वन्तो महान्तो भवाम्यस्मिन् पात्रे हरिते सोमपृष्ठे ॥१०॥ रूपं रूपं मे दिशः प्रातरहस्य तेजसः । अन्नमुग्रस्य प्राशिष मस्तु मयि । मयि त्वयीदमस्तु त्वयि मयीदम् ॥११॥ यदिदं पश्यामि चक्षुषा त्वया दत्तं प्रभासया तेन मा भुञ्ज तेन भुक्षिपीय तेन मा विश ॥ १२ ॥ अहर्नां अत्यपीपरद्वात्रिर्नां अतिपारयत् । रात्रिर्नां अत्यपीपरदहर्नां अतिपारयत्” ॥ १३ ॥ (म० ब्रा० २, ५, ९-१३) — ‘इति’ पञ्चमं सूक्तं पठन्, तत्र च तृतीये मन्त्रे पठितं ‘प्रातरह्णस्येति’ पदं ‘सन्नामयन्’ यथाकालं मध्यन्दिनस्येति अपराह्णस्येति च परिवर्तयन्, पूर्वार्हपरार्हेषु’ त्रिष्वेव कालेषु ‘आदित्य मुपतिष्ठेत’ ॥ ७ ॥ अथ स्वस्त्ययनकामकर्म-

भा०—जिन्हें यश की कामना हो, वे “यशोऽहं” इन पांच मन्त्रों से प्रातः मध्याह्न, और सायं तीन समय सूर्योपस्थान करें ‘प्रातरहस्य’ यह पाठ यथा काल परिवर्तन करें । अर्थात् मध्याह्न कालमें उस के स्थान में “मध्यन्दिनस्य” और सायं समय ‘अपराह्नस्य’ ऐसा कहें ॥ ७ ॥

सन्धिवेलयोरुपस्थानं स्वस्त्ययन मादित्यनाव मिति ॥८॥

‘सन्धिवेलयोः’ उभयोरेव “आदित्यनाव सारोक्षं पूषणामपरिपारिनीम् । अञ्चिद्द्रां पारयिष्णीथं शतारित्राथं स्वस्तये ॥ (ओक्षम आदित्याय नम आदित्याय नम आदित्याय) ॥१४। (म० ब्रा० २, ५, १४) — ‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘उपस्थानं’ कर्त्तव्यम् तथाच ‘स्वस्त्ययनं’ सिध्येत् ॥८॥

भा०—प्रातः और सायं दोनों सन्धि विला में “आदित्यनावं”—मन्त्र से उपस्थान करे, इस से स्वस्त्ययन (कल्याण) होगा ॥ ८ ॥

उद्यन्तं त्वादित्यानुदियांस मिति पूर्वार्हं प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानुप्रतितिष्ठास मित्यपराह्ण ॥ ९, १० ॥ आचितशतकामोऽर्द्धमासव्रतः ॥ ११ ॥

तत्र, पूर्वार्हं उद्यन्तं त्वादित्यानुदियामम् ॥ १५ ॥ (म० ब्रा० २, ५, १५) ‘इति’ यजुष्य प्रयोक्तव्यम् । ‘अपराह्णं’ च “प्रतितिष्ठन्तं त्वादित्यानु प्रतितिष्ठासम् ॥ १६ ॥ (म० ब्रा० २५, १६)”—‘इति’ च यजुः प्रयोक्तव्यमेव ॥ ९, १० ॥ अथ आचितशतकामकर्म । ‘आचितशतकामः’ पुनपः, ‘अर्द्धमासव्रतः’ स्यात् ॥ ११ ॥

[प्र० ४ खं० ६ सू० १-१४, खं० ५ सू० १-२] यज्ञमादिकान कर्माणि ॥ १९६

भा०:—इस उपस्थान काल में 'विशेषतः प्रातः सन्धि काल में "उद्यन्त" मन्त्र भी एवं सायं सन्धि काल में "प्रतिष्ठन्त" मन्त्र भी व्यवहृत होंगे। ९, १० जो कोई १०० आचित (२५ मन, वा एक गाड़ी घोष) की कामना करे, वह अर्द्धमास-व्रत का अनुष्ठान करे ॥ ११ ॥

तामिस्रादौ व्रीहिकांसौदनं ब्राह्मणान् भोजयित्वा तस्य कणानपरासु सन्धिवेलासु प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधायादित्य मभिमुखो जुहुयाद्बलाय स्वाहा भल्लाय स्वाहेति ॥ १२ ॥ एतयैवावृतापरौ तामिस्रौ ॥ १३ ॥

'तामिस्रादौ' कृष्णप्रतिपदि सन्धिवेलायां 'व्रीहिकांसौदनं' पक्त्वा, तेन च 'ब्राह्मणान् भोजयित्वा' 'अपरासु' द्वितीयादिषु 'सन्धिवेलासु' 'तस्य' व्रीहिकांसस्य 'कणान्' "भलाय स्वाहा ॥११॥ भल्लाय स्वाहा ॥१२॥ (म०ब्रा०२,४, ११,१८) इति मन्त्रद्वयेन जुहुयात् । कुत्र प्रदेशे ? 'प्रत्यग्ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधाय, आदित्य मभिमुखः' सन् ॥ १२ ॥ 'एतया एव आवृता' पूर्वोक्तया एव रीत्या 'अपरौ' द्वौ 'तामिस्रौ' कृष्णपक्षी व्यवहर्त्तयौ । तदेवं त्रिभिः कृष्णपक्षैः एषोऽर्द्धमासव्रतः सम्पाद्य इति ॥ १३ ॥

भा०:—कृष्ण पक्ष की परिवा तिथि की सन्धि वेला समय, कांस परिमित तण्डुल पाक करके, उसे कई एक ब्राह्मणों को भोजन करावे। इस के अनन्तर अमावास्या पर्यन्त प्रति सन्धिवेला में गांव के बाहर पश्चिम ओर चौराहे पर अग्नि जला कर उस में 'भलाय' और 'भल्लाय' इन दोनों मन्त्रों से, सूर्य के सम्मुख हो कर इस तण्डुल के करा आदि से होम करे ॥१२॥ इसी पूर्वोक्त रीति से और भी दो कृष्ण पक्ष में अनुष्ठान करे। इस से तीन कृष्णपक्ष में यह अर्द्धमास व्रत सम्पन्न होगा ॥ १२, १३ ॥

तामिस्रान्तरेषु ब्रह्मचारीस्यादासमापनादासमापनान् ॥१४॥

'तामिस्रान्तरेषु' कृष्णपक्षमध्येष्वहोरात्रेषु व्रती पुरुष 'आसमापनात्' व्रत-समाप्ति यावत् 'ब्रह्मचारीस्यात् ॥ १४ ॥ ६ ॥ इति सामवेदीये गोभिलशुक्लसूत्रे चतुर्थप्रपाठके पष्ठमण्डस्य ध्यायानं समाप्तम् ॥१४६॥

भा०:—जिम तीन कृष्णपक्ष में यह "अर्द्धमास व्रत" अनुष्ठान किया जावे, उस में व्रत की समाप्ति पर्यन्त व्रती को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये ॥ १४६ ॥ गोभिलशुक्लसूत्र के चतुर्थअध्याय के छठे खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥१४६॥

अवसानं जोषयेत् ॥ १ ॥ समं लोमश मविभ्रंसि प्राच्य
उदीच्यो वा यत्रापः प्रवर्त्तरन्नक्षीरिण्योऽकण्टका अकटुका
यत्रौषधयः स्युः ॥ २ ॥

'अवसानं' विरामलक्षणं अन्यथास्तुभिरवेष्टितं यद्यमागलक्षणं भूखण्डं 'जो-
षयेत्' सेवेत् वासायेति ॥ १ ॥ तच्च अवसानं 'समं' समतलं स्यात् । तच्च
'लोमशं' घासविशिष्टं स्यात् । तच्च 'अविभ्रंसि' विभ्रंशोऽधः पतनं न यत्र स-
म्भाव्यते तादृशं स्यात् । 'यत्र' 'प्राच्यः उदीच्यः वा' 'आपः' नद्यादिकाः 'प्रव-
र्त्तरन्' विद्येरन् । 'यत्र' च समीपे एव 'अक्षीरिण्यः' 'अकण्टकाः' 'औषधयः' 'स्युः' ॥ २ ॥

भा०:-अन्यान्य मकान से यथा सम्भवदूर पर, अपने रहने का मकान बनाने
के लिये उपयोगी प्रशस्त (अच्छी) भूमि लेवे ॥ १ ॥ उक्त घास भूमि समतल
होवे, घासों से छिपी रहे, तालाब आदि से दूरी में गिर जाने का भय न हो,
ऐसे स्थान के निकट पूर्व, या उत्तर दिशा में बृहत् जलाशय हो, एवं जिस
स्थान के समीप में क्षीरी, कण्टकी, और कटु औषधि वृक्ष न हों, ऐसा स्थान
घास के लिये पसन्द करे ॥ १, २ ॥

गौरपाथंसु ब्राह्मणस्य लोहितपाथंसु क्षत्रियस्य कृष्ण-
पाथंसु वैश्यस्य । ३।४।५ । स्थिराघातं मेकवर्णं मशुष्कं मनु-
परं ममरुपरिहितं मकिलिनम् ॥ ६ ॥

पांसयो रेषथः । एवं पांसुपरीक्षां प्रकृत्य तत्र तत्र ब्राह्मणादयो वास्तुनि-
र्माणं कारयेयुरिति भावः । ३-५ । 'स्थिराघातं' स्वल्पाघातेनैव यन्नावटीभवेत्
तत् । 'एकवर्णं' क्वचिद्गौरमेवं बहुवर्णत्वं न दृश्यते यत्र, तादृशम् । 'अशुष्कं'
यत्रोत्पद्यमाना औषधयो न शुष्काः स्युः, तथाविधम् । 'अनूपरं' यत्रोत्तं धीजं
प्ररोहेदेव, तादृशम् । 'अमरुपरिहितम्' मरुभूमिभिः अवेष्टितम् । 'अकिलिनम्'
क्लिन्नं सजलम्, तद्विपरीतम् । एयम् अवसानं जोषयेते-त्येष ॥ ६ ॥

भा०:-जिस स्थानकी धूलि का रंग गौर, ब्राह्मण लोग अपने लिये ऐसीही
घास भूमि स्वीकार करें; क्षत्रिय लोगों के लिये लाल रंगकी धूली वाली घास
भूमि उपयुक्त एवं वैश्यगण काली मट्टी वाली घास भूमि बनायें । ॥३-५॥
जिस स्थान में थोड़े चोट या आघात से भूमि धस न पड़े, जिस स्थान
की धूलि कानेक रंग की न दीख पड़े, जिस स्थान में किसी फूल के पंड़
रोपने से बृहत् मूल जाये, जिस स्थान में शस्य आदि के उपजने की शक्ति
भी हो, जिस के प्रायः चारो ओर मरु भूमि न हों, एवं जिस स्थान में जल
न हो, -ऐसी भूमि घामार्थं लेये ॥६॥

दभंसम्मितं ब्राह्मवर्चसकामस्य बृहत्तृणैर्वलकामस्य मृ-
दुतृणैः पशुकामस्य । ७-६ ॥

'ब्राह्मवर्चसकामस्य' ब्राह्मणस्य 'दभंसम्मितं' कुगायत्रुगं स्थानं न्यायं त-
थाच देवं पित्र्यं वा कर्म कर्तुं कुगाहरणाय क्लृप्तौ न भवेत् । 'वलकामस्य' क्ष-
त्रियस्य 'बृहत्तृणैः' शाकीयं स्थानं मुचितम्, तथाचारादीनां भोजनं सुगमं
स्यात् । 'पशुकामस्य' वैश्यस्य मृदुवर्णैः परिव्याप्तं स्थानं वासयोग्यम्, तथाच
पशुचारणं सुकरं भवेदिति ॥ ७-६ ॥

भा०—जिस स्थान में समधिक कुग लम्बता हो, ऐमा स्थान ब्राह्मण के लिये
घासोपयोगी है, जिस स्थान में घोड़ा आदि के खाने योग्य घड़ी घास आदि
बहुत पाई जावे, ऐसी भूमि क्षत्रियों के रहने योग्य है । और जिस स्थान में
कोमल घास हों, चारण (चराने के लिये) भूमि के लिये चिन्ता न करनी
पड़े, ऐसी भूमि वैश्यके लिये उपयुक्त है ॥ ७-६ ॥

शादासम्मितं मण्डलद्वीपसम्मितं वा यत्र वा श्वभ्राः
स्वयं खाताः सर्वतोऽभिमुखाः स्युः । १० । अनुद्वारञ्च ॥ ११ ॥

शादा इष्टका उच्यते, तदसम्मितम् चतुष्कोण मित्यर्थः । मण्डलं यत्तुं
मुच्यते, नध्योक्तं क्रमादभितो निम्नं यत्र, तद्द्वीपं मुच्यते । तथाच द्वीप-
निय मध्योच्चं यत्तुंल मपि स्थानं न दीपावहम् । अपि 'वा' 'यत्र' स्थाने 'स्वयं'
खाताः' अकृत्रिमाः 'सर्वतोऽभिमुखाः' 'श्वभ्राः' गत्ताः 'स्युः' तत् अचतुरस्र म-
द्वीपवर्तुल मपि यासाहं भिति । १० । 'अनुद्वारञ्च' गृहे मनुष्पादिप्रवेगाय या-
युप्रवेशाय वा यायन्ति द्वाराणि स्युः, तेषां सर्वेषां भेद समसूत्रपातानुकृतानि द्वा-
राणि यत्र, तादृशं गृहं कुर्योतिरित्येयम् । तत्र नेत्यनुवर्तते अग्रसक्तस्य नियेनाप्रवृत्तेः ११

भा०—रहने के मकान का स्थान चतुष्कोण ही; गोल होनेसे भी हानि नहीं;
किन्तु उसका मध्यभाग क्रम से ऊंचा ही । यदि ऐसा स्थान भी दुर्लभ हो,
तो त्रिकोण, बहुकोण, असमकोण, प्रभृति स्थान भी मकान के लिये स्वीकार
करे, परन्तु यदि ऐसे स्थानको चारों ओर अकृत्रिम कोई गड़हा ही ॥१०॥ घरमें
चाहे मनुष्य आदि के प्रवेश के लिये जितने दरवाजे हों, उन दरवाजे आदि
के समसूत्रपात से, उन के समान अन्य द्वार भी रहना चाहिये ॥ १ ॥

तत्रावसानं प्राग्द्वारं यशस्कामो वलकामः कुर्वीतीदृश-
द्वारं पुत्रपशुकामो दक्षिणाद्वारं सर्वकामो न प्रत्यग्द्वारं

कुर्वीत । १२ । गृहद्वारं यथा न संलोकितं स्यात् ॥ १३ ॥

‘तत्र’ तादृशे स्थाने ‘पशुकामः’ ‘बलकानः’ पुरुषः ‘प्राग्द्वारम्’ ‘श्रवसानं’ वासगृहं ‘कुर्वीत’ । पुत्रकामः पशुकामश्च पुरुषः ‘उदग्द्वारम्’ श्रवसानं कुर्वीत ‘सर्वकामः’ पुरुषः ‘दक्षिणाद्वारम्’ श्रवसानं कुर्वीत । ‘प्रत्यग्द्वारं’ पश्चिमद्वारं श्रवसानं न कोऽपि कुर्वीतिति । १२ । तथा कुर्वीतिति ॥ १३ ॥

भा०—ऐसे स्थान में रहने का घर बनावे । उन में से जो विशेषतः पशु और बल की इच्छा करे, वे मकान का दरवाजा पूर्वमुख रखें । जो विशेषतः पुत्र और पशु की इच्छा करें, वे उत्तरमुख (रुख) दरवाजा बनवावें; जिन्हें कोई विशेष कामना न हो, किन्तु सब ही प्रकार की कामना हो, वे दक्षिणमुख मकान करें, परन्तु पश्चिममुख मकान का दरवाजा कभी न करे ॥ १२ ॥ मकान के भीतर के घर के द्वार आदि इसप्रकार रहें, जिस में घर के भीतर के मनुष्य आदि बाहरी दरवाजे से न दीख पड़ें ॥ १३ ॥

वर्जयेत् पूर्वतोऽश्वत्थं प्लक्षं दक्षिणतस्तथा । न्यग्रोधं मपराद् देशादुत्तराञ्चाप्युदुम्बरम् ॥ अश्वत्थादग्निभयं विद्यात् प्लक्षाद् ब्रूयात् प्रमायुकान् । न्यग्रोधाच्छस्त्रसम्पीडा मक्ष्यामय मुदुम्बरात् ॥ आदित्यदेवतोऽश्वत्थः प्लक्षीयमदेवतः । न्यग्रोधो वारुणो वृक्षः प्राजापत्य उदुम्बरः ॥ १४ ॥

अश्वत्थः—चलदलः, स च आदित्यदेवतः, तं पूर्वतः स्वावासस्य, वर्जयेत् पूर्वतः स्थितात् अश्वत्थात् अग्निभयं विद्यात् । प्लक्षः=पर्कटी, स च यमदेवतः तं, दक्षिणतः स्वावासस्य वर्जयेत् ; दक्षिणतः स्थितात् प्रमायुकान् हनिताम् प्लक्षान् अलपायुषः स्युस्तत्र घासिन इति ब्रूयात् । न्यग्रोधः=वटः, स च वृक्षः ‘वारुणः’ वरुणदेवतः, तम् अपराद्देशात् पश्चिमात् प्रदेशात् स्वावासस्य, वर्जयेत् पश्चिमस्थितात् न्यग्रोधात् शस्त्रसम्पीडा भवेत् । उदुम्बरः—यक्षवृक्षः, स च प्राजापत्यः प्रजापतिदेवतः, तम् उत्तरात् स्वावासस्य वर्जयेत्, उत्तरस्थितात् उदुम्बरात् अक्ष्यामय मक्षिरीगो भवेदेवेति ॥ १४ ॥

भा०—पीपल के पेड़ की देवता सूर्य, मकान के पूर्वदिशा में पीपल एक न रखे, पूर्वभाग में पीपल के पेड़ रहने से अग्नि का भय रहता है । पाकड़ (पेड़) की देवता यम, मकान के दक्षिणभाग में पाकड़ का पेड़ रहने से आयुकी हानि होती है । वट वृक्ष की देवता वरुण है, घरके पश्चिमभाग में यक्ष का पेड़

रहने से शस्त्राघात का मन्देह रहता है। गूलरवृक्ष की देवता 'प्रजापति' हैं अतएव मकान से उत्तरभाग में गूलर रहने से, नेत्ररोग होता है ॥ १४ ॥

तानस्वस्थानस्थान् कुर्वीताश्चैव देवता अभियजेत ॥ १५ ॥

'तान्' अश्वत्थादीन् पूर्वादिदक्षवस्थितान् 'अस्वस्थानस्थान्' स्वस्थानेभ्य उतथाप्यान्यत्राभिलपितस्थानेषु संस्थितान् 'कुर्वीत'; अपि 'च' तत्तदुत्थागकाले 'एताः देवताः' तत्तद्दृष्टदेवताः 'एव' 'अभियजेत' होमादिभिरर्चयेत् ॥ १५ ॥

भा०-अनुपयुक्त स्थान में समुत्पन्न पीपल आदि के पेड़ों को उखाड़ कर उपयुक्तस्थानमें रोप कर उस रक्षक की उन २ देवताको होमादिसे पूजाकरे ॥१५॥

मध्येऽग्नि मुपसमाधाय कृष्ण्या गवा यजेताजेन वा श्वेतेन सपायसाभ्यां पायसेन वा ॥ १६-१९ ॥

'मध्ये' वास्तुभवनस्य, 'अग्निम्' 'उपसमाधाय' पूर्वोक्तविधिना प्रख्यात्य 'कृष्ण्या गवा' कृष्णायाः गोः मासादिना 'यजेत'-इति प्रथमः कल्पः । 'श्वेतेन अजेनवा' यजेतेति द्वितीयः । 'सपायसाभ्याम्' गोऽजाभ्याम्, पायसेन च गोऽजयो रन्यतरेण चेति तृतीयः । 'पायसेन' पायसमात्रेणैव 'वा' इत्यधमः कल्पः ॥१६-१९॥

भा०-वान्तु भूमि पर आग जलाकर काली गौ के मांस आदि से याग करे, सफेद द्वाग के मांस,द्वारा भी यह 'याग' हो सकता है, काली गौ का मांस, या सफेद द्वाग के मांस के साथ यदि 'पायस' हो तो और भी उत्तम हो, न हो तो केवल पायस ही से याग करे ॥ १६-१९ ॥

वसा माज्यं माथ्सं पायस मिति संयूयांष्टगृहीतं गृही-
त्वा जुहुयाद्वास्तोष्पत इति प्रथमा वामदेव्यर्चो महाव्याहृतयः
प्रजापतयइत्युत्तमा । २०-२१,२२,२३-२४ ॥

'इति' इमानि वसादीनि चत्वारि 'संयूय' सम्यक् मिश्रीकृत्यमिश्रितं तत् 'अष्टगृहीतं' चतुर्गृहीत मिव गृहीत्वा 'जुहुयात्' । तत्र 'वास्तोष्पते प्रतिजानीह्य-
स्मान्तस्त्राष्टेशो अनमीवो भवानः । यते महे प्रतितन्नो जुषस्व शनो भव द्वि-
पदे शं चतुस्पदे' ॥१॥ (म० ब्रा० २, ६, १)-'इति' मन्त्रेण 'प्रथमा' आहुतिः । ततो 'वामदेव्यर्चः' तिस्रः प्रयोक्तव्याः । ततश्च 'महाव्याहृतयः' प्रयोक्तव्याः । ततः 'प्रजापतये'-'इति' एतन्मात्रेणैव मन्त्रेण 'उत्तमा' आहुतिर्होतव्येति । २०-२४ ॥

भा०-वसा, घृत, मांस, और पायस, इन चार (सामग्री) को एकत्र मिला कर (जिस प्रकार चार वार लेना कहा गया है, उसी प्रकार) प्रतिवार ८ , यहणा करता हुआ होम करे, उन में से "वास्तोष्पते" मन्त्र से पहिली आहुति

देवे; अनन्तर 'धामदेश्य' संज्ञक तीन मन्त्रों से, उमके पीछे महाव्याहृति आदि का प्रयोग करे; पीछे "प्रजापतये"—इस मन्त्र से श्रेष्ठ आहुति देवे ॥ २०-२४ ॥

हुत्वा दश बलीन् हरेत् प्रदक्षिणं प्रतिदिशमवान्तरदेशे
शेषानुपूर्व्येणाव्यतिहरन् ॥ २५ ॥

'हुत्वा' उक्तवास्तुहोमानन्तर मेघ 'प्रतिदिशं' 'प्रदक्षिणं' यथा स्यात् तथा कृत्वा, 'अवान्तरदेशेषु' कोशेषु व्यतिहरो यथा न भवेत् तथा च कृत्वा, 'शानु-पूर्व्येण' एव 'दश' सङ्ख्याकान् 'बलीन्' 'हरेत्' ॥ २५ ॥ बलीनां स्थानानि मन्त्रांशोपदिशति-

भा०:-वास्तु होम करके उम के पीछे प्रदक्षिणानुसार प्रति दिशा में और प्रति कोण में क्रम से १० बलि प्रदान करे ॥ २५ ॥

इन्द्रायेति पुरस्ताद् वायव इत्यवान्तरदेशे यमायेति दक्षिणतः पितृभ्य इत्यवान्तरदेशे वरुणायेति पश्चान्महाराजायेत्यवान्तरदेशे सोमायेत्युत्तरतो महेन्द्रायेत्यवान्तरदेशे वासुक्य इत्यधस्ताद्ब्रह्मं नमोब्रह्मण इति दिवि ॥ २६-३३ ॥

सुस्पष्टान्येतानि ॥ २६-३३ ॥

भा०:-रहने के मकान से पूर्व दिशा में, तत्पश्चात् अग्निकोण आदि आठ दिशाओं में, तत्पश्चात् नीचे ऊपर, इन दश दिशाओं में 'इन्द्राय' प्रभृति दश मन्त्रों से बलि प्रदान करे ॥ २६-३३ ॥

प्राच्यदूर्ध्वावाचीभ्योऽहरहर्नित्यप्रयोगः संवत्सरेसंवत्सरे नवयज्ञयोर्वा ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

प्राच्यादिदेवताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः 'अहरहः' प्रतिदिन मेघ बलिहरणं कर्तव्यम्; एषश्चैपः नित्यप्रयोगः—इति कस्यधिनमतम्। स्वमते तु संवत्सरे मन्वत्सरे यदा यदा नवयज्ञी घ्रीहियज्ञो यद्यप्यस्य भवतः तदा तदैवासा मपि तिसृणां बलिहरणं निति शम् ॥ ३४, ३५ ॥ ७ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेषु प्रपाठके मत्समवयवस्य व्याख्यानां नमात्सम् ॥ ४१ ॥

भा०:-इन्द्र देवता के लिये ऊपर की पूर्य दिशा में ब्रह्म देवता के लिये, एवं नीचे की वासुकि देवता के लिये, प्रतिदिन बलिकर्म करे, या प्रति वर्ष जिन समय नया अमास हो, और जिन समय यथ आदि शम्भू नूतनहों उम २ नवान्न समयमें इनतीन बलिके करने सेभी हीमकता है ॥ ३४-३५ ॥ गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्यायके सप्तमवयवका भाषानुवादपूरा हुआ ॥ ४१ ॥

[प्र० ४ खं० ७ सू० २५-३५ खं० ८ सू० १-४] श्रवणाग्रहायणी शेषकर्म ॥ ३३ ॥

श्रवणाग्रहायणीकर्मणोरक्षताञ्छिष्टा प्राड्वोदङ्वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्पथेऽग्निमुपसमाधाय ह्ये राक इत्येकैकयाञ्जलिना जुहुयात् ॥ १ ॥

पुरस्तादुक्ते 'श्रवणाग्रहायणी' कर्मणी । तयोः अक्षतबलपथ विहिताः । तत्र सर्वरेवाक्षतेर्बलिहरण मकृत्या कतिचित् 'अक्षतान्' 'शिष्टा' बलिशेषभूतान् रक्षित्या तैरेवाक्षतैः 'अञ्जलिना' "ह्ये राके सिनीवालि सिनीवालि पृष्णुके । शुभद्रे पथ्ये रेवति यथा नो यश आयह (स्वाहा) ॥२॥ ये यन्ति प्राञ्चः पन्थानो य उ योत्तरत आययुः । ये चेमे सर्वे पन्थान स्तेभिर्नो यश आयह (स्वाहा) ॥३॥ यथा यन्ति प्रपदो यथा मासा अहर्जरम् । एयं मा श्रीधातारः समवयन्तु सर्वतः (स्वाहा) ॥ ४ ॥ यथा समद्रथं स्वयन्तीः समवयन्ति दिशो दिशः । एयं मा सखायो ब्रह्मचारिणः समवयन्तु दिशो दिशः (स्वाहा) ५ (म० ब्रा० २, ६, २-५)" -'इति' सूक्तान्तगतानां षतसृणां सृषाम्' एकैकया'जुहुयात्' । स च होमः, 'ग्रामात्-प्राड्वा उदङ्वा निष्क्रम्य' 'चतुष्पथेऽग्निम् उपसमाधाय' तत्रैव कर्त्तव्य इति ॥१॥

भा०:—इसके पहिले 'श्रवणाकर्म' और 'आग्रहायणी कर्म' कहे गये हैं । उक्त दोनों कर्मों में 'अक्षतबलि' भी कहा गया है । इस अक्षतबलि के समय समस्त अक्षत आदि बलि कार्य में व्यवहार न करके, उस में से थोड़ा अक्षत अवशिष्ट रखते । इसी को एक २ अञ्जलि कर 'ह्ये राके' इत्यादि चार मन्त्रों से आहुति देवे । यह होम गांव से बाहर निकल कर पूर्व, या उत्तरदिशा में किसी घौराहे पर आग जला कर, करे ॥ १ ॥

प्राडुत्क्रम्य वसुवन एधीत्यूर्ध्वं मुदीक्षमाणो देवजनेभ्यस्तिर्यङ्ङित्तरजनेभ्योऽर्वाङ्वेक्षमाणोऽनपेक्षमाणः प्रत्येत्याक्षतान् प्राश्रोयादुपेतैरमात्यैः सह ॥ २—४ ॥

'उत्क्रम्य' उत्क्रमणं द्युत्क्रमणं विपरीतगमनं प्रतिगमनारम्भण मिति यावत्, तत् कृत्या तत्र पर्येष यत्र कुत्रचित् 'प्राड्' प्राड्मुखः, 'ऊर्ध्वम्' उपरि 'उदीक्षमाणः' 'देवजनेभ्यः' देवगणानुद्दिश्य "वसुवन एधि वसुवन एधि" ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ६) -'इति' मन्त्रं पठेत् । ततः 'तिर्यङ्' गृहगमनाय पश्चिमाभिमुखो दक्षिणाभिमुखो वा भवितुं तिरश्चीनः सन्, 'अर्वाङ्' अधः 'अवेक्षमाणः' 'इतरजनेभ्यः' देवातिरिक्तप्राणिगणानुद्दिश्य त मेव मन्त्रं पठेत् । ततः 'अनवेक्षमाणः' पश्चादवलोकन मकृत्तदैव प्रत्येत्य' स्ववासं 'उपेतैः' तदानीं तत्रो'

पस्थितैः 'अमात्यैः' 'वन्धुवर्गैः' 'सह' 'अक्षतान्' 'होमावशिष्टान्' 'प्राप्ती यात्' 'भुञ्जीत' २-४

भा०:-उसके पश्चात् मकान में फिरने के लिये, चल कर रास्ते में किसी एक स्थान में ऊपर मुंह होकर, देवताओं के लिये 'वसुधन एधि' इस मन्त्र का पाठ करे। पुनः पश्चिम मुख, या दक्षिणाभिमुख। अर्थात् घर के सम्मुख होने ही से टेढ़ा होना पड़ेगा, उसी तिरछा होते समय नीचे देखकर, अन्यान्य प्राणियों के लिये, पुनः इस मन्त्र का पाठ करे। अनन्तर पीछे न देख कर अपने स्थान पर आकर, उस समय उस स्थान में जो सब आत्मीय लोग उपस्थित हैं, उन के साथ, होम से बची सामग्री भोजन करे ॥ २-४ ॥

स्वस्त्ययनम् ।५। वशङ्गमौ शङ्खश्चेति पृथगाहुती व्रीहियव-
होमौ प्रयुञ्जीत यस्यात्मनि प्रसादमिच्छेत्तस्मै नित्यप्रयोगः ।६,७।

उक्तेन श्रवणाग्रहायणीशेषाक्षतवृत्तिकर्मणा 'स्वस्त्ययनं' फलं भवेत्' तथा च स्वस्त्ययनकाम एवास्याधिकारी । ५ । अथ प्रसादकामकर्म ।- 'यस्य' जनस्य 'आत्मनि' स्त्रे प्रसादम् 'इच्छेत्' 'तस्मै' तदुद्देशतः "वशङ्गमौ देवयानौ युवशंस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति, एवं समासौ वशमेतु (स्वाहा) ॥७॥ (म० ब्रा० २, ६, ६) - 'शङ्खश्च मन आयुश्च देवयानौ युवशंस्थो यथा युवयोः सर्वाणि भूतानि वश मायन्ति एव समासौ वशमेतु (स्वाहा)'" ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ८) - 'इति' आभ्या मन्त्राभ्या 'व्रीहियवहोमौ' व्रीहियव द्रवपकहोमौ 'पृथगाहुती' विभिन्नद्रव्यहवनौ 'प्रयुञ्जीत' कुर्वीत । पृथगाहुतीत्युक्त्या वशङ्गसाविति मन्त्रेण व्रीहिहोमः शङ्खश्चेति मन्त्रेण च यवहोम इति । 'नित्यप्रयोगः' तत्प्रसादलाभपर्यन्तमहरह एवैषः प्रयोगः कर्तव्य इति ॥ ६,७ ॥

भा०:-उक्त श्रवणा और आग्रहायणी दोनों कर्मों के अविशिष्ट अक्षत-वृत्तिकर्म का फल-स्वस्त्ययन है, इसलिये जो लोग विशेष 'स्वस्त्ययन' चाहें, उन्हें जो यह करना चाहिये ॥५॥ जिस किमी व्यक्तिकी प्रसन्नता चाहे वह 'वशङ्गमौ' मन्त्र से व्रीहिहोम और 'शङ्खश्च' मन्त्र से यवहोम करे। जयतक उद्देश्य सिद्ध न हो, तयतक प्रतिदिन यही प्रयोग, अनुष्ठान करे ॥ ५-७ ॥
एकाक्षर्याया मर्द्धमासव्रते द्वे कर्मणी ।८। पौर्णमास्याश्चरात्री
खदिरशङ्कुशतं जुहुयादायुष्काम आयसान् वधकामः ॥९,१०॥

'एकाक्षर्यायाम्' "आकूर्तो देवो मनसा प्रपद्ये यज्ञस्य मातरश्चं सहया मे अस्तु । यस्यास्त एक मत्तरं परश्चं सहस्रा अयुतं च गारास्तस्यै याचे निद्वये लुप्तोम्या ना यरो गच्छतु धीयंश्च (स्वाहा) ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, ९)"

[प्र० ४ खं० ८ सू० ५-१२] प्रसादकामकर्मं शङ्कुशतस्थण्डिल होमीष ॥ २५
 इत्यस्या मृचि 'द्वे कर्मणी' अनुपदयश्चमालो विद्योते, ते च द्वे एव 'अहुं-
 मासघ्नते' वेदितव्ये । ८ । तत्र प्रथमं कर्म शङ्कुशतहवनं नाम, तद्यथा कामना-
 द्वयभेदात् द्विविधम्, तद् द्विविधनेयोपदिशति । स्वस्य अपरस्य वा 'आयु-
 ष्कामः' पुरुषः 'सदिरशङ्कुशतं' सादिराणां शङ्कुनां कीलकानां शतं जुहुयात्,
 स्वस्य अपरस्य वा अयजान्श्रेत् 'आयमान्' लोहविह्वतान् शङ्कुन् शतं जुहुया-
 दिति । कदेत्युच्यते, 'पीर्यामास्यां रात्री' इति । ९ । १० । अथ स्थण्डिलहोमः ।

भा०:- 'आकृतिं देवो' इम मन्त्र को एकाक्षरी कहते हैं । इस एकाक्षरी
 मन्त्र धिययक जा दो कर्म कहे जाने वाले हैं, उन्हीं दो कर्मों को 'अहुंमास-
 घ्नत' जानो ॥८॥ यदि अपनी या दूसरे की आयु बढ़ने की कामना हो, तो सर
 की १०० कील होम करे । और अपनी या दूसरे की आयुके हानि की इच्छा
 हो, तो सोहे के १०० कीलकों का होम करे; ये दोनों कार्य पूर्णिमा की रात
 में करे और इन में एकाक्षरी मन्त्र का व्यवहार करे । यही शङ्कुशत होम
 नामक पहिला कर्म है ॥ ८, १० ॥

अथापरम् ॥ ११ ॥ प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य च-
 तुप्पथे पर्वते वारण्यैः स्थण्डिलं प्रताप्यापोह्याङ्गारान् मन्त्रं
 मनसानुद्गत्य सर्पिरास्येन जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'द्वे कर्मणी'-इति, तत्र नवमदशमसूत्राभ्यां द्विविधं शङ्कुशतहवन
 मुक्तम्; 'अथ' क्रमप्राप्तम् 'अपरम्' द्वितीयं कर्म स्थण्डिलहवनं सिद्धं उपदि-
 श्यते । अपिचात्रापि द्विविध्यमस्ति । ११ । 'ग्रामात्' स्ववासस्थानात् 'प्राङ्'
 पूर्वाभिमुखः, 'उदङ्' वा 'अथवा उत्तराभिमुखः' निष्क्रम्य, निर्गतो भूत्वा, 'चतु-
 प्पथे पर्वते वा' उपस्थितः सन्, 'वारण्यैः गोमयैः', 'स्थण्डिलं' लोहपात्रं 'प्र-
 ताप्य' प्रतप्तं कृत्वा, 'अङ्गारान्' गोमयकृतान् स्थण्डिलरूपान् 'अपोह्य' दूरी-
 कृत्य, 'मन्त्रं' प्रकृत मेजाक्षरीनामकं 'मनसा' 'अनुद्गत्य' द्रुतं पठित्वा तत्रैव
 प्रतप्ते स्थण्डिले 'आस्येन' स्वमुखेन 'सर्पिः' घृतं जुहुयात् ॥ १२ ॥

भा०:- पहिले ही (८ खं० सूत्र में) कहा गया है कि 'एकाक्षरी' मन्त्र
 द्वारा दो कर्म सिद्ध होते हैं, उनमें से इसके पूर्व दो प्रकार 'शङ्कुशत होम
 कर्म कहा गया है । अब 'स्थण्डिल होम' नामक द्वितीय कर्म कहा जाता है ।
 यह दो प्रकार का है ॥११॥ गांवकी वस्ती से पूर्व, या उत्तर जाकर किसी एक
 चौराहे, या पहाड़ पर अङ्गली कण्ठे से एक स्थण्डिल (वेदी) अच्छी प्रकार

तपा कर, उस अङ्गार आदि को हटाकर, इस एकक्षरी मन्त्र को मन ही मन गीघ्र पाठ कर, अपने मुंह में घी लेकर उस से होम करे ॥ १२ ॥

ज्वलन्त्यां द्वादशग्राभाः धूमे त्र्यवराद्दुर्या अमोघं कर्मत्याचक्षते ॥ १३-१५ ॥

तादृशे होमे हुते 'ज्वलन्त्यां' शिखायां यजमानस्य 'द्वादशग्राभाः' लभ्या भवेयुः, प्रज्वलनाभावेन 'धूमे' सति 'त्र्यवराद्दुर्याः' अवराद्दुर्घशब्दोऽन्यूनवचनः अता न्यूनतोऽपि त्रयो ग्राभाः भवेयुः, ज्वालाधूमयोः अल्पत्वबहुत्वाभ्यां लब्धव्य-ग्राभसुऽस्यानामल्पत्वबहुत्वे। एवञ्चेतत् सर्वथाप्यनिष्फल मिति 'अमोघं कर्म' -'इति' नाम 'आचक्षते' वृद्धाः। तदेतत् 'स्थण्डिलहोम'-नाम एकाक्षर्या द्वितीय कर्म ॥ १३-१५ स्थण्डिलहोमस्यैव प्रकारान्तरेण फलाभ्तरजन-कत्व मुच्यते।

भा०:-उस आहुति के देते ही, यदि गीघ्र उवाला उठे तो, अनुष्ठाता को १२ प्राग लाभ होंगे और यदि कुछ भी उवाला न हो, वरण धूम दीख पड़े, तभी तांन गांध मिलेगे। (सर्वथा निष्फल न होगा) इसी कारण बूढ़े लोग इसको 'अमोघ कर्म' कहते हैं। यह भी 'अर्द्धमासव्रत कहलाता है' ॥ १३। १४। १५ ॥

वृत्त्यविच्छित्तिकामो हरितगोमयान् सायं प्रातर्जुहुयात् १६

यजमानः यदि 'वृत्त्यविच्छित्तिकामः' वृत्तिर्जीवनोपायः तस्य विच्छेदो न स्यात् इत्येवङ्कामः स्यात्, तर्हि तत्रैव आरयगोमयैः प्रतप्ते स्थण्डिले सर्पिर्-होमनिनिनयतः 'हरितगोमयान्' सद्योविसृष्टगोमयान् तेनैव आस्येनैव 'सायं प्रातः' 'जुहुयात्' इति समाप्त मेकाक्षरीकृत्यम्। १६। अथ पण्यहोमः।

भा०:-यजमान अगर चाहे कि 'हमारी जीविका का नाश न हो', तो जङ्गली गोबरसे तप्त कियी हुयी वेदीपर, घी होम न करके, सायं और प्रातः-काल तात्कालिक गोबर को मुंह में रकर, उससे होम करे ॥ १६ ॥

त्रिरात्रोपोपितःपण्यहोमं जुहुयादिदमहमिमं विश्वकर्माणमिति वाससरतन्तून् गोवालानेव मितरेभ्यः पण्येभ्यः ॥ १७-२० ॥

काम्येषु कर्मेषु त्रिरात्राभोजनं विहितम् (प्र०४ सं०५ सू०८) पण्यहोमोऽपि काम्यं कर्म, अत्रापि तत् प्राप्त मिति विघ्नं विधत्ते, -'त्रिरात्रोपोपितः' उपवा-गन्तु अल्पभोजनं न स्वभोजनं गित्युक्तं पुरस्तात् (प्र०४ सं०५ सू०१३-२६, प्र०१ सं० ६-सू० १-८) 'पण्यहोमं' पण्यं विकल्पद्रव्यं, तस्मै होमः पण्यहोमस्तम्। "इदमहमिमं विश्वकर्माणमिति श्रीयत्स मभिजुहोमि (स्याद्वा)" ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २-५. १०) 'इति मन्त्रेण 'जुहुयात्'। किं जुहुयादिति होमद्रव्यं विधत्ते, -'वासः'

[प्र०४खं०सू०१६-२२, खं०८ सू०१-२] परयहोमो यशसादिनामकर्माणिच ॥ २०१
 यामः परयं चेत् तस्य 'तन्तून्' दशासूत्राणि जुहुयात् । गीः परयं चेत्, तस्य
 'गीः' 'वालान्' पुच्छलोमानि जुहुयात् । 'इतरेभ्यः' घ्राणाविकादिभ्यः परयेभ्यो-
 ऽपि 'एवम्' एव एकदेशं लोमादिकं मुद्गधृत्य जुहुपादित्येव । १७-२० । अथ यश-
 स्कामसहायकामयोः यजनीयप्रयोगौ ॥

**पूर्णहोमो यजनीयप्रयोग इन्द्रामवदादिति च यशस्कामः
 पूर्वांशसहायकाम उत्तराम् ॥ २१, २२, ॥ ८ ॥**

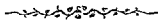
'पूर्णहोमः' "पूर्णहोमं यशसे जुहोमि, योऽस्मै जुहोति वर मस्मै ददाति, वरं
 वृषो यशसा भामि लोके (स्वाहा)" ॥११॥ (म० ब्रा० २, ६, ११)—इति होमः
 "इन्द्रामवदात् तनो यः परस्तात् । अहं वो उपोतिर्ना मभ्येत सर्वे (स्वाहा)"
 ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १२)—इति मन्त्रेण 'घ' होमः 'यजनीयप्र-
 योगः' (प्र० ४ खं० ५ सू० १२) बोध्यः । तत्र च 'यशस्कामः' चेत् 'पूर्वाम्' ऋचम्
 प्रयुञ्जीत 'सहायकामः' चेत् 'उत्तराम्' ऋचम् प्रयुञ्जीतेति । २१, २२ ॥ ८ ॥

इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेचतुर्थप्रपाठकेऽष्टमखण्डस्यव्याख्यानं समाप्तम् ॥४॥८॥

भा०:-यदि ऐमी इच्छा ही कि हम जोर्विषयहार करें, उस की उपाति हो
 उस २ द्रव्य में का, एक २ अंश लेकर जैसे—कपड़े का व्यवसाय करने को प्र-
 वृत्त हो, तो कपड़े के किनारे में मूत निकाल ले, गी का व्यवसाय हो तो गी
 की दुम में से कुछ वाल ले इत्यादि "इदमहनिमं" मन्त्र से होम करे ॥११,२०॥

भा०:-"पूर्ण होमं यशसे जुहोमि" इस मन्त्र से होम करे और "इन्द्रामव-
 दात्" इस मन्त्र से होम करे, ये दोनों होम 'यजनीय प्रयोग है, उन में से यश
 की इच्छा होने पर, प्रथम मन्त्र का प्रयोग करे और 'सहायता' की कामना
 हो तो शेष मन्त्रका व्यवहार करे ॥ २१ । २२ ॥ ८ ॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के अष्टम खण्ड का भाषानुवाद पूरा हुआ ॥४॥८॥



**पुरुपाधिपत्यकामोऽष्टरात्र मभुक्तौदुम्बरान्तस्त्रुवचमस्ते-
 धमानुपकल्पयित्वा प्राङ् वोदङ् वा ग्रामान्निष्क्रम्य चतुष्प-
 थेऽग्नि मुपसमाधायाज्य मादित्य मभिमुखो जूहुयादङ् वा
 एकच्छन्दस्यथ्श्रीर्वा एपेति च ॥ १, २ ॥**

पुरुपाणां सैनिकानां साधारणानां वानिकेपाम् आधिपत्यं यदि कामयेत,
 तर्हि तैत्र अष्टरात्र मभोजनं कर्तव्यम्, तत्रैव चाष्टरात्रे, श्रीदुम्बरान् सुवादीन्

प्रकल्प्य तदष्टरात्रान्ते तान् स्तुवादीन् गृहीत्वा 'प्राङ् उदङ् वा ग्रामात् निष्क-
म्य' यं कञ्चि दपि घतुष्पथं प्राप्य तत्रैव 'अग्निम् उपसमाधाय' 'आदित्यं द्य-
स्थम् 'अभिमुरः' "सन् अन्नं वा एकः षड्दस्य मन्त्रं १३ सूक्तं भूतेभ्यश्च ददति (स्वाहा)"
॥१३॥ (म० ब्रा० २, ६, १३) इति मन्त्रेण 'आज्यं जुहुयात्'। ततः "श्रीर्वा एषा
यत्सत्त्यानो, विरोचनो मयि सत्यं सवदधातु (स्वाहा)" ॥ १४ ॥ (म० ब्रा०
२, ६, १४) 'इति' मन्त्रेण 'घ' पुनरपि आज्यमेव जुहुयादिति ॥ १, २ ॥

भा०-यदि किसी की ऐसी इच्छा हो कि हमें 'पुरुषाधिपत्य' हो (से-
नापति, अभूति बड़ा ओहदा, या बहुत लोग हमारा मान्य करें) तो, वह
व्यक्ति घाट रात भोजन न करे, इसी बीच में गूलर की एकड़ी का स्तुवा
घमस और ईधन संग्रह कर, सध को अपने साथ लेकर गांव के पूर्व उत्तर,
बाहर जाकर किसी चौराहे पर अग्निस्थापन कर "अन्नं वा" मन्त्रसे घीकी आहुति
देवे एवं उसी के पश्चात् लगातार "श्रीर्वा एष" इस मन्त्र से दूमरी आहुति देवे ॥१,२॥

अन्नस्य घृत मेवेति ग्रामे तृतीयां गोष्ठे पशुकामो
विदूयमाने चीवरम् ॥ ३-५ ॥

ततः 'ग्रामे' प्रत्यागत्य "अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः सम्पत्कामो जुहोमि
(स्वाहा)" ॥१५॥ (म० ब्रा० २, ६, १५) 'इति' मन्त्रेण 'तृतीयाम्' आहुतिं जुहुयात्
आज्यस्यैव । स च पुरुषाधिपत्य कामः पुरुषः यदि 'पशुकामः' अपि तर्हि ग्रामे
होतव्यां ता साहुतिं 'गोष्ठे' एव जुहुयात् । तत्रापि तद् गोष्ठं 'विदूयमानम्' आर्द्रं
चेत् तत्र 'विदूयमाने' गोष्ठे 'चीवरं' लौहचूर्णं जुहुयात् नाज्यं निति ॥ ३-५ ॥

भा०-अनन्तर ग्राममें वापस आकर "अन्नस्य घृत मेव" इस मन्त्रसे तृतीय
आहुति देवे । उस पुरुषाधिपत्य चाहने वाले व्यक्ति की, यदि वह भी इच्छा
हो कि मुझे बहुत पशु हों, तो उस तृतीय आहुति को गोशाला में देवे ।
और यदि वह गोशाला गीली हो, तो उस स्थान में घी की तीसरी आहुति
न करके, लोह चूर्ण होम करे (घी के बदले में) ॥ ३,४,५ ॥

प्रतिभयेऽध्वनि वस्त्रदशानां ग्रन्थीन् वधीतोपेत्य वस-
नवतः स्वाहाकारान्ताभिः सहायानाञ्च स्वस्त्ययनम् ॥६,७॥

'अध्वनि' मार्ग 'प्रतिभये' भयहेतुी उपस्थिते 'वसनवतः' महत्पारिषो पान्पञ-
नान् 'उपेत्य' तत्समीपं गत्वा 'स्वाहाकारान्ताभिः' ताभिरेव "अन्नं वा" (म० ब्रा० २, ६
१३-१५) इत्यादिभिस्तिष्ठतिः अग्निः 'वस्त्रदशानां ग्रन्थीन्' 'वधीत'। एतेन कर्मणा

‘सहायानां’ सहचारिणा मपि पथिकानां ‘स्वस्तपयनं’ भवेत्, किम्पुनः भयप्राप्तस्यै-
कस्य तस्येति ॥ ६, ७ ॥ अथ आचितसहस्रकामकर्म—

भा०—यदि रास्ते में दैवयोग से एकाएक किसी प्रकार का भय आपड़े,
तो ऋटिति महधारी मुसाफिर के पास हो कर पुर्योक्त “अन्नं वा” इन तीन
मन्त्रों से स्वाहाकारान्त जप करते हुए कपड़े के किनारे के सूत आदि बंधें।
इस से उक्त भय भीत व्यक्ति का भय तो दूर हो ही गा, किन्तु उस के साथी
पथिक गण को भी सङ्गल होगा ॥ ६, ७ ॥

आचितसहस्रकामोऽक्षतसत्त्वाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥८॥

ताभिस्तिमृभिः ऋग्भिः स्वाहाकारान्ताभिरेव, एकैकाहुतिर्हीतव्येति च ।
भा०—जो कोई सहस्र आचित (२५ मन अर्थात् एक गाढ़ी का दोग) की कामना
करे वह तीनों मन्त्रों से अक्षत-सत्त्व की १००० आहुति देवे ॥ ८ ॥

पशुकामो वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं जुहुयात् ॥९॥

पशून् गवादीन् कामयते यः पुरुषः, सः ‘वत्समिथुनयोः पुरीषाहुतिसहस्रं
जुहुयात्’ स्वाहाकारान्ताभिस्ताभिस्तिमृभिरेवग्भिरिति ।
भा०—यदि किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे गी आदि बड़े २ पशु हों, तो
वह दो बछड़े के सुखे गोवर से उक्त तीन मन्त्र द्वारा १००० आहुति देवे ॥९॥

अविमिथुनयोः क्षुद्रपशुकामः ॥ १० ॥

अविमिथुनयोः शुष्कैः पुरीषैरिति, ताभिस्तिमृभिः स्वाहाकारान्ता
भिरिति च । १० । अथ वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म—

भा०—जिस किसी को ऐसी इच्छा हो कि मुझे भेड़ आदि छोटे २ पशु हों तो
वह दो भेड़ के सुखे गोवर से उक्त तीन मन्त्रों से १००० आहुति देवे । १० ।

**वृत्त्यविच्छित्तिकामः कम्बुकान् सायंप्रातर्जुहुयात् क्षुधे
स्वाहा क्षुत्पिपासाभ्याथ्स्वाहेति ॥ ११ ॥**

‘कम्बुकान्’ तुषान् ; फलीकरणककशानिति टीकान्तरम् । अन्यद् व्या-
ख्यात मिवैव । ११ । अथ विपदोपनाशकामकर्म—

भा०—यदि किसी को यह इच्छा हो कि मेरी जीविका निरन्तर बनी रहे,
यह प्रतिदिन सायं प्रातःकाल “क्षुधेस्वाहा” मन्त्र से तुष की आहुति देवे । ११ ।
मा भैषीर्न मरिष्यसीति विपवता दष्ट मद्भिरभ्युक्षन्जपेत् ॥१२॥

'विषवता' सर्पैश्च, वृश्चिनादिना वा 'दण्ड' स्थानम् 'अद्भिः अभ्युक्षन्'
 "मा भैषीनं मरिष्यसि जरदष्टि भंघिष्यसि । रसं विषस्य नाविद् मुग्रं फेन नि-
 वास्यम्" १८ (म० ब्रा० २, ६ १८) इति मन्त्रं जपेत् । १२ अथ स्नातकस्वस्त्ययनकर्न-

भा०-विषधर सांप आदि के डसने पर, उस काटेडुए स्थान को धोकर
 "मामैषीनं" इस मन्त्रका जप करे । इससे सब प्रकारके विषदोष दूर होंगे ॥१२॥

तुरगोपांयेति स्नातकः संवेशनवेलायां वैणवं दण्ड मुप-
 निदधीत स्वस्त्ययनार्थम् ॥ १३ ॥

'स्नातकः' कृतसमावर्तनो द्वितीयाश्रनाय उद्युक्त. 'संवेशनवेलायां' श्रपन-
 समये 'स्वस्त्ययनार्थम्' "तुरगोपाय ना नाय गोपाय ना । अशस्तिभ्यो अरातिभ्यः
 स्वस्त्ययन मसि ॥ १९ ॥ (म० ब्रा० २, ६, १९)"-इति' मन्त्रेण 'वैणवं दण्ड'
 वंशयष्टिम् 'उप' समीपे स्वस्यैव 'निदधीत' स्थापयीत ॥१३॥ अथ क्रिमिनाशकामकर्म-

भा०-स्नातक गणा (पूर्वोक्त ३ प्रकार के) अपने कलवागार्थ, शयनकाल
 में "तुरगोपाय" इस मन्त्रसे वांसकी एक छड़ी वा लाठी अपने पास रखे ॥१३॥

हस्तस्ते अत्रिणा क्रिमिरिति क्रिमिमन्तं देश मद्भिर्भ्यु-
 क्षन् जपेत् ॥ १४ ॥

'क्रिमिमन्तं देशम्' ब्रणादिक मधुवदरादिकञ्च 'अद्भिः अभ्युक्षन्'* "हस्तस्ते
 अत्रिणा क्रिमि हंतस्ते जमदग्निना । गोतमेन तिनीकृतो ऽत्रैव त्या क्रिमे ब्रह्म-
 यद्यमवद्य ॥ १ ॥ भरद्वाजस्य मन्त्रेण, सन्ति नोसि क्रिमे त्या । क्रिमिश्चं ह वक्र-
 तोदिनं, क्रिमिमान्त्रानुचारिणाम् । क्रिमिं द्विशीर्षं मर्जुनं, द्विशीर्षंश्चं ह चतुर्हनुम्
 ॥ २ ॥ हतः क्रिमीणां द्युद्रको हता माता हतः पिता । शचीयां भिन्नकः कुम्भो य
 एषा विषधानकः ॥३॥ *** क्रिमि सिन्द्रस्य वाहुभ्या मवाह्यं पातयामसि । हता
 क्रिमयः साशातिकाः सगीलमक्षिकाः ॥ ४ ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, ७, १-४)"-इति'
 चतुर्ष्वं चं सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १४ ॥

भा०-जिस किसी (घाय, जलम आदि) स्थानमें कीड़े पड़गये हों उस स्थानको
 जल से धोकर "हस्तस्ते" इत्यादि चार मन्त्रों का जप करे; इसी से क्या पेट का,
 क्या किसी घाय के कीड़े क्यों न हों, सब ही कीड़े नष्ट हो जायेंगे ॥ १४ ॥

• अत्रि ऋषि ही ने सब से पहिले कृमिनाराज औषधि काविचार किया था, चाँड़े मरदण्ड, एव उस ने
 बाद गौतम ऋषि ने । •• भारद्वाज ऋषि के मन्त्रणा प्रभाव से अत्रिगुप्त औषधि की मशहदा से तीन प्रकार के
 मृदियों को नारा परता है ॥ ••• इन्द्रयव (अत्रिषि) से कृमिनाश नाम औषधि मे ।

[म०४ सं०२ सू०१३-१५, सं० १०मू०१-२] स्नातकस्वस्त्ययनादि कर्माणि ॥ २११

पशूनाञ्चेच्चिकीर्षेदपराह्णे सीतालोष्ट माहृत्य वैहायसीं
निदध्यात्तस्य पूर्वाह्णे पाथंशुभिः परिकिरन् जपेत् ॥१५॥६॥

तदेव क्रिमिनाशनं 'पशूनां' गृहपालितानां गवादीनां 'चिकीर्षेत्' चेत्, तर्हि
'अपराह्णे' काले 'सीतालोष्टं' लाङ्गलोत्पं लोष्टम् 'आहृत्य' 'वैहायसीं' दिशां
'निदध्यात्' शनावृत्ते ऊर्ध्वं स्यापयेदिति यावत् । ततो रात्रिप्रभाते 'पूर्वाह्णे'
एव काले 'तस्य' लोष्टस्य 'पांशुभिः' रजोभिः पशोः क्रिमिमन्तं प्रदेशम् 'परि-
'किरन्' त मेव सूक्तं, 'जपेत्' । एतेनैव पशूनां क्रिमिनाशो भवेदिति ॥ १५ ॥६॥
इतिसामवेदीयेगोभिलगृह्यसूत्रेषुचतुर्थप्रपाठकेनवमखण्डस्यव्याख्यानसमाप्तम् ॥४॥ ६॥

भा०:-यदि पशु आदिके कीड़ों को नाश करने की इच्छा हो, तो किसी
दिन दो पहर के पीछे, हल जोतने से जो डेला निकला हो, वह डेला लेकर
सुले मैदान में ऊपर की भूला रक्खे, उस के दूसरे दिन उस डेले को फोड़ कर
उपकी धूलि, जहां कीड़े पड़े हों, उस पर छीट २ कर उक्त ४ मन्त्र जप करे।
इसी से गो आदि पशु के मय प्रकार के कीड़े नष्ट हो जायेंगे ॥ १५ ॥ ६ ॥

गोभिलगृह्यसूत्रके चतुर्थ प्रपाठके नवम खण्डका अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ४, ६ ॥



उत्तरतो गां बह्वध्वोपतिष्ठेरन्मर्हणा पुत्रवाससेति ॥ १ ॥
इदमह मिमां पद्यां विराज मन्नाद्यायाधितिष्ठामीति प्रति-
तिष्ठमानो जपेद्यत्रैन मर्हयिष्यन्तः स्युर्यदा वाह्येयुः ॥ २ ॥

आचार्यादीनां पशूना मन्वतनस्य अर्हणीयस्य 'उत्तरतः' 'गां बह्वध्वा' "अ-
हंणां पुत्रवासमा धेनु रभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहा उत्तरा मुत्तराथंसमाम् ॥१॥
(म० ब्रा० २, ८, १)"- 'इति' मन्त्रं पठन्, तमर्हणीयम् 'उपतिष्ठेरन् ॥१॥ 'यत्र'
स्थाने 'एनम्' अर्हणीयम् 'अर्हयिष्यन्तः' शिष्यादयः 'स्युः' 'यदा वा' यस्मिंश्च
काले ते 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः, तत्रैव स्थाने, तदेव काले, सः अर्हणीयः आचार्या-
दीना मन्वतनः 'प्रतितिष्ठमानः' दण्डायमानः "इदमह मिमां पद्यां विराज
मन्नाद्यायाधितिष्ठामि" ॥ २ ॥ (म० ब्रा० २, ८, २)"- 'इति' मन्त्रं 'जपेत्' । २।
विष्टरादीनां पशूनां त्रिस्त्रिर्वेदनीयता माह, ।

भा०:-आचार्य्यं प्रभृति अर्हणीय व्यक्ति के उत्तर भाग में गौ बान्ध कर
रखे और "अहंणा पुत्र वाससा" मन्त्र से उन अर्हणीय व्यक्ति के आने पर
अनुमोदन करे ॥१॥ जिस स्थान में इन "अर्हणीय" व्यक्ति की पूजा करने के लिये

गिर्य आदि की इच्छा हो, एवं जिस समय अर्चना करनी सम्भव हो, उनी स्थान में उसी समय, अर्हणीय व्यक्ति खड़ा होकर “इदं महं मिनां” मन्त्र पढ़े ॥२॥
विष्टरपाद्यार्घ्याचमनीयमधुपर्कानिकैकशस्त्रिस्त्रिवेदयेरन् ॥३॥

विष्टरादीन् पञ्च ‘एकैकशः’ प्रत्येकं ‘त्रिः त्रिः’ उच्यते ‘वेदयेरन्’ निवेद-
येरन्, अर्हयितार इति शेषः ॥ ३ ॥ विष्टरग्रहणाविधिः ।

भा०:—विष्टर (बिछावन) पाद्य (पेर धोने का जल) अर्घ्य (हाथ धोने का जल) आचमनीय (कुल्ला करने का जल) और मधुपर्क (खाने की वस्तु) ये पांच, इन में से एक २ करके तीन २ बार निवेदन करे ॥ ३ ॥

या ओषधीरित्युदञ्जं विष्टर मास्तीर्याध्युपविशेत् ॥४॥
द्वौ चेत् पृथग्गृग्भ्याम् ॥ ५ ॥

‘अर्हणीयो जनः विष्टरं प्राप्य “या ओषधीः सोमराज्ञी बह्वीः शतविष-
क्षणाः । ता मस्य मस्मिन्नासनेऽच्छिद्राः शर्मन् यच्छत ॥ ३ ॥ ” “या ओषधीः
सोमराज्ञी विष्टिताः पृथिवीमनु । ता मस्य मस्मिन् पादयो रच्छिद्राः शर्मन्
यच्छत ॥ ४ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ३, ४)”—‘इति’ द्वयं सूक्तं पठन्, तं विष्टरम्
‘उदञ्जम्’ ‘उत्तरायम्’ कृत्वा आसने ‘आस्तीर्यं’ पातयित्वा, ‘अधि’ तदुपरि
‘उपविशेत्’ (आसने इति तु मन्त्रलिङ्गाद् ज्ञायते) ॥ ४ ॥ ‘द्वौ’ विष्टरी
प्राप्ती चेत्, द्वावेव तौ ‘पृथग्गृग्भ्यां’ पूर्वसूत्रोक्ते या ओषधीरिति सूक्ते श्रुताभ्यां
विभिन्नाभ्यां व्यवहार्यौ ॥ ५ ॥

भा०:—अर्हणीय व्यक्ति विष्टर पाकर “या ओषधीः” इन दो मन्त्रों का
पाठकर उत्तराय आसन पर बैठे ॥ ४ ॥ यदि पूजा करने वाला दो विष्टर
देवे तो, पूर्वोक्त दो मन्त्रों में से एक २ को पढ़कर इन दो विष्टरों को देवे ॥५॥

पादयोरन्यम् ॥ ६ ॥ यती देवीरित्यपः प्रेक्षेत ॥ ७ ॥
सर्व्यं पादं भवनेनिज इति सर्व्यं पादं प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

तत्र एकं विष्टरम् आमनोपरि आस्तीर्याध्युपविशेदित्युक्तम्, ‘अन्यम्’
द्वितीयं तु ‘पादयोः’ अथस्तात् आस्तीर्याध्युपविशेदित्येव । ६ । पाद्यग्रहण-
विधिः ॥ अर्हयित्रा पाद्याय दत्ताः ‘अपः’ ‘यती देवीः प्रतिपश्याम्यापस्ततो
या राद्धि रागच्छतु ॥ ५ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ५)”—‘इति’ मन्त्रं पठन् ‘प्रेक्षेत’
अर्हणीयो जन इति (पाद्यादिमन्त्रांत्यस्या एव टीकायाः परिशिष्टे) । ७ ।

“सद्यं पाद मघनेनिजे ऽस्मिन् राट्टे श्रियं दधं” ॥ ६ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ६)

‘इति’ पठन् अहंशीयः सः ‘सद्यं’ घामं ‘पाद’ प्रक्षालयेत् । ८ ।

भा०—एक विष्टर आमन पर डाले, दूसरा दोनों पैर के नीचे रखते ॥ ६ ॥ पूजा करने वाले से, जल पैर धोने के लिये दिये जाने पर, उम जल को “यतो देवी” इस मन्त्र से मान्य व्यक्ति निरीक्षर करे ॥ ७ ॥ अनन्तर वह मान्य व्यक्ति थोड़ा जल देकर “सद्यं पाद मघनेनिजे” इस मन्त्र का पाठ कर अपना घामा पैर धोवे ॥ ८ ॥

• दक्षिणं पाद मघनेनिज इति दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् ।
पूर्वं मन्य मपर मन्य सित्युभौ शेषेण ॥ १० ॥

ततः “दक्षिणं पाद मघनेनिजे ऽस्मिन् राट्टे श्रियमावेशयामि” ॥ ७ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ७) — ‘इति’ मन्त्रं पठन् न अहंशीयः ‘दक्षिणं पादं प्रक्षालयेत् । ८ । ‘शेषेण’ अवशिष्टेन पाद्योदकेन ‘उभौ’ पादोः मध्यदक्षिणौ एकत्रीकृत्य प्रक्षालयेत्, तत्र च “पूर्वं मन्य मपर मन्य सुभौ पादावघनेनिजे । राट्टस्य दूर्ध्वं अभयस्यावर्तुर्दूर्ध्वै” ॥ ८ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८) — इति मन्त्रः प्रयोक्तव्यः । १० । अर्घ्यग्रहणाविधिः ।

भा०—उस के पश्चात् “दक्षिणपाद मघनेनिजे” इस मन्त्र का पाठ कर अपना दहिना पैर धोवे ॥ ८ ॥ बाकी जल से दोनों पैर एकत्र धोवे इसी समय “पूर्वं मन्य” इस मन्त्र का पाठ करे ॥ १० ॥

अन्नस्य राष्ट्रिसीत्यर्घ्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥ यशोऽ-
सीत्याचमनीय माचामेत् ॥ १२ ॥ यशसो यशोऽसीति मधु-
पर्कं प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

“अन्नस्य राष्ट्रिसि राष्ट्रिस्ते भूयासम्” ॥ ९ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ८) — ‘इति’ मन्त्रं पठन्, स अहंशीयः, अर्हयित्रा दत्तम् ‘अर्घ्यम्’ प्रतिगृह्णीयात् । ११ । आचमनीयग्रहणाविधिः । “यशोऽसि यशो न्यि चेहि” ॥ १० ॥ (म० ब्रा० २, ८, १०) — ‘इति’ मन्त्रं पठन्, स अहंशीयः अर्हयित्रा दत्तम् ‘आचमनीयम्’ आचमनार्थं मुदकं गृहीत्वा ‘आचामेत्’ आचमनविधिना आचमन कुर्यादिति । मधुपर्कग्रहणाविधिः । ततोऽर्हयित्रा दत्तं ‘मधुपर्कं’ “यशसो यशोऽसि” ॥ ११ ॥ (म० ब्रा० २, ८, ११) — ‘इति’ मन्त्रं पठन् अर्हयिता प्रतिगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

भा०—“अन्नस्य राष्ट्रिसि” इस मन्त्र का पाठ कर वह मान्य व्यक्ति अर्ह-

यिता का दिया अर्घ्य ग्रहण करे ॥११॥ अनन्तर अर्हयिता (पूजक) द्वारा आचमनीय जल देने पर, उस जल से “यसोऽसि” इस मन्त्र से, पूर्वोक्त आचमन विधि अनुसार, मान्य व्यक्ति आचमन करे ॥ १२ ॥ उस के पश्चात् अर्हयिता ने ‘मधुपर्क’ दिये जाने पर मान्यव्यक्ति “ यशसो ” यह मन्त्र पढ़ कर उठे ग्रहण करे ॥ १३ ॥

यशसो भक्षोऽसि महसोभक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि त्रियं मयि धेहीति त्रिः पिवेत्तूष्णीं चतुर्थम् । १४, १५ ॥

शहीतञ्च तं नधुपर्कं “यशसो भक्षोऽसि महसो भक्षोऽसि श्रीर्भक्षोऽसि त्रियं मयि धेहि ॥ १२ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १२,)”-‘इति’ मन्त्रेण “त्रिः” त्रिवारं ‘पियेत’ ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रक मेव ‘चतुर्थं’ पान मिति ॥ १४, १५ ॥

भा०-निये हुये उस मधुपर्क को “यशसो” इस मन्त्र का तीनवार पाठ करे एवं उस के अनन्तर चतुर्थ वार विना मन्त्र पढ़े पान करे ॥ १४, १५ ॥

भूय एवाभिपाय शेषं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १६ ॥

मधुपर्काधिक्यञ्चेत् ‘भूयः’ पुनरपि पञ्चमवार मपि अमन्त्रक मेव ‘अभिपाय’ ‘शेषं’ पानावशिष्टं ‘ब्राह्मणाय’ श्रद्धावते यस्मै कस्मै चित् ‘दद्यात्’ । १६ बह्वुगोमुक्तिप्रकारः

भा०-यदि मधुपर्क अधिक प्राप्त हो जावे, (जो चार बार पीने पर भी न निघटे) तो पञ्चम वार भी पीवे, इस वार भी मन्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं ॥ १६ ॥

आचान्तोदकाय गौरिति नापितस्त्रिभ्रूयात् ॥ १७ ॥

ततश्च ‘आचान्तोदकाय’ स्वस्थचित्ताय अर्हणीयाय ‘नापितः’ गवादेर्विगसिता ‘गौः’-इति पदं ‘त्रिः’ त्रिवारं ‘भ्रूयात्’ । वारत्रयगोपदोद्धारणमात्रेऽङ्गितेन बद्ध्वा गौरिदानी मालाव्यव्या न ‘वा ?’ इति अर्हणीय मुद्दिश्य विगसिता नापितः पृच्छेदिति । १७ । ततस्तं नापितं किं प्रतिभ्रूयादित्याह ।

भा०-पीछे जय यह मान्य व्यक्ति मुँह आदि धो कर स्वस्थ चित्त दीये, तब गख्र हाथ में ले नापित आकर उन मान्य व्यक्ति को तीनवार ललनाये, “गौ । ” अर्थात् इसी समय क्या गौ काटनी पड़ेगी ? (यही इङ्गित के विज्ञाना करे) ? ॥ १७ ॥

[प्र० ४ खं० १० सू० १४-२३] मधुपर्कदहनविधिर्वदुनोमुक्तिप्रकारश्च २१५

मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विपन्तं मेऽभिधेहीति तं जह्य-
मुष्य चोभयोरुत्सृज गा मत्तु तृणानि पिवतूदकमिति ब्रूयात् १८

“मुञ्च गां वरुणपाशाद् द्विपन्तं मेऽभिधेहि ॥१३ ॥ (म० ब्रा० २, ८, १३)”

—‘इति’ मन्त्रं “तं जह्यमुष्य, चोभयो * रुत्सृज, गा मत्तु तृणानि, पिवतूदकम्
॥ १४ ॥ (म० ब्रा० १, ८, १५)”—‘इति’ मन्त्रं च तं नापितं ब्रूयात्—इमौ
मन्त्रौ पठन् हंशीयो गोमोचनापादेशं कुर्यादिति ॥ १८ ॥

भा०—अनन्तर नापित के उत्तर में मान्य व्यक्ति “मुञ्चगां” मन्त्र एवं “तं
जह्यमुष्य” मन्त्र, इन दो मन्त्रों को पढ़ कर गौ छोड़ने की आज्ञा देवे ॥१८॥

माता रुद्राणा मित्यनुमन्त्रयेत् १९। अन्यत्र यज्ञात् ॥२०॥

तादृशादेशेन मुक्तायां गवि ता मेव गा मवलोक्य न हंशीय एव “माता
द्राणां दुहिता वसूनाथं स्वसादित्याना ममृतस्य नाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे
नाय सा गा मनागा मदिति वधिष्ट ॥ १५ ॥ ८ ॥ २ (२, ८, १५)—‘इति’
प्रनेन मन्त्रेण अनुमन्त्रणं कुर्यादिति । १९ । गवालम्भनागालम्भनयोर्व्यव-
थामाह—‘यज्ञात्’ यज्ञः श्रौतसूत्राद्यनुभारतोऽनुष्ठेयो ज्योतिष्टोमादिः, तस्मात्
अन्यत्र’ गृह्यसूत्रोक्तविवाहादी पूर्वोक्तो गोमोचन-विधिः विद्यादिति ॥ २० ॥

भा०—मान्य व्यक्ति की उसप्रकार की आज्ञा सुन, वधार्थ यांधी गौ को खूटेसे
नापित छोड़ दे, मान्य व्यक्ति, “माता रुद्राणां” इन मन्त्र से उसगौ को अनु-
मन्त्रण करे ॥१९॥ श्रौतसूत्रानुसार जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अनुष्ठित होते,
उस से भिन्न स्थान में, अर्थात् गृह्य सूत्रोक्त विवाह आदि संस्कार में, उक्त गौ
मोचन व्यवस्था समझनी चाहिये ॥ २० ॥

कुरुतेत्यधियज्ञम् । २१ । षडध्यार्हा भवन्ति । २२ । आ-

चार्य ऋत्विक् स्नातको राजा विवाह्यः प्रियोऽतिथिरिति । २३ ।

‘अधियज्ञम्’ यज्ञम् अधिकृत्य आदेशवचनं तु ‘कुरुत’ बहुवायाः तस्याः गाः
आलभनम् ‘इति’ एव । २१ । अहंशीयपरिगणनम्—अध्यार्हाः अर्घ्यप्राप्तियो-
ग्याः ‘षट्’ एव भवन्ति । २२ । के ते ? इत्याह,—‘आचार्यः’ कल्पादिसहितसम-
प्रवेदाध्यापकः, ‘ऋत्विक्’ होत्रादीना मन्यतमः, ‘स्नातकः’ कृतसमावर्तनाङ्ग-
स्नानः, ‘राजा’ अभिषिक्ती राज्ये, ‘विवाह्यः’ विवाहं कर्तुं मागतः, ‘प्रियोऽतिथिः’
विद्यादिगुणवानभ्यागतः—इति षट् । २३ । अहंशकालनिर्णयं करोत्याचार्यः ।

भा०—यज्ञ में—खूटे में इसप्रकार वंधेहुए गौको मोचनार्थ पूंछने पर “करो”

अर्थात् उस "गौ" को बध करो" यही आदेश करना चाहिये ॥२१॥ छः व्यक्ति-मान्य वा अर्हणीय होने हैं ॥२२॥ आचार्य, ऋत्विग्, स्नातक, राजा, वर और गुणवान् अतिथि, ये छः व्यक्तिमान्य अर्हणीय है ॥२३॥

परिसंवत्सरानर्हयेयुः । २४ । पुनर्यज्ञविवाहयोश्च पुनर्यज्ञविवाहयोश्च ॥ २५ ॥

'परिसंवत्सरान्' वीप्सायां परि; संवत्सरान् प्रतीति यावत् । तथाच प्र-तितृतीयादिवर्षान्ते तानाचार्यादीनहंशीयान् 'अर्हयेयुः' पूजयेयुः शिष्यादय इति । २४ । संवत्सरत्रयमध्येऽप्याह । यज्ञे विवाहे च समागतान् तान् संवत्सरत्रयमध्ये 'पुनः' 'च' अपि अर्हयेयुरित्येव । द्विवचन मध्यायसनात्सिद्धक-निति शम् । २५ ॥ १० ॥

इति सामवेदीये गोभिलगृह्यसूत्रे चतुर्थप्रपाठके दशमस्य खण्डस्य व्याख्यानं सामग्रमिकृतं समाप्तम् ॥ ४ । १० ॥

॥ चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

भा०-अन्पून प्रति-तीसरे वर्ष के अन्त में आचार्य आदि की पूजा करे ॥ २४ ॥ यज्ञ और विवाह के अवसर पर-मान्य लोग (उक्त छः) तीन वर्षके बीच में भी (जब अहुरत हो) यदि आवें तौ उन का यथावत् सत्कार करो ॥२५॥

गोभिलगृह्यसूत्र के चतुर्थ प्रपाठक के दशम खण्ड का भाषानुवाद समाप्त हुआ । चतुर्थ प्रपाठक भी समाप्त हुआ और गोभिलगृह्यसूत्र भी समाप्त हुआ ।

श्रीमान् माननीय बाबू शिवराम सिंह जी के कनिष्ठ पुत्र क्षत्रियकुमार उदयनारायण सिंह (मधुरापुर डा० विद्दू-पुर ज़ि० मुज़फ्फ़रपुर) कृत गोभिलगृह्यसूत्र का भाषानुवाद पूरा हुआ ।



टीकापरिशिष्टम् ॥



इह गृह्यसूत्रे यानि कानिचित् दुर्बोधपदादीनि विद्यन्ते, तेषां
मर्थादिवोधनायेदम् ।

गृह्याकर्माणि ॥ १ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“पत्न्यः पुत्राश्च कन्याश्च जनिष्याद्यापरे सुताः । गृह्या इति समाख्याता
यजमानस्य दायकाः ॥ ३५ ॥ तेषां संस्कारयोगेन शान्तिकर्मक्रियासु च । आ-
चार्यविहितः कल्पस्तस्माद् गृह्या इति स्थितिः” ॥३६॥ इति गृह्यासङ्ग्रहः ॥१॥

एवञ्च गोभिलाचार्यप्रणीता इयं स्मृतिः ‘गृह्या’-इत्युच्यते, तस्यां यानि
कर्माणि वक्ष्यमाणानि, तान्येव गृह्याकर्माणि । इत्येकोऽर्थः । अपरार्थस्तु मूलेन
साकमेव मुद्रितः । केचित्तु ‘गृह्या’-इति कर्माणीत्यस्य विशेषणं, पृथक् पदं, सु-
पासुलुगित्यात्वेच रूप मिति मन्यन्ते, तथाच ‘गृह्येऽग्नौ अनुष्ठेयानि कर्माणि’
इति तृतीयोऽर्थः सरूपद्यते ।

अन्वाहार्यवन्ति ॥५॥ प्र० १ खं० १ ।

“यत् श्राद्धं कर्मणा मादौ या चान्ते दक्षिणा भवेत् । अमावास्यां द्वितीयं
यत् अन्वाहार्यं तदुच्यते ॥” क० प्र० ३ । अन्वाहार्यं विद्यते येषां कर्मणा तानी-
मानि अन्वाहार्यवन्ती-त्यर्थः । तत्रापि विशेषोऽस्ति, तथाह्युक्तं कर्मप्रदीपे-
“नाष्टकासु भवेच्छ्राद्धं न श्राद्धे श्राद्ध मित्यते । न सोष्यन्ती-जातकर्म-प्रोपिता
गत-कर्मसु ॥”-इत्यादि ।

अभिरूपभोजनम् ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“यत्र विद्या च वित्तं च सत्यं धर्मं शनो दमः । अभिरूपः स विज्ञेयः
स्वाश्रमे यो व्यवस्थितः ॥” गृ० स० २ । १२

अन्त्यां समिधम् ॥ ७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“आचार्येणाभ्यनुज्ञात आचार्याग्नौ विधिर्यथा । प्रणीतेऽग्नौ समिद्ध्याद-
न्त्या सा ब्रह्मचारिणाम् ॥” गृ० २ । १८ “नाड्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित्स्थू-
लतया क्वचित् । न विद्युक्तवधा चैव न सकीटा न पाटिता । प्रादेशान्नाधिका नोना
न तथा स्याद्विशिष्टा । न सपर्णा न निर्वायां होमेषु च विजानता क० प्र० १ ।

अभ्युक्षेत् ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतम् । न्यक्षताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरश्चाधो-
क्षणं मतम् ॥” शृ० १ । १०३ भा०

लक्षणावृत् ॥ १० ॥ प्र० १ खं० १ ।

अथाहरणाद्यभ्युक्षणान्तं लक्षणं मुच्यते, तस्य आवृत् रीति रिति । गृह्या-
संग्रहे तु—“लक्षणं तत् प्रवक्ष्यामि प्रमाणं दैवतञ्च यत् ॥४७॥ XXXXतस्मात् फलेन
पुरपेण पर्शेनाथ कुशेन वा । प्रोल्लिखेल्लक्षणं विप्रः सिद्धिकामस्तु कर्मसु ॥ ४८ ॥
सर्व्यं भूमौ प्रतिष्ठाप्य प्रोल्लिखेद् दक्षिणेन तु । तावन्नोत्थापयेत् पार्श्वं यावद-
ग्निं निधापयेत् ॥ ४९ ॥ प्राग्गता पार्थिवी ज्ञेया आग्नेयी चाप्युदग्गता ।
प्राजापत्या तथा चैन्द्री सौमी च प्राक्कता स्मृता ॥ ५० ॥ उत्तरं गृह्य रेखा-
भ्योऽरत्रिमात्रे निधापयेत् । द्वारमेकन्तु द्रव्याणां प्राग्गुदीच्यां दिशि स्मृतम् ॥५१॥
पार्थिवी चैव सौमी च लेखे द्वे द्वादशाङ्गुले । एकविंशतिराग्नेयी प्रादेशिन्ये
उभे स्मृते ॥ ५२ ॥ षडङ्गुलान्तराः कापो आग्नेयी सहितास्तु ताः । पार्थिवा-
यास्तु रेखायास्त्रिस्तु उत्तरोत्तराः ॥ ५३ ॥ शुक्रवर्णा पार्थिवी स्यादाग्नेयी,
लोहिता भवेत् । प्राजापत्या भवेत् कृष्ण नीलामैन्द्रीं विनिर्द्दिशेत् ॥ ५४ ॥
पीतवर्णेन सौमी स्याद्रेखाणां वर्णलक्षणम् । एष लेखविधिः प्रोक्तो गृह्याकर्मसु
सर्वसु ॥ ५५ ॥ सूहमास्ता ऋजवः कार्यो लेखास्ताः सुसमाहिताः ॥” ५६ ॥ १ ।

अग्निं प्रणयन्ति ॥ ११ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“कपालैर्भिक्षपात्रैर्वा न त्वामैर्गोमयेन वा । अग्निप्रणयनं कार्यं यजमान
भयावहम् ॥ ६४ ॥ अरूपः प्रणीतो विच्छिन्नोऽसमिद्धश्चापरिश्रुतः । त्वरया पुन-
रानीतो यजमानभयावहः ॥ ६५ ॥ तस्माच्छुभेन पात्रेण अविच्छिन्नाकृशं बहु ।
अग्निप्रणयनं कुर्यात् यजमान-सुखावहम् ॥ ६६ ॥ शुभं पात्रन्तु कास्यं स्यात् ते-
नाग्निं प्रणयेद् युधः । तस्याभावे शरावेश भवेनाभिमुखञ्च तम् ॥” ६७ ॥ शृ० सं० १ ।

अग्निसमाधानम् ॥ १४ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“आधानस्य तु चत्वार उक्ताः कालाः पृथक् पृथक् । (१) अन्तर्यां समिद्ध,
(२) विवाहश्च, (३) विभागः, (४) परमेष्ठिनः ॥” शृ० सं० १ । ७६ गोभिलीया-
नान्तु त्रयएव कालाः । विभागकालस्तु गौतमीयानाम् ।

मथित्वा ॥ १७ ॥ प्र० १ खं० १ ।

अरणिद्वयमिति श्रेयः । अरणिद्वयलक्षणं त्वेषम्,—“अश्वत्थो यः शमीगर्भः

प्रशस्तोर्वीसमुद्रयः । तस्य या प्राङ्मुखी शाखा वोदीपी वोर्ध्वगापि वा । अरणि-
स्तन्मयी प्रोक्ता, तन्मध्येवोत्तरारणिः” ॥ इत्यादि क० प्र० १ “देवयोनिः स
विज्ञेयस्तत्र मशयो हुताशनः ।” गृ० सं० १ । ८०

उदिते, अनुदिते ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० १ ।

“रेसामात्रं तु दृश्येत रश्मिभिश्च सनन्वितम् । उदयं तं विजानीयात् होमं
कुर्वाद् विचक्षणः ॥” गृ० सं० १ । ७५ “रात्रेः षोडशमे भागे ग्रहनक्षत्रभूपिते ।
अनुदयं विजानीयाद् होमं तत्र प्रकल्पयेत् ॥” गृ० सं० १ । ७३ समयाध्युषितकाले
ऽपि होमो मन्वादिभिरुपदिष्टः, परं न तत्कौघुमानाम्, गोभिलानुक्तैः । तत्का-
लनक्षणं त्वेत्रम्,—“ततः प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविचिम्बं न दृश्येत
समयाध्युषितं स्मृतम् ॥” गृ० सं० १ । ७४

यज्ञोपवीतम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० २ ।

“त्रिषुदूर्ध्वं घृतं कार्यं तन्तुत्रय मघोषृतम् । त्रिघृतञ्चोपवीतं स्यात् तस्यैका
ग्रन्थिरिष्यते ॥” क० प्र० १ “यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्रेण नवतान्तवम् * * * *
* । द्विगुणं त्रिगुणं वापि एकग्रन्थिकृतं विदुः ॥” गृ० सं० १।४८-३१ ॥

जुहुयात्, कृतस्य, अकृतस्य ॥ ६ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“होमपात्र मनादेशे द्रवद्रव्ये स्तुवः स्मृतः । पाणिरवेतरस्मिंस्तु स्तुचा चात्र
न हूयते ॥” क० प्र० १ “यवप्रोक्ष्यकृतं ज्ञेयं तण्डुलादि कृताकृतम् । ओदनं तु
कृतं विद्यात् न तस्य करणं पुनः ॥” गृ० सं० १।९३ ॥

चरुस्थाल्या, सूत्रेण ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० २ ।

“तिथंगूदूर्ध्वं समिन्मात्रा दृढा नातिदृहन्मुखी । मृन्मयीहुम्बरी वापि
चरुस्थाली प्रशस्यते ॥” क० प्र० २ “सादिरो वाण पाणौ वा द्विवितस्तिः स्तुवः
स्मृतः । स्तुक् याहुमात्रा विज्ञेया घृतस्तु प्रग्रहस्तयोः ॥ स्तुवाग्ने प्राणवत् खातं
द्वेषङ्गुष्ठपरिमण्डलम् । जुह्वाः शराववत् खातं, स्तुचद्याहुं पडङ्गुलम् ॥” क० प्र० १

अपराजितायां ॥ ९ ॥ प्र० १ खं० २ ।

प्रक्रमणे तथोद्वाहे होमेष्विष्टकृते तथा । यस्यां दिशि विधिं प्राहुस्तामा-
हुरपराजिताम् ॥” गृ० सं० २।७८ ॥

उपाथंशु ॥ १८ ॥ प्र० १ खं० ३ ।

“शनैश्चारयेन्मन्त्रं मीपदीप्तौ प्रचालयन् । किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्याद्
पांशु म जपः स्मृतः ॥” म०

अतिथिभिः ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

एकरात्रं हि निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः । अनित्यं हि स्थितो यस्मात्त-
स्मादतिथिरुच्यते ॥” मनुः ३।१०२ ॥

फलीकरणानाम्, आचामस्य ॥ ३१ ॥ प्र० १ खं० ४ ।

“कञ्चुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकङ्कुगाः ॥” शृ० भा० “श्रीदत्तायद्रवं प्राहु-
राचामं हि गनीपिणः ॥” शृ० भा० ॥

सन्ध्यां उपवसन् ॥ ३ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

“अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः । सा च सन्ध्या समाख्यात-
मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥” उपवासदिनकर्त्तव्यताकर्त्तव्यते स्वयमेवोक्ते “उपाव-
त्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशोप-
णम् ॥” इति च स्मृत्यन्तरम् ।

पूर्णः ॥ १०, ११ ॥ प्र० १ खं० ५ ।

“राकामध्यगतश्चन्द्रः पूर्ण इत्यभिधीयते” ।

स्थण्डिलं, इध्मान्, मेक्षणम्, औपवसथिकम् ॥ १३-१६ प्र० १ खं० ५

“वेदिः परिष्कृता भूमिः समे स्थण्डिलचत्वरे ।” इत्यमरः । “प्रादेशद्वयमि-
ध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम् ।” क० प्र० २ ॥

“इध्मः सन्नहनादानं चरुप्रपण मेव च । तूष्णीं मेतानि कुर्वीत समस्तश्चै-
ध्म माददेत् ॥” शृ० सं० १ । १०२ “इध्मजातीय मिध्माहुं प्रमाणं मेक्षणं भवेत्
वृत्तघ्नाङ्गुष्ठपृथ्वप्र मङ्दानक्रियाक्षमम् ॥ एयैव दर्वी यस्तत्र विशेषस्त महंश्रुवे
दर्वी द्वयङ्गुलपृथ्वया तुरीयो नन्तु मेक्षणम्”-इति क० प्र० २

औपवसथिकं नाश्राति-इत्यादि ॥ १-६ ॥ प्र० १ । खं० ६ ।

उपवासदिननियमितखाद्यमौपवसथिकमित्यर्थः । तच्चोक्तं,-“लवणं मधु
मांसञ्च क्षारांशो येन भूयते । उपवासे न भुञ्जीत नोरुरात्री कथञ्चन ॥” क० प्र० ३
अतएवाह स्मृतिः,-“शुद्धस्थो ब्रह्मचारी च यस्त्वनश्रंसत्पश्येत् । प्राणाग्निहोत्र
लोपेन अवकीर्णा भवेत्तु सः ॥”-इति, “अनङ्गान् ब्रह्मचारी च आहिताग्निश्च
ते त्रयः । अन्नन्त एव सिध्यन्ति तेषां सिद्धिरनश्रताम् ॥”-इति च ।

दर्भवट्म् ॥ २१ ॥ प्र० १ खं० ६ ।

“ऊर्ध्वमेगो भवेद् ब्रह्मा लम्बकेशरतु विष्टरः । दक्षिणावर्त्तको ब्रह्मा
वामावर्त्तः तु विष्टरः ॥ कतिभिश्च कुगेर्ब्रह्मा ? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ? पञ्चा-

शङ्खः कुशैर्ग्रन्था तदद्भुतं च विष्टरः ॥” गृ० १ । ८८, ८९” द्विरावृत्त्याय मध्ये द्वै
 अर्द्धं वृत्त्यान्त देगतः। ग्रन्थिः प्रदक्षिणावर्त्तः स व्रत्तग्रन्थिसंज्ञकः ॥”-इति पु०
 “यद्वास्तुनि मुष्ट्याञ्च स्तस्ये दर्भवटी तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरा-
 स्तरणेष्वपि ॥”-इति च क० प्र०

उलूखलमुसले, शूर्पम् ॥ १ ॥ प्र० १ खं० ७

“मुसलीलूखले यार्त्तं स्वायते सुष्टे तथा । इच्छामरणे भवतः शूर्पं वैशाघ
 मेव च ॥”-इति क० प्र० २

हविर्निर्वपति ॥ २ । ३ ॥ प्र० १ खं० ७

“ब्रूहाकर्मणि सीमन्ते यश्च पाकः सदा गृहे । विवाहे चैव लाजानां नो-
 क्तो निर्वपणो विधिः ॥” गृ० स० २ । ३९

अभिचार्योद्वास्य प्रत्यभिचारयेत् ॥ ८ ॥ प्र० १ खं० ७

“पवित्रान्तर्हितं कृत्वा चरुं प्राज्ञोऽभिचारयेत् । उद्वास्य चैवं विधिना एवं
 तन्त्रं न लुप्यते । चतुर्मुष्टिश्चरुः कार्यश्चतुर्णांमुत्तरोऽपि वा ॥” गृ० स० २ । ६९

परिधीन् ॥१६॥ प्र० १ खं० ७

“वाहुमात्राः परिधय ऋजवः सत्वचोऽध्रणाः । त्रयो भवन्त्यशीर्णांघ्रा
 एकेषास्तु चतुर्दिशम् । प्रागप्राघभितः पश्चादुदगग्र मथापरम् । न्यसेत् परिधि
 मन्यश्च उदगग्रः स पूर्वतः ॥” क० प्र० २

प्रणीता ॥ १७ । १८ ॥ प्र० १ खं० ७

“विहितप्रतिपिद्वाङ्ग प्रणीतां नोपकल्पयेत् ॥” गृ० स० १ । ९६

आज्यं, सर्पिस्तैलं दधि पयो यवागूं वा ॥ १९।२० प्र० १ खं० ७

“धाग्निना चैव मन्त्रेण पवित्रेण च चक्षुषा । चतुर्भिरेव यत् पूतं तदाज्य
 मितरहं घृतम् ॥१०६॥ घृतं वा यदि वा तैलं, पयो वा यदि यावकम् । आज्य-
 स्थाने नियुक्ताना मान्यशब्दो विधीयते ॥ १०७ ॥ आज्यानां सर्पिरादीना सं-
 स्कारे विधिबोदिते । अनधिप्रयणं दध्नः शेषाणां अयणं स्मृतम् ॥ १०८ ॥ यथा
 सीमन्तिका नारी पूर्वगर्भेण संस्कृता । एव मान्यस्य संस्कारः संस्कारे विधिभो-
 दिते ॥” १०९ ॥ इति गृ० स० १ ।

पवित्रे ॥ २१-२३ ॥ प्र० १ खं० ७

“अनन्तगर्भिणं सायं कौशं द्विदल मेव च । प्रादेशमात्रं विष्टर्यं पवित्रं यत्र
 कुत्रचित् ॥” क० प्र० १

सम्पूय, उत्पुनाति ॥ २४ ॥ प्र० १ खं० ७

“पवित्र मन्तरे कृत्वा स्यात्स्या भाउयं समावपेत् । एतत् सम्पूयनं नाम पश्चादुत्पयनं स्मृतम् ॥” गृ० सं० १ । १०६

आज्यम् ॥ २६ ॥ प्र० १ खं० ७

आज्यसहितं गाज्यपात्रं गाज्यस्थाली मिति यावत् । “आज्यस्थाली च कर्तव्या तैजमद्रव्यसम्भवा । महीजयी वा कर्तव्या सर्वांस्वाज्यहुतीषु च ॥ आज्यस्थाल्याः पश्चात् तु यथाक्रमं तु पारयेत् । सुहृदा मद्रणां भद्रा गाज्यस्थालीं प्रचक्षते ।” गृ० सं० २

उपघातम् ॥ २ ॥ प्र० १ खं० ८

“पाणिना मेरुलोनाय सुषेलेषु तु यद्वृषिः । हूयते चानुपस्तीर्य उपघातः स उच्यते ।” इति गृ० सं० १ । १११

महाव्याहृतिभिः ॥ २ प्र० १ खं० ८

“भ्राद्यास्तिस्त्र एथैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः” । इति क० प्र० ब्रीहयः शालयो मुद्गा गोधूमाः सर्पपास्तिलाः । यवाञ्चीपथयः सप्त विपदी प्रन्ति धारिताः ॥—इति क० प्र० भा० ।



सुरोत्तमेन ॥ १ ॥ प्र० २ खं० १

‘सुरा’--इति निघण्टौ उदकनामसु (१ अ० १२ खं०) पाठभेदेन पञ्चविंशतितमं पदं मस्ति, तदेवात्र ग्राह्यं मित्याधुनिकानाम् । परं तत्र तथा निगमादर्शनात् उदकार्यस्य सुराशब्दस्याभाव एवानेकेषां मतएवात्र;—

“स्ववर्णाभिरनिन्द्याभिरद्भिरक्षतमिश्रितैः स्नानं चतुर्भिः कलशैः स्त्रीभिः स्त्री यत्र प्लावनम् ॥१५॥ गौडी पौष्टी च माध्वी च विद्येयास्त्रिविधाः सुराः । पाणिकर्मणि गौडी स्यात् सत्या माध्वघमा सुराः ॥” १६ ॥ इति गृ० सं० २ ।

प्राजनेन, ध्रुवणा मपां, लाजाम् ॥ १३-१६ ॥ प्र० २ खं० १

“अवसिक्तन्तु विधिना पाणियाहन्तु प्राजनी । रक्षणार्थं मनुगच्छेत् सप्ताहं ज्यह मेव वा ॥” गृ० सं० २ । ३५ “सहानदीषु या आपः कौप्यान्याश्च हरेषु च । गन्धवर्णरसैर्युक्ता ध्रुवास्ता इति निश्चयः ॥ ” गृ० सं० २ । २५ “अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते । भृष्टास्तु ब्रीहयो लाजा घटा खाण्डिक उच्यते ॥” क० प्र० ३

प्रपदेन ॥ ६ ॥ प्र० २ खं० २

“पादाग्रं प्रपदम्”—इत्यमरः २। ६। ७१।

प्रदक्षिणमग्निं परिणयति ॥ ४-१० ॥ प्र० २ खं० २

“लाजानाज्यं स्रुधं कुम्भं प्राजनाशमान मेव च । प्रदक्षिणानि कुर्वीत द-
म्पती तु धिना ग्रही ॥” गृ० स० २। २९ ‘ग्रही’—इति उदकप्राहम्प्राजमप्राहञ्च
विनेत्यर्थः ।

अनुमन्त्रयते ॥ ११ ॥ प्र० २ खं० ३

“स्पृशन्नानामिकाप्रण क्वचिदालोक्यन्नपि । अनुमन्त्रणीयं सर्वत्र सर्वदैवानु-
मन्त्रयेत् ॥” इति क० प्र० ।

अर्घ्यम् ॥ १४ ॥ प्र० २ खं० ३

“पृथ्वाहो भवन्ति”—इत्यादि वक्ष्यत्याचार्यः स्वय मेव (४। १०। २२)

हविष्यम् ॥ १७ ॥ प्र० २ खं० ३

“अयुक्त मल्लमवगौरपर्युपित मेव च । हविष्य मेतदन्नाद्य मसुरैरप्यसंयु-
तम् ॥” गृ० स० २। ७६

नदीः ॥ २ ॥ प्र० २ खं० ४

“मासद्वयं श्रावणादि सर्वा नद्यो रजस्वलाः । तासु स्नानं न-कुर्वीत वर्ज-
यित्वा समुद्रगाः ॥ धनुः सहस्राययष्टौ च गतिपांसां न विद्यते । न ता नदी
शब्दवहा गतांस्ते परिकीर्त्तिताः ॥” क० प्र० १

स्रुवसम्पातम्, ह्रासयित्वा ॥ २-६ ॥ प्र० २ खं० ५

“हुत्वाज्यं परिशेषेण यद् द्रव्य मुपकल्पितम् । स्रुवेणैव तु तत् स्पृष्टं स-
म्पातं चैव तं विदुः ॥” गृ० स० १। ११४ “ब्रह्मर्त्तनं नखच्छेदो रोमच्छेदन मेव
च । स्नंसनं मेखलायाश्च ह्रासनानि विदुर्बुधाः ॥” गृ० स० २। ३८

न्यग्रोधशुद्धां, व्रतवती, ब्रह्मन्धूः ॥ ६-१२ ॥ प्र० २ खं० ६

“लताग्रपल्लवो मुधनः शुद्धेति परिकीर्त्तयते ।

पतिव्रता व्रतवती ब्रह्मबन्धूस्तथाश्रुतः ॥” क० प्र० ३

शलादुग्रन्थम् ॥ ४ ॥ प्र० २ खं० ७

“शलादु नील मित्युक्तं ग्रन्थः स्तवक उच्यते ॥”—इति क० प्र० ३

“श्रामे फले शलादुः स्यात्”—इत्यमरः २। ४। १५

दर्भपिञ्जलीभिः, ॥ ५ ॥ प्र० २ खं० ७

“एतत्प्रमाणा भवेके कौशी भेवार्द्रमञ्जरीम् । शुष्कां वा शीर्षं कुसुमां पि-
ञ्जुलीं परिषत्ते ।”—क० प्र० १ ‘एतत्प्रमाणा’ प्रादेशप्रमाणा मिति यावत् ।

वीरतरेण, शलल्या ॥६, ८॥ प्र० २ खं० ७

“त्रिभिःश्वेतैश्च शलली, प्रोक्तो वीरतरः शरः ।” गृ० सं० १ । ८५

“श्वामिच्छलाका शलली तथा वीरतरः स्मृतः ।” क० प्र० ३

कृसरः ॥६॥ प्र० २ खं० ७

“तिलतण्डुलसम्पक्कः कृसरः सोऽभिधीयते ।” क० प्र० ३

कपुष्णिकां, कपुच्छलम् ॥१८, १९॥ प्र० २ खं० ८

“कपुष्णिकाभितः केशा मूद्घर्त्ति पश्चात् कपुच्छलम् ।” इति क० प्र० ३

यथागोत्रकुलकल्पम् ॥ २५ ॥ प्र० २ खं० ८

“दक्षिणाकपर्दाः शिष्टा आत्रेयास्त्रिकपर्दिनः ।

आङ्गिरसः पञ्चषट्ठा मुण्डा भृगोः शिखिनोऽन्ये ॥” गृ० सं० २ । ४७

उपनयेत् ॥१॥ प्र० २ खं० १०

“गृह्योक्तकर्म्मणा येन समीपं नीयते गुरोः ।

बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयनं विदुः ॥”—इति स्मृ०

श्रेणेरौरवाजानि ॥६॥ मुञ्जकाशताम्बल्यः ॥१०॥ प्र० २ खं० १०

“अनृचो भाणवको ह्येषः, एषाः कृष्णामृगः स्मृतः ।

रुर्गौरमृगः प्रोक्तः, ताम्बलः शृणा उच्यते ॥” क० प्र० ३

स्नानम् ॥२०॥ प्र० ३ खं० १

जलक्रीडादिपूर्वकं मज्जनमेव स्नानमिहेष्यते । “न गात्रोत्सादनं कुर्यादना-
पदि कषण्ण । जलक्रिया मलह्वारं व्रतो दम्य इवाहवेत् ॥” क० प्र० ३

वरः ॥ ४५ ॥ प्र० ३ खं० २

“गौर्विशिष्टतमा विप्रैर्वेदेष्वपि निगद्यते । न ततोऽन्यद् वरं यस्माद् तस्माद्-
गौर्वर उच्यते ॥” इति क० प्र० ३

अक्षतधानाः ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ३

“अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भृष्टा धाना भवन्ति ते ।” क० प्र० ३

पक्षिणीम् ॥ ११ ॥ प्र० ३ खं० ३

“द्वायह्रावेकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते ।” इति शु०

निर्घाते ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ३

टीकापरिशिष्टम् ॥

“यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुताहतः । पतत्यधः स निर्घातो जाय
वायुसम्भवः ॥” इति उयो०

शिष्टाचारः ॥ २६ ॥ प्र० ३ खं० ३

“धर्मणाधिगतो वैस्तु वेदः सपरिवृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा द्विपाः श्रु
तिप्रत्यक्षहेतवः ॥” सू०

अद्भुते ॥ ३० ॥ प्र० ३ खं० ३

“प्रकृतिविरुद्धं नद्भुतं मापदः प्राक् प्रयोधाय देवाः सृजन्ति” इत्याथर्वण

अनग्निका ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ४

“नग्निकां तु वदेत् कन्यां यावन्ननुमती भवेत् । ऋतुमती त्वनग्निका, तां
प्रयच्छेत्वनग्निकाम् । १७ अप्राप्ता रजसो गीरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी । अव्य-
ञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका । १८ व्यञ्जनेस्तु सपुत्रपत्नैः सोमो भु-
ञ्जीत कन्यकाम् । पयोधरैस्तु गन्धर्वा, रजसाग्निः प्रकीर्तितः । १९ तस्मादव्य-
ञ्जनोपेता अरजा अपयोधरा । अमुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते ॥”
२० इति ग० सं० २ ।

मनुरपि—“देवदत्तां पतिर्भायां विन्दते नेच्छपात्मनः ।”—७, ८५

विलयनम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ६

“दध्यर्द्धमपित सर्वं तद्वै विलयनं स्मृतम् ।” इति ग० भा० सप्तमखण्डे—

प्रक्रमे ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ७

“संसक्तपदविन्यासस्त्रिपदः प्रक्रमः स्मृतः । स्मार्त्तं कर्मणि सर्वत्र श्रुते
स्वध्वर्युचोदितः ॥” इति ग० भा०

कपालम् ॥ ७ ॥ प्र० ३ खं० ७

“कपालं मृगमयं पात्रं चक्रापटितं मुच्यते । आशुरं चक्रपटितं दैवे पैत्रे
च यजयेत् ॥” इति ग० सं० २ । ७८ भा०

न्यञ्जी पाणी ॥ १७ ॥ प्र० ३ खं० ७

“दक्षिणं यामतो वाह्यं मात्गाभिमुखं मेव च । करं करस्य कुर्वीत करणे
न्यञ्जकर्मणः ॥” क० प्र० २

स्थालीपाकवृतान्यत् ॥ २० ॥ प्र० ३ खं० ७

“स्थालीपाकावृतान्यत्तु यत्र संज्ञा निपात्यते । तत्रान्यभागी हुरवैव सुच
भास्तीर्षांश्चयति ॥” ग० सं० १ । ११५

पृपातके पायसश्चरुः ॥ १ ॥ प्र० ३ खं० ८

“पयो यदाज्यसंयुक्तं तत् पृपातक मुच्यते । दध्येके । तदुपासाद्य कर्त-
व्यः पायसश्चरुः ॥ क० प्र० ३

गोनामभिः ॥ ३ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

“काम्या प्रिया च हव्या च इहा रन्ता सरस्वती । मही विश्रुता चाप्रया
च गोनामानि विदुर्बुधाः ॥” इति गृ० स० २ । ६०

नवयज्ञे ॥ ८ ॥ प्र० ३ खं० ८ ।

“शरद्वसन्तयोः केचिन्नवयज्ञं प्रचक्षते । धान्यपाकवशादन्ये प्रयामाको व-
निनः स्मृतः ॥ आश्वपुज्यां तथा कृष्ट्यां वास्तुकर्मणि याज्ञिकाः । यज्ञार्थतरुवे-
त्तारो होमं मेघं प्रचक्षते ॥” क० प्र० ३

फलवतीम् ॥ ४ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“सफला बदरीशाखा फलवत्यभिधीयते ।” क० प्र० ३

जातशिलासु ॥ ६ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“घना विकसिताशङ्गाः स्मृता जातशिलास्तु ताः ।” क० प्र० ३

स्वस्तरम् ॥ १२ ॥ प्र० ३ खं० ९ ।

“स्वस्तरे सर्वे नासाद्य यथा यदुपयुज्यते । दैवपूर्वं ततः श्राद्धं सत्वरः शुचि-
रारभेत् ॥” क० प्र० २ “पारिभाषिक एव स्यात् कालो गोवाजियज्ञयोः । अन्य
स्यानुपदेशात् स्वस्तरारोहणस्य च गृ० स०

अपूपाम्, त्रैयम्बकप्रमाणान् ॥ ८, १० ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“त्रैयम्बकं करतल मपूपा नगडकाः स्मृताः ।” क० प्र० ३

उल्मुकेन ॥ १८ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“शङ्कारोऽलात मुल्मुकम्”—इत्यमरः २, ९, ३० ।

स्रोतांशंसि ॥ २५ ॥ प्र० ३ खं० १० ।

“सप्त तावन्मुहुंन्यानि तथा स्तनचतुष्टयम् । नाभिः श्रोणिरपानसु गोः स्रो-
तांसि चतुर्दश ॥” क० प्र० ३



सर्वाङ्गेभ्यः ॥ १ ॥ प्र० ४ खं० १ ।

“हृजिज्जाक्रोहसफ्योनि यकृद्दृक्कौ गुदं स्तनाः । श्रोणिः स्कन्धसटा
पार्श्वे पशवङ्गानि प्रचक्षते ॥

एकादशाना गङ्गाना मयदानानि महस्यया । पार्श्वस्य वृषकसक्तोद्य द्वित्वा-
दाहुयस्तुदंश ॥” क० प्र० ३

वृषीम् ॥ १५ ॥ प्र० ४ खं० २ ।

“वृषीं कुर्वाद्दुदहसुखीम्” ०४ सं १ । ३८ काष्ठासनमित्यर्थः । “शङ्कुश्चो-
पवेशश्च द्वादशाङ्गुल इष्यते” ग० सं १ । ८४ । वृष्यपरपर्याय उपवेशः इति
नारायणोपाध्यायः ।

स्थगरम् ॥ १७-२० ॥ प्र० ४ खं० २ ।

“स्थगरं सुरभि क्षेपं चन्दनादि विलेपनम् ।” क० प्र० २ ।

पूर्वस्यां कर्ष्णाम् ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“पुरतो यात्मनः कर्षूः सा पूर्वा परिकीर्त्यते । मध्यमा दक्षिणेनास्पास्त-
दृशिणत उत्तमा ॥ क० प्र० २ ।

एवमेवेतरयोः ॥ ९ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“पितुरुत्तरकध्वन्ते मध्यमे मध्यमस्यं तु । दक्षिणे तत्पितुश्चैव पिण्डान्
पर्यणि नियपेत् ॥” क० प्र० २ ।

पिण्डम् ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

पिण्डप्रमाणं त्याह “पिण्डान् दत्त्वा विलयप्रमाणकान् ।” क० प्र० १

वृद्धिपूर्त्तेषु ॥ ३४ ॥ प्र० ४ खं० ३ ।

“वृद्धिः पुरुषसंस्कारः”-इत्येव महभाष्यम् । “यापीकूपतहागादि देवताय-
तनानि च , अन्नप्रदान मारामाः पूर्त्तं मित्यभिधीयते ॥” जातूकर्णः ।

गोलकानां ॥ २५ प्र० ४ खं० ४ ।

“पालाशा गोलकाश्चैव” क० प्र० ३ ।

परिसमूहेत् ॥ ५ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“कृत्याग्न्यभिमुखी पाणी स्थस्थानस्थी सुचंपती । प्रदक्षिणं तपासीनः कु-
र्वात् परिसमूहनम् ॥” क० प्र० २ ।

वैरूपाक्षः ॥ ६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“विरूपाक्षोऽसि-इति मन्त्रः । म० ब्रा० २, ४, ५

प्रपदः ॥ ७ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“तपश्च तेजश्च”-इति मन्त्र । म० ब्रा० २, ४, ५

अविदासिनि ॥ २६ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“मध्ये स्थण्डिल मन्ते च वारिणा परिसंवृतम् । अविदासिनं हृद् विद्या-
त्तादृशं कर्मणो विदुः ॥” इति ग० स० २-१२

उपतिष्ठेत ॥ २८ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“तदसंसक्तपाणिर्वा एकापादद्वुपादपि । कुपात् कृताञ्जलिर्वापि कर्ध्व-
वाहुरथापि वा ॥” भ० भा० ।

परिविष्यमाणे ॥ २९ ॥ प्र० ४ खं० ५ ।

“वाताद्यैर्मण्डलीभूताः सूर्याचन्द्रमसोः कराः । मालाभाः श्योनि दृश्यन्ते
परिवेपस्तु स स्मृतः ॥—इति भरत-धृत-साहसङ्ग ।

आचितशतकामः ॥ ११ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

“सुवर्णविस्ती हेम्नोऽग्ने कुरुविस्तस्तु तटपले । तुला स्त्रियां पलशतं भाः
स्याद् विंशतिस्तुलाः । आचितो दश भाराः स्युः शाकटो भार आचितः ॥” इति
अमरकोशे २, ९, ८७ ॥

ब्रीहिकांसौदनं, कणान् ॥ १२ ॥ प्र० ४ खं० ६ ।

“द्वीषाः स्यात् कांसमानकः” ब्रीहीणां कांसं ब्रीहिकासम्, तस्य औदनं भक्तं
ब्रीहिकांसौदनम्, तम् । “कञ्जुकाश्च कणाश्चैव फलीकरणकङ्कशाः ।” ग० भा० ॥

अनुपरम्, अमरुपरिहितम्, अकिलिनम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“उर्वरा सर्वसस्याद्या स्याद्रूपः क्षारमृत्तिका । ऊपयानूपरो द्वाघथ्यन्यलिङ्गी
स्थलं स्थली ॥” अ० को० २, १, ५, “किलिनं सजलं प्रोक्तं दूरखातदको मरुः ।” क० प्र० ३

दर्भसम्मितम् ॥ ९ ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

दर्भैः सस्मित माच्छन्नम् । अतएव गृह्यान्तरे,—“यस्मिन् कुशवीरणप्रभूतम्”
शादासम्मितं, मण्डलद्वीपसम्मितम्, सर्वतः ॥ १० ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“शादा चैवेष्टका स्मृता” (क० प्र० ३) । तथा सम्मितं तुल्यं चतुरस्रं निति
यायत् । मण्डलं घर्तुलम् । “द्वीपं मुन्नत माख्यातम्” (क० प्र० ३) । तत्सम्मितं
तत्तुल्यं निति । “दिगाच्च विदिगाश्चैव यत्र नोक्ता विचारणा । सर्वतस्तत्र शब्दीर्ध
विधियोगे निपात्यते ॥” ग० स० १, २६ ॥

इन्द्राय, पितृभ्यः ॥ २६-३३ ॥ प्र० ४ खं० ७ ।

“अमुष्मे नम इत्येधं यनिदानं विधीयते । यनिदानप्रदानार्थं नमस्कारः
कृतो यतः ॥”—इति, “स्वधाकारेण निनयेत् पित्र्यं धलि मतः मदा ।”—इति
च विगेपोपदेशात् “इन्द्राय नमः”—इत्यादि “पितृभ्यः स्वधा”—इति च धीभ्यम् ।

एकाक्षर्याम् ॥ ८ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"आकूतिं देवीं मनमा प्रपद्ये (म० ब्रा० २,६,९)" - इत्येतस्मिन् मन्त्रे "एक
मक्षरम्" - इति दर्शनादय मेव मन्त्र एकाक्षरीति व्यपदिश्यतेऽत्र ।

खदिरशङ्कुशतम् ॥९॥ प्र० ४ ख० ८ ।

"मन्त्र्यः शङ्कुवः कार्यास्तीक्ष्णाग्रा वीतकण्टकाः । ममिह्वलसमंयुक्तः सूची-
तुल्यास्तथायताः॥" क० प्र० २ "शंकुश्रीधोपवेपथ द्वादशाङ्गुल इष्यते" । गृ० सं० १ । ८४

पूर्णहोमः ॥ २१ ॥ प्र० ४ ख० ८ ।

पूर्णहोमं यशसे जुहोमि (म० ब्रा० २,६,११)" - इति पृथंशब्दान्वितमन्त्रेण होमः ।

चीवरम् प्र० ४ ख० ९ ।

"लीहृपूर्णन्तु चीवरम्" क० प्र० ३

कम्बुकान् ॥ ११ ॥ प्र० ४ ख० ९ ।

"फलीकरणाककुगान्" - इति भट्टभाष्यम् । कणान् - इत्येव तन्निष्कर्षार्थे इति
मत्सुहृदः । तुपानित्पेवास्मद्गुरुवचनम् । तदत्रार्थनिर्णये भूमिदेवाः प्रमाणम् ।

संवेशनवेलायाम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ ख० ९ ।

"स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि ।" अ० को० १, ७, ३६

विष्टरम् ॥ ४ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

"ब्रह्मविष्टरयोश्चापि सन्देहे समुपस्थिते । ऊर्ध्वकेशो भवेद् ब्रह्मा लम्ब-
केशस्तु विष्टरः ॥ ८८ ॥ कतिभिस्तु भवेद् ब्रह्मा ? कतिभिर्विष्टरः स्मृतः ? पञ्चाशद्भिः
शुश्रीवन्सा तदर्थेन तु विष्टरः ॥" इति गृ० सं० १ । ८९ ॥ "यज्ञवास्तुनि मुष्ट्याश्च
स्तम्बे दर्भवटौ तथा । दर्भसंख्या न विहिता विष्टरास्तरणेष्वपि ।" क० प्र० १

अपः=पाद्यम् ॥ ७ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

"पादार्यमुदकं पाद्यं केवलं जलमेव तत् । तत्रैतसेन पात्रेण शङ्खेनापि
निवेदयेत् ॥" गृह्यान्तरम् ।

अर्घ्यम् ॥ ११ ॥ प्र० ख० १० ।

"दध्यक्षतसुमनस आपश्चेति चतुष्टयम् । अर्घ्यं एष प्रदातव्यो गृह्ये अर्घ्या-
र्हाः स्मृताः ॥ " गृ० २ । ६२ अष्टाङ्गमर्घ्यलक्षणञ्चैवम्, - "दध्यक्षतसुमनसो घृतं
सिद्धार्णका यथाः । पानीयञ्चैव दर्भाश्च अष्टाङ्गो चार्घ्य उच्यते ॥ " गृ० सं० २,६,३
'कांस्येनैवाहंशीयस्य निनयेदर्घ्यं मञ्जुलौ । " क० प्र० ३

मधुपर्कम् ॥ १३ ॥ प्र० ४ ख० १० ।

"सर्विषा मधुना दध्ना अर्घ्येदहंयन् सदा । ऋषिप्रोक्तेन विधिना मधुपर्कण
पाक्षिकः ॥ ६४ ॥ कसे त्रितय मासिच्य कसेन परिमथ्यतम् । परिश्रितेषु देयः स्या-

न्मधुपर्कं इति ध्रुवम् ॥” ॥५॥ इति गृ० सं० २। “साक्षतं सुमनायुक्त मुदकं द।
युतम्। अर्घ्यं दधिमधुभ्याश्च मधुपर्कं विधीयते। कांस्यापिधानं कांस्यस्य
पर्कं समर्पयेत् । क० प्र० ३ “दधनि पयमि वाथवा कृताच्चे नु तु
दाहुः। दधिमधुसलिलेषु सक्तवः पृथगेति विहितास्त्रयस्तु मन्थाः” इति गृ० सं०
शेषम् ॥ १६ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

पीतावशिष्टम्। नास्योच्छिष्टता; तथाहि—“मधुपर्कं तथा सोमे अण्डु प्रा
हुतीषु च। अनुच्छिष्टो भवेद् विप्रो यथा वेदविदो विदुः ॥६६॥ प्राणाहुतिषु सो
मधुपर्कं तथैव च। आस्यहोमेषु सर्वेषु नोच्छिष्टो भवति द्विजः ॥६७॥—इति गृ० सं०

आचार्यः, ऋत्विक् ॥ २३ ॥ प्र० ४ खं० १० ।

“उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यञ्च त
चार्यं प्रचक्षते ॥” न० सं० २ । १४० “अरन्याधयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्
खान् । यः करोति वृत्तो यस्य स तस्य त्विगिहोच्यते ॥” न० सं० २ । १४३

—००:०—०—०—०:०—

अग्निनामानि (गृ० सं० १ प्र०)

“लौकिकः पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः । अग्निस्तु मारुतो न
गर्भाधाने विधीयते ॥२॥ पुश्रंसवने चान्द्रमसः शुक्लाकर्मणि गोभनः । सीमन्
मङ्गलो नाम प्रागल्भो जातकर्मणि ॥ २ ॥ नाग्निं स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्र
शने च शुचिस्तथा । सभ्यनामाऽथ चूडे तु व्रतादेशे समुद्रवः ॥ ४ ॥ गोदा
सूर्य्यनामा तु केशान्ते ह्यग्निरुच्यते । वैश्वानरो विसर्गे तु धिवाहे योजव
स्मृतः ॥ ५ ॥ चतुर्ष्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे । आवसथ्ये भवो ह्येवं
वैश्वदेवे तु पावकः ॥ ६ ॥ ब्रह्मा वै गार्हपत्ये स्यादीश्वरो दक्षिणे तथा । विष्
राहवनीये तु अग्निहीत्रे त्रयोमयः ॥ ७ ॥ सप्तहोमे तु वह्निः स्यात् कोटिही
हुताशनः । प्रायश्चित्ते विधिश्चैव पाकपक्षे तु साहसः ॥ ८ ॥ देवानां ह्यव्यथा
हस्तु पितृणां कव्यवाहनः । पूर्णाहुत्या सृडो नाम शान्तिके वरदस्तथा ॥ ९ ॥
पौष्टिके बलदश्चैव श्लोघोऽग्निश्चाभिचारके । वश्यार्थे कामदो नाम वनदाहे तु
दूतकः ॥ १० ॥ कोष्ठे तु जठरो नाम क्रव्यादो मृतभक्षणे । समुद्रे वाडवो ह्येव
क्षये संवत्सको भवेत् ॥ ११ ॥ एतेऽग्नयः समाख्याताः आवयेद् ब्राह्मणः सदा
सप्तत्रिंशतिविरुयाता ज्ञातव्याश्च द्विजेन तु ॥ १२ ॥”

इति टीकापरिशिष्टम् समाप्तम् ॥

इति श्रीसामगाचार्यसत्यव्रतसामश्रमिभट्टाचार्यविरचितया 'व्याख्यान'-नाम-
टीकया तत्परिशिष्टेन च समन्वितं क्षत्रिय कुमारीदयनारायणसिंह कृत
भाषानुयादेन च सविद्वत् ।

गोभिलगृह्यसूत्रं समाप्तम् ॥

गोभिलगृह्यसूत्रस्य शुद्धिपत्रम् ॥

श्रु	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१८	कुशाद्यपकर-	कुशाद्युपक-	८८	२६	कारणो	करण
		रणानि	रणानि	८५	२०	काठन	काठने
३	२६	परिसमुच्चो	परिसमुच्चो	८८	१५	(दोपार	(दोपहर
८	५	ऊर्द्धं	ऊर्द्ध्वं	९८	१८	एषीय	ऐषीय
१३	१	सू० १०-२२	सू० १०-२३	१०५	११	हृद्	हृद्
१४	१८	उपने	उठने	११३	१८	अथाहि	अथापि
११	१	सू० २३-३२	सू० २४-३२	११५	८	'वर्षन्त'	'वर्षन्त'
१५	१३	तत्वम्	तरवम्	१२०	८	आचाय	आचार्य
२०	२५	त्रियपवाक्यस्य	त्रियसवाक्यस्य	१२७	२८	सहित्	सवित्
२२	१८	अनुनिधानम्	अनुविधानम्	१२८	१२	ज्वाचीनाः	ज्वाचीनाः
२७	२०	अग्रान्द्य	अग्रान्द्य	१२८	३०	स्फुटयति	स्फुटयति
२८	२८	रुद्रायरमः	रुद्रायनमः	१२८	६	विद्यत्	विद्यत्
३३	२५	सवतः	सर्वतः	१३०	१८	पाठन	पाठन
३८	१५	यजुर्वा	यजुर्वा	१३५	२६	सूर्य	सूर्य
४१	१	पवित्रान्त-	पवित्रान्त-	१४२	२३	सायधानो	सायधानो
		हिता	हितान्	१४५	१८	गोपु	गोपु
४१	१	तण्डुलान्	तण्डुलान्	१४६	१७	तन्त्रो	तन्त्रो
४४	७	केने	केन	१५७	२६	माम	माम
४७	१४	स्विष्टकृते	स्विष्टकृते	१५८	२८	अग्ने	अग्ने
४८	६	अभिष्टवारण	अभिष्टवारण	१६२	२१	अपुपाएक	अपुपाएक
५४	२६	नेमित्तेकेषु	नेमित्तेकेषु	१६४	२७	गौ की	गौ की
५८	५	अगाद्य	अगाद्य	१६६	१	तदव	तदव
५८	१२	अगाधि	अगाधि	१७२	२४	षरु	षरु
१८	१०	गृह्णीयात्	गृह्णीयात्	१७४	१६	यजमानस्य	यजमानस्य
६५	८	नहो	न हो	१८५	१०	तत्रव	तत्रैव
७१	१	ब्रह्मण्य	ब्रह्मण्य	१८६	२३	चहे	चूहे
७७	१५	तपि	पति	१८८	१३	अपेदिति	अपेदिति
७७	३०	अकि	अक्	१८२	२२	मन्तेप	मन्तेपु
७८	३	यद्	यद्य	१८८	१६	मनुपर	मनुपर
७८	५	विचरे	विचरे	२०३	२५	एपि	एपि
८०	३१	कृपात्	कृपात्	२०६	१	एकसरी	एकसरी
				२०८	२०	मुक्	मुक्

आर्यभटीय सटीक सानुवाद । मूल्य १)

महामति पं० आर्यभट्ट कुमुदपुर निवासी ने वेद के अनूकृत ग्रन्थों में यह अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ गाके ४२१ में, बनाया था । इसी पुस्तक पृथिवी का भ्रमण साफ लिखा है । इस की भूमिका में समुद्रमयन, राक्षस आदि पुराणोक्त उपाख्यानों का विचार किया गया है । यह ग्रन्थ आदि हिन्दुस्तान में नहीं छपा था हम ने इस को जर्मन देश से नंगवाकर मूल्य पं० परमेश्वर कृत टीका और भाषानुवाद सहित छपवाया है ॥ मूल्य १

सूर्यसिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका सहित मूल्य

यह ग्रन्थ—सिद्धान्त ज्योतिष के उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्राचीन मान्य है । भारतवर्ष में ज्योतिष के अनुभार पञ्चांग आदि बनने तथा आदि सिद्धान्त ज्योतिष के विषय सम्बन्धी विद्या होने पर—इसी ग्रन्थ प्रामाण्य माना जाता है । आज तक इस अमूल्य ज्योतिष के ऊपर ऐसा विचार नहीं किया गया था । इस की भूमिका के १५० पृष्ठों में प्रायः २ ज्योतिष, आंगरेजी आदि ज्योतिष, वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों से भारत ज्योतिषशास्त्र का गौरव सिद्ध किया गया है । केवल इस एक ही पुस्तक पढ़ने से बिना गुरु प्रायः ज्योतिष के विषयों का ज्ञाता हो सकता है ॥

गौतमीय न्यायशास्त्र सभाष्य सानुवाद—मूल्य ३॥

वेद, उपवेद और वेद के छः अङ्गों के रक्षाधर्म—हमारे ऋषियों ने उपाङ्ग स्वरूप—छः दर्शन शास्त्र रचे हैं । इन दर्शनों में (अपने २ तरीके वेदोक्त सत्य समाप्तन धर्म की युक्ति तथा प्रमाणां से बड़े २ नास्तिक आक्षेपों का उत्तर देकर—हमारे वेदोक्त धर्म की रक्षा किया गयी है । छः दर्शनों में से सब से अधिक हमारे गौतम ऋषि ने चावोंक, बीध, आ जैन आदि मतों का अकाट्य उत्तर दिया है । इस दर्शन में एक बड़ी विशेषता यह है कि इस का ठीक २ सभ्य लेने पर, शास्त्रार्थ वा बहम की र सत्य मालूम हो जाती है और चाहे कितनी भी प्रयत्न नास्तिक क्यों न हो शास्त्र के जानने वाले के सामने नहीं टहर सकता । इस न्याय विद्या "तर्क" मन्तिक या Logic कहते हैं । गौतम मुनिकृत ५३० सूत्रों पर वाटव यन मुनिकृत संस्कृत भाष्य या अत्युम सरल भाषानुवाद, स्थान २ पर उपा टिप्पणी दीयी गयी है । और यह प्रति १३ शुद्ध प्रतियों से मिला कर अतः शुद्ध छापी गयी है । इस में एक और विशेषता है कि इस की भूमिका आग्निह और नास्तिक दर्शनों पर युक्ति और प्रमाणां द्वारा विचार किया गया है और—छः दर्शनों का परस्पर विरोधाभास के धर्म को दूर किया गया

पता—उदयनारायणसिंह—शास्त्रप्रकाश कार्यालय

मधुरापुर, त्रिद्वारपुर, मुजफ्फरपुर